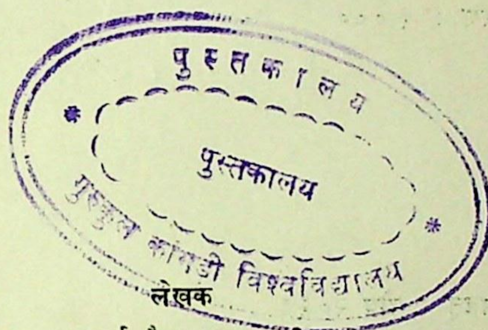
तत्त्वार्थादर्श

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली

ओ३म्

तत्त्वार्थादर्श



लेखक

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

अध्यक्ष,

अनुसंधान-विभाग सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,

नई दिल्ली—१



सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई देहली—१

प्रकाशक :
मंत्री, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान,
नई दिल्ली–१

प्रथम संस्करण : १,०००

विक्रमीय संवत् : पौष २०२३

मूल्य : ५·००

मुद्रक :
भारत मुद्रणालय,
नवीन शाहदरा, दिल्ली ३२

भूमिका

बहुत दिनों से यह आवश्यकता अनुभव की जा रही थी कि जैन-धर्मी विद्वानों द्वारा आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर जो आक्षेप किये गए हैं उनका भी उत्तर दिया जावे। इसका विशेष अनुभव उस समय हुआ जब मैंने 'दयानन्द रहस्य' के उत्तर में 'दयानन्द-सिद्धान्त प्रकाश' पुस्तक लिखी और उसमें "दयानन्द-छल-कपट दर्पण" नामक जैनी लेखक की लिखी पुस्तक का भी प्रसंगतः संक्षेप में उत्तर दिया। कई आर्य विद्वानों ने भी यह विचार प्रकट किया कि यह कार्य किया जाना चाहिए। अतः इस कार्य को करने का निश्चय मैंने किया। समाचारपत्रों में भी सभा की तरफ से यह प्रकाशित किया गया कि जैनधर्मियों द्वारा लिखी गई यदि कोई ऐसी आक्षेपात्मक पुस्तक हो तो वे यहाँ पर भेज दें।

विचार कर निश्चय किया गया कि एक पुस्तक में ही मुख्य सभी पुस्तकों के आक्षेपों का उत्तर दिया जावे। उत्तर देने योग्य मुख्य पुस्तक 'सत्यार्थदर्पण' और 'ईश्वरमीमांसा' समझ पड़े। प्रथम पुस्तक श्री पं० अजित कुमार जैन, शास्त्री द्वारा लिखित है और साहित्य-विभाग, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा से प्रकाशित है। द्वितीय पुस्तक 'ईश्वर मीमांसा' श्री छुल्लक निजानन्द द्वारा लिखित है और चौरासी मथुरा से ही प्रकाशित हुई है। श्री छुल्लक निजानन्द भूतपूर्व स्वामी कर्मानन्द हैं। आर्यसमाज से जैन धर्म में चले जाने पर यह पुस्तक उन्होंने लिखा। इन दोनों पुस्तकों का उत्तर प्रस्तुत पुस्तक 'तत्त्वार्था-दर्श' है।

'सत्यार्थदर्पण' में जो युक्तियाँ दी गई हैं लगभग वही 'ईश्वर मीमांसा' में भी हैं। अतः सब का उत्तर इकट्ठे ही दे दिया गया है। 'सत्यार्थदर्पण' के लेखक ने अशिष्ट भाषा का भी प्रयोग किया है। परन्तु 'तत्त्वार्थादर्श' में शिष्ट भाषा और शैली से मुख्य आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। अशिष्ट भाषा का प्रयोग विद्वान् को शोभा नहीं देता है। न इससे किसी पक्ष की पुष्टि हो सकती है। 'ईश्वर-मीमांसा' में व्यर्थ का पोथा बनाने का प्रयत्न किया गया है और इसकी पूर्ति में जो भी कुछ लेखक को ज्ञात था संग्रह करने का प्रयत्न उसने किया है। चाहे वह प्रासंगिक है वा नहीं। अतः उसकी जो विशेष बातें हैं उन्हीं का उत्तर देना

उचित समझा गया। व्यर्थ का पोथा बनाने-मात्र से कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता है। तत्त्वार्थदर्श में जहाँ इन पुस्तकों के आक्षेपों का उत्तर दिया गया है वहाँ अन्य भी यदि कोई आक्षेप प्राप्त हुए हैं तो उनका भी समाधान कर दिया गया है।

'सत्यार्थप्रकाश' पर आक्षेप-रूप में जो ग्रन्थ लिखे गए हैं उन्हें और आर्य-समाज की ओर से जो उत्तर दिये गए हैं उन्हें देखने के बाद पुस्तक के नामकरण में कठिनाई थी। अतः इस विचार के अनन्तर और विषय की दृष्टि से इसका नाम 'तत्त्वार्थदर्श' रखना उचित जान पड़ा। ईश्वर, जीव, जगत् और वेदज्ञान आदि ऐसे विषय हैं कि जिनका विवेचन तत्त्वविवेचन के अन्तर्गत आता है। अतः यह नाम इस दृष्टि से उचित ही समझा गया।

जिन पुस्तकों का उत्तर यह प्रस्तुत पुस्तक 'तत्त्वार्थदर्श' है उनके समस्त आक्षेपों को क्रमबद्ध और विषयबद्ध करने में वे सभी ईश्वर, जीव, जगत् और वेद के शीर्षक में आ जाते थे। थोड़े-से आक्षेप थे जो इनमें नहीं आते थे। अतः उन्हें प्रकीर्ण शीर्षक से रखा गया और समाधान किया गया। इस प्रकार पुस्तक के पाँच खण्ड बन गए हैं। पुस्तक का अधिकांश भाग दार्शनिक है। विविध आक्षेपों के उत्तर इनमें दार्शनिक ढंग से दिये गए हैं। पुस्तक के पढ़ने से पता चलेगा कि इन विषयों पर कितनी उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की गई है और आर्य-समाज का दर्शन एवं उसका दार्शनिक स्तर क्या है। तर्क का वास्तविक स्वरूप इसमें गोचर होगा। पुस्तक दार्शनिक है अतः विद्वानों के लिए ही हो सकेगी—ऐसा नहीं। यह विद्वान् और जन-साधारण सभी के लाभ की है।

इस प्रकार सार्वदेशिक सभाके गत वार्षिक विवरण में जो योजना इस पुस्तक के विषय में दी थी उसकी पूर्त्ति रूप यह प्रस्तुत पुस्तक 'तत्त्वार्थदर्श' छपकर जनता के हाथों में शीघ्र ही जाने वाला है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी अन्य हिन्दी और अँग्रेजी पुस्तकों का जैसा सम्मान हुआ है इसका भी वैसा ही सम्मान होगा। यह जनता की ज्ञान-पिपासा को बुझाने में भगवान् दयानन्द के सिद्धान्तों और वेद के दर्शन से स्यूत ज्ञानामृत का कार्य करे और इससे मैं ऋषि के ऋण से नैर्ऋण्य का अनुभव कर सकूं—यही आशा रखता हूँ।

सभा के माननीय प्रधान श्री सेठ प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास तथा मंत्री श्री लाला रामगोपाल शालवाले की यह सदा भावना रहती है कि अनुसंधान विभाग से उत्तम कार्य जिस प्रकार हो रहा है, होता रहे। उनका अपने प्रति आदर-सम्मान और व्यवहार, तथा सहयोग पूर्ववत् रहता है। हमारे अनुसंधान विभाग के कार्य में किसी प्रकार की बाधा न आवे इसका सदा इन्हें ध्यान रहता

है। इन्हीं सभी सद्भावनाओं से यह कार्य इस उत्तम रूप में चल रहा है।

पुस्तक की साज-सज्जा, छपाई, आदि की शीघ्र व्यवस्था करने, प्रूफ आदि देखने और मेरे कार्यों को तत्काल पूरा करने में श्री पं० रघुनाथप्रसाद पाठक और श्री पं० प्रेमचन्द्र शर्मा की पूरी तत्परता रहती है। इस प्रकार सभा कार्यालय का पूरा सहयोग रहता है। यह सहयोग-यंत्र सदा ऐसा ही चलता रहे—ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

श्री भारत मुद्रणालय, नवीन शाहदरा, दिल्ली ने पुस्तक को उत्तम ढंग से छापकर पूर्ण करने में जो तत्परता वर्ती वह प्रशंसनीय है।

महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली–१
७.१.६७

वैद्यनाथ शास्त्री
अध्यक्ष,
अनुसंधान विभाग
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

विषयानुक्रमणी

चतुर्थ खण्ड

पंचम खण्ड

ओ३म्

प्रथम खण्ड

ईश्वर

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है

सत्यार्थदर्पण के रचयिता ने ईश्वर के सृष्टिकर्त्ता न होने के विषय में अपने जैन धर्म का विचार प्रस्तुत करते हुए अपने पक्ष की पुष्टि में 'ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है' शीर्षक से अपनी पुस्तक के ११वें पृष्ठ पर कुछ बातें लिखी हैं :—

"जैन धर्म का सिद्धान्त है कि यह संसार अनादिकाल से चला अनन्तकाल तक चला जाएगा अर्थात् इसके प्रारम्भ का और अन्त होने का कोई भी समय नहीं है। इस प्रकार इसका कर्त्ता हर्त्ता कोई भी नहीं हो सकता। जो पदार्थ इसके अन्दर मौजूद हैं वे न तो किसी खास समय में पैदा ही हुए थे और न किसी समय में उनकी सत्ता ही मिट सकती है । हां ! कारणों के अनुसार उनकी हालतें अवश्य बदलती रहती हैं।"

यहां पर लेखक महोदय ने अपनी बुद्धि-चातुरी का प्रकाशन करने का प्रयत्न तो किया है परन्तु वह सफल नहीं हो सकी और अपने शब्दों में ही वे स्वयं पकड़ में आ रहे हैं। नीचे की पंक्तियां इस बात को भली प्रकार सिद्ध कर देंगी। दार्शनिक दृष्टि से जब यह कहा जाता है कि 'ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है' तो इस वाक्य में कुछ विशेष पारिभाषिक और दार्शनिक धारणायें निहित होती हैं। पहली धारणा यह है कि इस सृष्टि का कर्त्ता है। सृष्टि विना कर्त्ता के अथवा अकर्त्तृक नहीं है। दूसरी धारणा इस वाक्य में यह निहित है कि वह

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर ही है अन्य कोई व्यक्ति नहीं। इस वाक्य में ईश्वर, सृष्टि और कर्त्ता--तीनों ही पद पारिभाषिक हैं। इनकी परिभाषायें इतनी व्यापक प्रचार वाली हैं कि इन का प्रयोग इन्ही अर्थों में सर्वसाधारण भी करते आ रहे हैं। इसी प्रकार जब यह वाक्य प्रयोग किया जावेगा कि 'ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है' तो वहां पर भी कुछ विशेष अभिप्राय निहित होना चाहिए। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को वह अभिप्राय बताना चाहिए था। परन्तु उसे तो अपना प्रयोजन येन केन प्रकारेण सिद्ध करना है—वास्तविकता से उसे वास्ता ही क्या है। परन्तु तत्वज्ञ तो बिना ननु नच किए उसकी बात को यों ही स्वीकार नहीं कर लेगा। उसके अनुसार यह प्रश्न खड़ा होगा कि 'ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है' वाक्य से श्रीमन्! आप सृष्टि विना कर्त्ता अकर्त्तृक है बताना चाहते हैं अथवा यह कहना चाहते हैं कि सृष्टि है सकर्त्तृक परन्तु ईश्वर उसका कर्त्ता नहीं है। यदि आप सृष्टि को अकर्त्तृक मानते हैं और यह आप का मन्तव्य है तो फिर 'सृष्टि' पद के अभिप्राय के यह सर्वथा विरुद्ध है। 'सृष्टि' का अर्थ रचना एवं रचित संसारी पदार्थ हैं। रचित विना रचयिता अथवा विना कर्त्ता के ही रचित है--यह सर्वथा ही प्रमाण विरुद्ध और युक्ति के विरुद्ध है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो कृत एवं रचित हो और उसका कर्त्ता एवं रचयिता न हो। यदि आपका आशय है कि सृष्टि सकर्त्तृक है परन्तु ईश्वर उसका रचयिता नहीं तो फिर आप की कोई बात बनती नहीं। क्योंकि जो सृष्टि का सामर्थ्यवान् कर्त्ता है वही ईश्वर है। यदि आप कोई उसकी दूसरी संज्ञा रखते हैं तो केवल शब्द मात्र का भेद होता है वस्तु तत्व का नहीं। साथ ही सृष्टि को सकर्त्तृक मान लेने पर आपके जैन धर्म की सृष्टिविषयक सारी ही आधार शिला अपने आप ढह जाती है।

जैसा पहले व्यक्त किया गया है ईश्वर पारिभाषिक अर्थात् दार्शनिक दृष्टि से परिभाषा का शब्द है। उसकी परिभाषा और उसके नाम एवं, गुण, कर्म और स्वभाव से उसका स्वरूप जाना जाता है।

उसकी परिभाषा सामान्यत: निम्न है :—

(क) जो समस्त जड़-जंगम जगत् का एकमात्र पालक, उत्पन्न-कर्त्ता, निर्माणकर्त्ता है और समस्त भुवनों आदि को जानता है, जो समस्त सृष्टि के पदार्थों का प्रथम नाम रखने वाला और एक ही है तथा सृष्टि सम्बन्धी समस्त पहेलियों का सुलझाव एवं समन्वय जिससे है और जो समस्त सृष्टि में विद्यमान शाश्वत नियमों का पालक अर्थात् 'ऋतस्य गोपा' है वही सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है।

(ख) जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, ज्ञान का सर्वप्रथम प्रकाश और सृष्टि रचना का समन्वय होता है वह ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है।

(ग) जो अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश क्लेशों, इनसे जनित पुण्यापुण्य फल दाता कर्मों और उनके फलों एवं इन सब की वासनाओं से सर्वथा रहित, प्रधान-प्रकृति एवं समस्त बद्ध एवं मुक्त पुरुषों से पृथक् अतिरिक्त पुरुषविशेष है और जिसमें सर्वज्ञता की पराकाष्ठा है, जो काल बन्धन से रहित है, वह ईश्वर है।

(घ) जो समस्त कार्य-कारणात्मक विश्व-पदार्थों, जीवों आदि पर अपना ईशन=शासन रखता है जिसपर किसी अन्य की ईशना नहीं है, जो सदा ऐश्वर्य वाला है और जिसकी कृपा के विना किसी को ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता है, जिसके ऐश्वर्य के समान किसी का ऐश्वर्य नहीं और न जिससे अतिशय ही किसी का ऐश्वर्य एवं जो नित्य निरतिशय ऐश्वर्य वाला है वह ईश्वर है।

(ङ) जीव के कर्मफल की व्यवस्था करने वाला गुण विशिष्ट जीवेतर आत्मा, जिसके विना अन्य कोई जगत् के रचना आदि व्यापार में समर्थ नहीं, ईश्वर है।

(च) जो समस्त सृष्टि पदार्थ एवं प्रजा में ओत-प्रोत एवं विभु है और जो शाश्वती प्रजा जीव के लिए सृष्टि के पदार्थों को याथातथ्यत: एवं यथापूर्व बनाता है। ईश्वर के गुण, कर्म स्वभाव संक्षेप

में निम्न प्रकार हैं :—

वह—सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम सर्वाधार, सर्वेश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता एवं उपास्य है।

उपनिषद् और दर्शन-शास्त्र में पुरुष, ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, प्रणव, ओम् आदि से भी ईश्वर का बोध पाया जाता है। वेद में देवतावाचक पदों से भी ईश्वर का बोध होता है। वेद में ओ३म् ईश्वर का बोधक है। अग्नि, पुरुष, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि पदों से ईश्वर का भी अध्यात्म-प्रक्रिया में बोध होता है। यहां पर यह भी स्मरण रखने योग्य है कि 'ईश्वर मीमांसा' पुस्तक में जैन-धर्मानुयायी श्री छुल्लक निजानन्द ने वेद-पठित देवों का संग्रह कर जो यह दिखाया है कि इनमें कहीं भी ईश्वर का वर्णन नहीं है, वेद की प्रक्रिया और निरुक्त आदि के सर्वथा विपरीत और असंगत है। वेद-पठित देववाचक पदों से प्रकरण और प्रक्रिया के अनुसार परमात्मा का भी ग्रहण होता है। जो नाम दिव्य पदार्थों के हैं वे ही प्रकरणवश ईश्वर के भी हैं। अग्नि, इन्द्र, मित्र, यम, वरुण आदि सभी नामों से परमात्मा का भी ग्रहण होता है। वेद की प्रक्रिया को बिना जाने हुए कोई कुछ भी प्रलाप कर सकता है और अपने सहधर्मियों पर प्रभाव जमाने के लिए व्यर्थ का संग्रह पुस्तक को मोटे काय की बनाने के लिए कर सकता है परन्तु उसका कोई प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इन्द्र आदि परमात्मा के भी नाम हैं, इसके लिए सत्यार्थ-प्रकाश प्रथम समुल्लास, वेदान्त दर्शन प्रथमाध्याय का प्रथम द्वितीय पाद, और हमारी बनाई पुस्तक 'आर्यसिद्धान्त सागर' एवं निरुक्त को देखना चाहिए। पुरुष सूक्त जो वेदों में प्रसिद्ध है तथा यजु: का ४० वां अध्याय तो ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का ही वर्णन करते हैं। फिर यह कहना कि वेदों में कहीं भी ईश्वर का वर्णन नहीं कितना अनर्गल है। दर्शनों और उपनिषदों में जो पुरुष, ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा

आदि से ईश्वर का वर्णन किया वह भी तो वेद से ही लेकर किया है। यदि वेदों में ईश्वर का वर्णन इन पदों से नहीं था तो क्या यह अपने आप कर लिया गया। यह पुद्गल, सप्तभङ्गी और तीर्थङ्कर आदि की भांति अनर्गल एवं निरर्थक कल्पना नहीं है। **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः**–ऋग्वेद, १।१६४।२२ तथा **महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानिभवन्ति।** निरुक्त ७।४ तथा **इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्।** निरुक्त ७।१८ आदि वैदिक और निरुक्त वाक्यों के भावों को विना समझे अपनी तुक लगाना अच्छा नहीं। एक ओर इन वाक्यों को लीजिए और दूसरी ओर छुल्लक जी के इस विचार को कि "वैदिक वाङ्मय में अनेकदैवतवाद है न कि एकदैवतवाद। अतः उपरोक्त सब प्रमाण एकेश्वरवाद की पुष्टि नहीं करते अपितु उसका विरोध करते हैं।" ईश्वर मीमांसा, पृ० १४१। यहां पर दोनों का मिलान करने पर छुल्लक जी के कथन की सारासारता, उनकी वेदज्ञता दोनों का पता अपने आप लग जाता है। आर्य-सिद्धान्त-सागर में वेदों के ईश्वर विषय में और ईश्वर एक ही है--इस विषय में विविध प्रमाण एकत्र कर दिये हैं। विशेष जानकारी के लिए उस पुस्तक को देखा जा सकता है।

श्री छुल्लक जी ने ऋग्वेदीय १।१६४।२२ (इन्द्रं मित्रम्) तथा यजुर्वेदीय ३३।१ (तदेवाग्निस्तदादित्यः) और निरुक्त ७।४ के भी अपनी पुस्तक के पृष्ठ ५३, ५४ पर हवाले दिये हैं। परन्तु आनाकानी करके अपनी अलग लँगड़ी कल्पना खड़ी की और वास्तविक तत्त्व विना समझे अपना आलाप चालू रखा। कोई भी विचारक ऐसा नहीं कर सकता है। उन्होंने जो कुछ भी प्रमाण दिये हैं उनका यह प्रयोजन नहीं कि वास्तविकता को समझा जावे बल्कि केवल मात्र उद्देश्य यह है कि साधारण लोग समझें कि उन्होंने तो प्रमाणों की झड़ी लगा दी है। विचारक तत्वान्वेषी के ऊपर इन प्रमाणों का प्रभाव छुल्लक जी की मानी हुई धारा के सर्वथा विपरीत ही पड़ेगा।

श्री छुल्लक निजानन्द जी (पूर्व स्वामी कर्मानन्द जी) अपनी पुस्तक में पृष्ठ २ पर लिखते हैं--"कुछ विद्वानों का कथन है कि वेदों में ईश्वर शब्द के न होने से क्या है, उनमें सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का अग्नि, प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि शब्दों द्वारा वर्णन तो प्राप्त होता है। उन विद्वानों की सेवा में हमारा इतना ही निवेदन है कि वेदों में एक ईश्वर का नहीं अपितु अनेकदैवतवाद का विधान है।"

छुल्लक जी को बताना चाहिए कि जब एक ईश्वर का वेद में वर्णन नहीं है तो फिर निम्न वाक्यों का क्या अर्थ बनेगा:--

१--एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।--ऋग्वेद १।१६४।२२

२--यो देवानां नामध एक एव।--ऋग्वेद १०।८२।३

३--तदेवाग्निस्तदादित्य···तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।

--यजुः ३२।१

४--न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।--अथर्व १३।५।१६

५--स एष एक एक एकवृदेक एव। अथर्व १३।५।२०।

क्या कोई कह सकता है कि इन मंत्रों में एक ईश्वर का प्रतिपादन नहीं है?

उपर्युक्त सन्दर्भ से यह भी ध्वनित होता है कि कुछ विद्वानों के बहाने छुल्लक जी भी वेद में 'ईश्वर' पद का न होना मानते हैं। परन्तु यह उनकी अनभिज्ञता मात्र है। अथर्ववेद १९।५।४ तथा अन्यत्र भी ईश्वर पद स्वामी एवं ऐश्वर्यवान् के अर्थ में आया है। अथर्व वेद १९।५।४ में बतलाया गया है कि पुरुष=परमेश्वर ही यह सब कुछ है। वही अमृतत्व का ईश्वर=स्वामी है। इस प्रकार ईश्वर पद का प्रयोग वैदिक है। दार्शनिकों ने उसके भाव को देख कर पारिभाषिक बना लिया। थोड़ी देर के लिए दुर्जनतोषन्याय से यह भी हो कि यह शब्द वेद में इस अर्थ में नहीं है तब भी तो दर्शन की दृष्टि से पारिभाषिक पद अपने विशेषार्थ के द्योतन में प्रयुक्त किया ही जा सकता है। दार्शनिक परिभाषा के प्रमा, लिङ्ग आदि अनेक पद हैं जो विशेषार्थों में ही परिभाषावश प्रयुक्त होते हैं। फिर

ईश्वर पद पर ही कौन सी बड़ी आपत्ति खड़ी हो जावेगी। यहां पर अधिक विस्तार में न जाते हुए इतना ही कहना अभिप्रेत है कि 'ईश्वर' पद दार्शनिक परिभाषा का पद है और उसके लक्षण, गुण-कर्म-स्वभाव आदि पूर्वोक्त हैं।

इसी प्रकार सृष्टि पद भी दार्शनिक परिभाषा का पद है। यह सृज् धातु से संपन्न होता है। इसका प्रसिद्ध लक्षण तो उत्पत्त्यनुकूल व्यापार-विशेष है। यह व्यापार दो प्रकार का है। एक जगत् की उत्पत्ति में ईश्वरेच्छारूप व्यापार और दूसरा घटादि की उत्पत्ति में कुलादि के कर्म आदि। सृष्टि का दूसरा भाव सृष्ट पदार्थ भी है। अनादि नित्यस्वरूप सत्व, रजस् और तमस गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति से प्रकट जो सूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्वावयव तन्मात्रारूप में विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम ही जो संयोगारंभ है तथा संयोग-विशेषों से अवस्थान्तर को प्राप्त हो सूक्ष्म स्थूल बनते-बनाते जो विचित्ररूप बनी है वह सर्ग होने से सृष्टि है। सांख्य दर्शन की परिभाषा में इसी बात को भिन्न प्रकार से कहा गया है। अर्थात् राग=गुणों और विराग=पुरुष=जीव का भोगार्थ जिसमें योग होता है वह सृष्टि है। यह सृष्टि स्वेदज, उद्भिज, अण्डज, जरायुज, सांकल्पिक और सांसिद्धिक भेद से छः प्रकार की है। योग की दृष्टि से यह सृष्टि दृश्य है। अतः भोग और अपवर्ग के प्रयोजन वाला यह दृश्य जगत् ही सृष्टि है। इसको सर्ग भी कहा जाता है। सर्ग पद भी सृज् धातु से समुत्पन्न है।

'कर्त्ता' पद भी पारिभाषिक है। क्रिया के अनुकूल कृति वाला कर्त्ता है। कर्त्ता स्वतंत्र होता है। कर्त्तृत्व कर्त्ता में पाया जाता है। कृतिमत्त्व और कर्त्तृत्व कर्त्ता को प्रकट करते हैं। कर्त्ता किसी भी प्रकार कृतियत्त्व एवं कर्त्तृत्व से रिक्त नहीं हो सकता है। कर्त्तृत्व का लक्षण भी दर्शनशास्त्र में उपलब्ध है। वह इस प्रकार है। उपादान कारण में गोचर होने वाले परोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा और कृति से युक्तता का नाम कर्तृत्व है, अथवा दूसरे

कारकों के द्वारा जो प्रयोग न हो सके ऐसा समस्त कारकों का प्रयोक्तृत्व ही कर्तृत्व है। यहां पर यह दिखलाया गया कि 'ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है' वाक्य में ईश्वर, सृष्टि और कर्त्ता तीनों ही पद पारिभाषिक हैं। अतः इनका अपना विशेषार्थ है। उस विशेषार्थ को विना जाने इसका प्रयोग करने में प्रयोगकर्त्ता की अपनी योग्यता का पता चल जाता है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता के लिए यह शीर्षक बहुत महँगा पड़ेगा। यह उसके पक्ष का पोषक न होकर उसके पक्ष का दूषक ही होगा।

१—सत्यार्थदर्पण के लेखक का वाक्य पूर्व उद्धृत किया गया है। इस वाक्य में लेखक ने लिखा है कि "यह संसार अनादि काल से चला और अनन्त काल तक चला जायगा, अर्थात् इसके प्रारम्भ का और अन्त होने का कोई भी समय नहीं है"। लेखक की सारी चतुराई पर उसका 'संसार' शब्द पानी फेर देता है। इस सृष्टि को 'संसार' कहा जावे अथवा जगत् कहा जावे, दोनों ही अवस्थाओं में इसका अनादि अनन्त होना सिद्ध नहीं होता है। 'संसार' शब्द सम् उपसर्गपूर्वक 'सृ' गत्यर्थक धातु से बनता है। जिसका अर्थ है गतिवाला। 'जगत्' पद भी गतिवाला ही अर्थ देता है। जब लेखक महोदय 'संसार' पद का प्रयोग कर रहे हैं तो उन्हें समझना चाहिए था कि 'संसार' गतिवाला है तो फिर उसमें किस प्रकार की गति है। यह गति उसमें स्वाभाविक है अथवा नैमित्तिक। यदि स्वाभाविक है तो कहना पड़ेगा कि यह प्रत्यक्ष और विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है। विभिन्न प्रकार की गतियाँ जगत् में देखी जाती हैं। प्रकाश में फैलाव है। अग्नि का उर्ध्व गमन है और जल का अधोगमन है। वायु की तिर्यक् गति है। आकाश में आकुञ्चन और प्रवेशन पाया जाता है। पृथ्वी में खूँटा गाड़ने पर संकोच और मिट्टी का लोहा बनाकर फैलाने पर प्रसारण पाया जाता है। परन्तु पानी में उर्ध्वगति न होने पर ऊपर दबाव द्वारा ले जाया जाता है और सूर्य के ताप से पानी ऊपर वाष्प रूप में मेघ बनता है। अग्नि

भी निमित्त से नीचे की ओर आता है। इस प्रकार इन पदार्थों का जब दूसरे निमित्तों से सम्बन्ध होता है तो गति में भिन्नता दिखाई देती है। जब जगत् वा संसार के अवयवभूत प्रत्येक पदार्थ में प्रत्यक्ष में गति का भेद और समन्वयन एवं परिवर्त्तन, परिवर्धन देखा जाता है और वह नैमित्तिक होने से स्वाभाविक नहीं हैं तो फिर किस प्रकार जगत् की गति को स्वाभाविक कहा जा सकता है। अगर संसार में अपनी गति स्वाभाविक होती तो संसार के किसी पदार्थ का प्रयोग न हो सकता। विज्ञान के अनुसार गति को हम चार प्रकारों में बाँट सकते हैं। जो निम्न प्रकार हैं--

१--जो तत्व को प्रभावित करती है। अर्थात् प्रारम्भ और क्षय।

२--जो गुण पर प्रभाव डालती है अथवा गुण-परिवर्त्तन वा परिणाम।

३--जो परिमाण पर प्रभाव डालती है अर्थात् परिवर्धन वा न्यूनीकरण।

४--दैशिक गति वा स्थान-परिवर्त्तन।

इन चारों गतियों में से किसी को भी विश्व में देखा जा सकता है। इनके होते हुए संसार में गति को स्वाभाविक कहकर अनादि और अनन्त उसे नहीं कहा जा सकता है।

यदि संसार में गति को नैमित्तिक माना जावे तो फिर उसका निमित्त भी ढूंढ़ना पड़ेगा। जो उसका निमित्त है वही ईश्वर है। ऐसा मानने पर ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता भी मान लेना पड़ेगा और संसार को अनादि अनन्त भी नहीं कहा जा सकता। सत्यार्थदर्पण के रचयिता को इस प्रकार कहीं पर ठहरने का स्थान नहीं मिलेगा।

इसके अतिरिक्त संसार में एक गति जो प्रतिपल अनुभूत हो रही है वह परिणाम है। यह परिणाम परिवर्त्तन है। धर्मी कारण में धर्म अर्थात् कार्य का परिणाम होता है। कार्य में पुनः लक्षण परिणाम होता है और पुनः अवस्था परिणाम होता है। घड़ा जब

बनता है तब मिट्टी में धर्मपरिणाम होकर वह एक आकार में आता है। अब यह घड़ा हो जाने पर यह घड़े के रूप में अर्थात् घड़े के लक्षण में आ गया। इसके अनन्तर इसमें अब नया, पुराना आदि व्यवहार होता है, यह अवस्था परिणाम है। संसार की प्रत्येक वस्तु में लक्षण और अवस्था आदि का परिवर्त्तन दिखाई दे रहा है। सूर्य आदि पदार्थों में भी ये दोनों परिणाम उनके धर्मान्तर-परिणाम एवं कारण से उत्पन्न कार्य होने की सिद्धि कर रहे हैं। इन परिणामों के होते हुए संसार को असृष्ट और अनादि अनन्त कहना समझ एवं बुद्धि के साथ उपहास करना है।

यहाँ पर एक विशेष बात और भी ध्यान देने की है और वह यह है कि संसार पद भी दार्शनिक परिभाषा का शब्द है। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान का जो चक्र है इसे संसार कहा जाता है। न्यायवार्त्तिककार ने इस विषयक गौतमीय सूत्र के भाष्य पर वार्त्तिक लिखते हुए कहा है कि "दुःख, जन्म आदि का कार्यकारण भाव-संसार है। वह प्रवाह रूप से अनादि है क्योंकि इसमें पूर्वापर काल का नियम नहीं पाया जाता है। अतः दुःख से लेकर मिथ्याज्ञान पर्यन्त कहे गए दुःख, जन्म आदि निरन्तर वर्तमान रहते हुए संसार कहे जाते हैं।" इसी प्रकार अक्षपाद दर्शन के प्रकरण में सर्वदर्शन संग्रह में भी यह लिखा है कि मिथ्याज्ञान से लेकर दुःखान्त की निरन्तर प्रवाहिता ही संसार शब्द का अर्थ है।

इससे यह स्वयं स्पष्ट है कि संसार भी एक दार्शनिक परिभाषा है। प्रवाहरूप में तो इसकी अनादिता है परन्तु यह अनादि और अनन्त नहीं कहा जा सकता है। संसार में दुःख देखा जाता है। दुःख जन्म से है। जन्म का कारण प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति दोष=राग द्वेष से उत्पन्न होती है। इसका भी कारण मिथ्याज्ञान है। इस प्रकार इसका प्रवाह बराबर चलता रहता है। यह ही संसार कहा जाता है। आत्मा भोक्ता है। उसको अपने शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख आदि के विषय में अनेक

प्रकार का मिथ्याज्ञान होता है। जब तक वह मिथ्याज्ञान बना रहता है उसे अपवर्ग नहीं मिलता और संसार में विविध भोगों के भोग उसके लिए बने रहते हैं। जन्म और मरण के प्रवाह का नाम संसार है। जन्म-मरण के प्रवाह वाला संसार है और इसी का नामान्तर प्रेत्यभाव भी है। संसार की अनेक प्रकार की दार्शनिक परिभाषाएं शास्त्रों में पाई जाती हैं। ये सभी एक प्रवाह का प्रकटीकरण तो करती हैं परन्तु जगत् की अनाद्यन्तता नहीं सिद्ध करती हैं।

यहां एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि संसार वा जगत् जड़ और जंगम भेद वाला है। यदि यह अनाद्यनन्त है तो प्रश्न पुनः उठेगा कि दोनों प्रकार का संसार अनादि अनन्त है वा कोई एक ही। यदि दोनों प्रकार का संसार अनादि अनन्त है तो फिर चेतन जीव जो बन्धन में हैं और बृहत्काय तीर्थंकर आदिकों के साथ जड़ का सम्बन्ध वा संयोग किस प्रकार हुआ ? क्या यह संयोग भी अनन्त है अथवा इसका कोई कारण है ? चेतनों के शरीर आदि में कोई भी अनादि अनन्त होने की बात दिखलाई नहीं पड़ती है। इन्हें अनादि अनन्त कहना प्रत्यक्ष का विरोध है। जड़ जगत् को यदि अनादि अनन्त कहा जावे तो भी प्रत्यक्ष का विरोध है। जड़ जगत् के साथ यदि जीवों का सम्बन्ध अनादि काल और अनन्त काल वाला है तो फिर इस संयोग का कभी विच्छेद हो ही नहीं सकता है। अनादि अनन्त का कभी विनाश नहीं हो सकता। यदि इस संयोग का कोई कारण है तो फिर यह अनादि अनन्त नहीं ठहरता। शरीर इन्द्रिय आदि के साथ जीवों का सम्बन्ध भी देखा जाता है और मृत्यु के साथ वियोग भी। यह प्रत्यक्षदृष्ट है। इसे अनादि और अनन्त तो कहा नहीं जा सकता है—यदि कोई कहे भी तो वह ज्ञानशून्य ही कहा जावेगा। जब यह संयोग-वियोग अनाद्यनन्त नहीं तो फिर इनका कारण बताना पड़ेगा। इन का कारण मिथ्याज्ञान माना जाता है। यदि मिथ्याज्ञान अनाद्यनन्त है तो यह सम्बन्ध आदि भी अनन्त बना रहना चाहिए परन्तु ऐसा है नहीं। यदि मिथ्याज्ञान अनाद्यनन्त नहीं

तो मिथ्याज्ञान के विषय और उससे जन्य संयोग आदि अनादि और अनन्त किस प्रकार हो सकते हैं। अतः यह कहना पड़ेगा कि सत्यार्थ दर्पन के कर्त्ता का 'संसार' पद प्रयोग और उसे अनादि अनन्त कहना--सामंजस्यपूर्ण नहीं और ये उसके पक्ष को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। संसार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय वाला है। प्रवाहरूप से वह अनादि है।

(२) सत्यार्थदर्पण के लेखक की परस्पर विरोधी बातें उसके अपने वाक्य में ही दिखाई दे रही हैं। पूर्व लिखे गए वाक्य में ही उनके वाक्य की निचली पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—"जो पदार्थ इसके अन्दर मौजूद हैं वे न तो किसी खास समय में पैदा ही हुए थे और न किसी समय में उनकी सत्ता ही मिट सकती है। हां! कारणों के अनुसार उनकी हालतें अवश्य बदलती रहती हैं।" इन महानुभाव से पूछना चाहिए कि संसार के समस्त पदार्थ अनादि अनन्त हैं और न कभी पैदा हुए और न विनष्ट होते हैं तो फिर कारणों के अनुसार उनकी हालतों का बदलना क्या वस्तु है ? क्या यह वदतो व्याघात नहीं है ? अब देखना यह चाहिए कि कारणों के अनुसार हालतों का बदलना क्या है। संसार में कारणों के अनुसार जो हालतें बदलेंगी वे कार्य ही कहलावेंगी। मिट्टी कारण से यदि घटरूप कार्य की हालत परिवर्तन से उपस्थित होती है तो क्या यह उत्पत्ति नहीं है। इसी प्रकार यदि घटरूप कार्य की हालत बिगड़ कर मिट्टी के रूप में ठीकरे आदि के क्रम से हो जाती है तो क्या यह विनाश नहीं है ? । उपादान कारण का कार्यरूप में परिवर्त्तन होना उत्पत्ति है और पुनः कार्य का अपने उपादान कारण के रूप में परिवर्त्तित होना विनाश है। इसी प्रकार समस्त संसार के उपादान कारण प्रकृति का अपनी अवस्था अर्थात् साम्यावस्था में रहना प्रलय है और विषमावस्था में आना संसार वा सृष्टि है। प्रकृति के सत्व, रजस् और तमस्--तीनों गुण जब साम्यावस्था में रहते हैं तब प्रकृति अपनी अवस्था अथवा कारणावस्था में रहती है और यही प्रलय की

अवस्था है। जब प्रकृति के तीनों गुण विषमावस्था में होते हैं तब विकार की वा परिवर्त्तन की अवस्था होती है और यही संसार वा सृष्टि की अवस्था है।

पदार्थों की हालतों में कारणों के अनुसार परिवर्त्तन के तीन प्रकार स्वीकार किये जाते हैं। वे हैं--परिणाम-नियम, आरंभक-नियम और विवर्त्त-नियम। परिणाम-नियम में कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता हुआ कार्य अपने वर्तमान रूप में अभिव्यक्त होता है। जैसे मिट्टी में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता हुआ घट कार्य अपने वर्तमान घटरूप में आता है। यही कारण है कि तिल से तो तेल निकलता है रेत से नहीं। दूध से तो दही बनता है पानी से नहीं। आरम्भक नियम के अनुसार कारण के परमाणु अपने कार्य पदार्थ का आरम्भ करते हैं। वह द्व्यणुक आदि के क्रम से स्थूल होता कार्य-रूप में आता है। इसमें यह नियम है कि कारण के गुण कार्य में किसी न किसी रूप में अवश्य आते हैं। यही कारण है कि आम के बीज से आम और नीम के बीज से नीम ही उत्पन्न होते हैं--विप-रीत नहीं। परिणामवाद और आरम्भकवाद दोनों में एकता है। केवल प्रक्रिया का भेद है। तीसरा विवर्त्तवाद है जो नवीन वेदान्तियों की अपनी कोरी कल्पना है। इसके अनुसार कोई वस्तु अपने से दूसरे रूप में भासित होने लगती है। यथा रस्सी सांप के रूप में दिखाई पड़ने लगती है। परन्तु इसमें दोष यह है कि इस प्रक्रिया में कारण-कार्य का नियम नहीं बन सकता है। रस्सी कारण को न तो सर्प कार्य का कारण कहा जा सकता है और न सर्प कार्य को रस्सी कारण का कार्य ही कहा जा सकता है। विवर्त्तवाद दार्शनिक प्रक्रिया नहीं।

अब प्रश्न यह है कि संसार के पदार्थों में कारणानुसार हालतों का परिवर्त्तन सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता परिणामवाद के नियम से मानते हैं अथवा आरम्भकवाद के नियम से। दोनों नियमों से मानने पर संसार के पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश मानने पड़ेंगे। तीसरे

नियम से कारण और कार्य की व्यवस्था ही नहीं बनती फिर परि-वर्त्तन क्या होगा। सर्प रस्सी की हालत में परिवर्त्तन नहीं है बल्कि रस्सी की भांति ही एक स्वतंत्र पृथक् पदार्थ है। दोनों न तो एक-दूसरे के कारण वा कार्य हैं और न एक-दूसरे की हालत में परिवर्त्तन ही हैं।

नाश होना वा प्रलय होना सत्ता का मिटना नहीं है। अपने उपादान कारण में कार्य का अदर्शन होना अथवा लय होना ही नाश अथवा प्रलय है। इससे पदार्थ का अभाव नहीं हो जाता है। सत्यार्थ-दर्पण के लेखक का यह कहना कि "और न किसी समय में उनकी सत्ता ही मिट सकती है" कितना भ्रमपूर्ण है। पदार्थ की सत्ता तो प्रलय वा विनाश में भी नहीं मिटती है। क्या लेखक यह समझता है कि प्रलय में पदार्थों की सत्ता मिट कर उनका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्या ऐसा लिखकर अन्तस्तल से छिपे तौर पर वह संसार के प्रलय की बात को स्वीकार नहीं कर रहा है? एक ही वाक्य में परस्पर विरोधी बातों को लिखकर वह मालूम होता है अपने माने हुए 'सप्तभंगी-नय' का अभ्यास कर रहा है। परन्तु यह ज्ञात होना चाहिए कि जब 'सप्तभंगी-नय' ही नहीं खड़ा हो सकता है तो उसका यह वदतो व्याघात उसके आधार पर किस प्रकार खड़ा हो सकेगा। यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी कारणों के अनुसार हालतों का परिवर्त्तन ही है।

(३) जिन संसारवर्ती पदार्थों को सत्यार्थदर्पण के लेखक अनादि अनन्त कह रहे हैं और यह मान रहे हैं कि वे कभी बने नहीं और कभी भी विनष्ट नहीं होंगे--क्या उनमें अवयव हैं? क्या वे सावयव हैं अथवा क्या निरवयव हैं। यदि वे अवयव वाले अर्थात् सावयव हैं तो यह निश्चित है कि सावयव होने से पूर्व निरवयव अर्थात् अवयव मात्र रहे होंगे। ऐसी अवस्था में वे अनादि अनन्त नहीं हो सकते हैं क्योंकि कोई भी सावयव पदार्थ अनादि और अनन्त

नहीं होता है। जिस प्रकार घट आदि सावयव होने से अनादि अनन्त नहीं। यदि वे निरवयव हैं तो कहना पड़ेगा कि वे अवयव मात्र हैं। यह बात प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध है और साथ ही यह भी बतलाना पड़ेगा कि यदि ये निरवयव अवयव मात्र हैं तो किसके अवयव हैं? अगर ये अवयव हैं तो अवयवी कितना बड़ा होगा। प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि मिट्टी का एक ढेला सावयव है और वह चूर-चूर करने पर टूट जाता है। इसी प्रकार सोने, पत्थर आदि के टुकड़े भी भस्म करके अथवा कूटकर चूर किये जा सकते हैं। जब ये अनादि अनन्त नहीं तो जिन पृथ्वी आदि के टुकड़े हैं वे अनादि अनन्त कैसे हो सकते हैं। जिन वस्तुओं का एक अंश आदि अन्त वाला है वे समूची वस्तुएं भी आदि अन्त वाली ही होंगी। यदि एक ढेला आदि और अन्त वाला है तो निश्चित है कि समूची पृथ्वी भी आदि अन्त वाली है। संसार के पृथ्वी, मेघ, सूर्य आदि पदार्थों के एक अंग की आद्यन्तता उनके समूचे अङ्गी की आद्यन्तता को सिद्ध करती है। यदि ये सब पदार्थ अनाद्यनन्त होते तो इनके किसी अङ्ग की भी आदिता और विनश्वरता नहीं होनी चाहिए थी--परन्तु ऐसा है नहीं। नियम यह है कि कोई भी सावयव पदार्थ अनादि और अनन्त नहीं हो सकता है।

यहां एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि संसार के पदार्थ यदि अनादि अनन्त हैं तो वे देश की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं, अथवा काल की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं। यदि प्रथम पक्ष माना जावे कि वे देश की अपेक्षा से अनादि एवं अनन्त हैं तो प्रत्यक्ष के साथ सर्वथा ही विरोध होगा। क्योंकि संसार के पृथिवी, सूर्य आदि पदार्थ मूर्त्त एवं स्थूल हैं। कोई भी साकृति एवं मूर्त्त पदार्थ देशकृत कटाव से बच नहीं सकता है अतः वह देश की अपेक्षा अनाद्यनन्त नहीं हो सकता है। यदि काल की अपेक्षा अनाद्यनन्त माना जावे तब भी ठीक नहीं। पृथिवी, सूर्य आदि सभी संसारी पदार्थ सावयव हैं और सावयव होने से कार्य हैं। कार्य पदार्थ काल के परिच्छेद से रहित

नहीं हो सकता है अतः ये काल की अपेक्षा अनाद्यनन्त नहीं ठहर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त संसार के पदार्थों के विषय में एक प्रश्न यह भी उठता है कि उनमें सामंजस्य, एवं उनकी तरतीब में ज्ञानपूर्वक नियम है वा नहीं। यदि है तो उन्हें अनाद्यनन्त कहना दुःसाहस मात्र है। क्योंकि यह उनका अपना गुण नहीं—दूसरे के द्वारा यह उनमें पाया जाता है। वह दूसरा पदार्थ ईश्वर है जो ज्ञानपूर्वक नियम में उन्हें नियंत्रित किए हुए है। वही इन्हें बनाता भी है और समय पर विनष्ट भी करता है। फिर ये अनाद्यनन्त किस प्रकार हो सकते हैं। यदि इन पदार्थों में तरतीब ज्ञानपूर्वक नहीं है तो फिर अस्तव्यस्त न होने का कारण क्या है ?

यहीं पर एक विचार यह भी उठता है कि संसार के पदार्थों में यथापूर्वता एवं याथातथ्य है वा नहीं। यदि इनमें यथापूर्वता है और याथातथ्य है तो फिर इन्हें आद्यन्त वाला ही मानना पड़ेगा। यदि यथापूर्वता और याथातथ्य इनमें नहीं है तो फिर इनमें अन्धेर और अन्धाधुन्धता माननी पड़ेगी जो स्यात् सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता के अतिरिक्त और कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकेगा। वस्तुतः जगत् में नियम है, सामंजस्य है, उद्देश्य है और ज्ञानपूर्वक तरतीब है।

संसार के पदार्थों को अनाद्यनन्त मानना अवैज्ञानिक भी है। विज्ञान ताप के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। प्रत्येक पदार्थ में एक दर्जे का ताप है। जब तक वह कायम है तब तक पदार्थ अपने स्वरूप में रहेगा। परन्तु जब ताप समाप्त हो जावेगा तब पदार्थ प्रलय को प्राप्त हो जावेगा। यह क्लेसियस के द्वारा प्रतिपादित ताप का नियम है।

स्वयं सूर्य जो प्रकाश और गर्मी का पुँज है उससे भी गर्मी प्रति-क्षण क्षीण होती जा रही है। ऐसा भी समय आवेगा जब गर्मी पूर्णतः समाप्त हो जावेगी। उस अवस्था में यह प्रलय को प्राप्त

हो जावेगा। अब लेखक महोदय से पूछना चाहिए कि संसार के सूर्य आदि पदार्थों की अनाद्यनन्तता किस प्रकार सिद्ध है ?

(४) सत्यार्थदर्पण के रचयिता जिस संसार एवं सृष्टि का वर्णन कर रहे हैं उसमें सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय भेद से दो प्रकार हैं। पृथिवी, जल, वायु, सूर्य, नदी, पहाड़ आदि भौतिक सृष्टि है और जड़ है। परन्तु पशु, पक्षी, कृमि, कीट एवं मनुष्यादि की सृष्टि चेतन है। चेतनों के शरीर, इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति भी देखी जाती है और विनाश भी देखा जाता है। इन शरीरों का प्रतिदिन उत्पन्न होना और विनष्ट होना प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। फिर भी यह कहना कि संसार के पदार्थों का कभी आदि और अन्त नहीं होता है, कितनी विचित्र बात है। क्या यह प्रत्यक्ष ही विद्या का विरोध नहीं है। जब चेतनों के शरीरों के उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष गोचर हो रहे हैं तो फिर जैनधर्म के इस सिद्धान्त के लिए कि संसार का प्रत्येक पदार्थ अनादि और अनन्त है कोई ठहरने का स्थान ही नहीं रह जाता है। जो जैनधर्म को नहीं मानते हैं उन्हीं के शरीर उत्पन्न और नष्ट होते हों यह भी बात नहीं। जैन-धर्मानुयायियों के शरीरों की भी यही स्थिति है। इसे देखते हुए भी संसार को अनाद्यनन्त कहना स्वयं अपनी बुद्धि का उपहास करना है।

सत्यार्थदर्पण के रचयिता के धर्मशास्त्रों में वर्णित बातों को यहां पर दिखाकर ही उसकी आपत्तियों का उत्तर देना अधिक उपयुक्त होगा। जैनधर्म की पुस्तक 'रत्नसार' भाग दो में जैन तीर्थङ्करों के शरीर का मान और उनका आयुष्यमान लिखा है। शरीर के मान के लिए धनुष का मापदण्ड प्रयुक्त किया गया है जो अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का माना जाता है। इसी प्रकार इन तीर्थङ्करों की आयु पूर्वों में बताई गई है। रत्नसार ग्रन्थ के अनुसार पूर्व की व्याख्या इस प्रकार है--

समय का नाम सूक्ष्म काल है। असंख्यात समयों की एक 'आवलि' होती है। एक करोड़ सड़सठ लाख सत्तर सहस्र दो सौ

सोलह आवलियों का एक मुहूर्त्त होता है। ऐसे ही तीस मुहूर्त्तों का एक दिवस तथा इसी प्रकार के १५ दिवसों का एक पक्ष और ऐसे दो पक्षों का एक मास होता है। ऐसे १२ मासों का एक वर्ष होता है ऐसे सत्तरलाख क्रोड़ छप्पन सहस्त्र क्रोड़ वर्षों का एक 'पूर्व' होता है।

इस प्रकार 'पूर्व' की परिभाषा जैनी लोग मानते हैं। इसके अनुसार नीचे तीर्थङ्करों के शरीरमान और आयुमान की एक तालिका प्रस्तुत की जाती है जिससे वस्तुस्थिति सरलता से स्पष्ट की जा सके:-

तीर्थङ्कर का नाम	धनुषमान से शरीर की लम्बाई	आयु पूर्वों में	आयु वर्षों में
श्री ऋषभदेव	५०० धनुष	८४ लाख पूर्व	५९२७०४०००००००००००००००
,, अजितनाथ	४५० ,,	७२ ,, ,,	५०८०३२०००००००००००००००
,, संभवनाथ	४०० ,,	६० ,, ,,	४२४३६००००००००००००००००
,, अभिनन्दन	३५० ,,	५० ,, ,,	३५२८०००००००००००००००००
,, सुमतिनाथ	३०० ,,	४० ,, ,,	२८२२४००००००००००००००००
,, पद्मप्रभ	१४० ,,	३० ,, ,,	२११६८००००००००००००००००
,, सुपार्श्वनाथ	२०० ,,	२० ,, ,,	१४११२००००००००००००००००
,, चन्द्रप्रभ	१५० ,,	१० ,, ,,	७०५६०००००००००००००००००
,, सुविधिनाथ	१०० ,,	२ ,, ,,	१४११२०००००००००००००००
,, शीतलनाथ	९० ,,	१ ,, ,,	७०५६०००००००००००००००
,, श्रेयांसनाथ	८० ,,	८४ ,, ,,	८४ लाख
,, वासुपूज्य स्वामी	७० ,,	७२ ,, ,,	७२ ,,
,, विमलनाथ	६० ,,	६० ,, ,,	६० ,,
,, अनन्तनाथ	५० ,,	३० ,, ,,	३० ,,
,, धर्मनाथ	४५ ,,	१० ,, ,,	१० ,,
,, शान्तिनाथ	४० ,,	१ ,, ,,	१ ,,
,, कंथुनाथ	३५ ,,	९४ ,, ,,	९५ सहस्त्र वर्ष
,, अनन्तनाथ	३० ,,		८४ ,, ,,
,, मल्लीनाथ	२५ ,,		५५ ,, ,,
,, मुनिव्रत	२० ,,		३० ,, ,,
,, नमिनाथ	१४ ,,		१० ,, ,,
,, नेमिनाथ	१० ,,		१ ,, ,,
,, पार्श्वनाथ	९ हाथ का शरीर		१०० वर्षों की आयु
,, महावीर स्वामी	७ हाथ का शरीर		७२ वर्षों की आयु

यहां तीर्थङ्करों के शरीर की लम्बाई और आयु का मान बताया गया। इसको देखकर कौन बुद्धिमान् इन सब बातों को गप्प नहीं कह उठेगा। अर्थात् सभी इसे श्वेत झूठ कहेंगे। इनमें सत्यता का कहीं भी नाम नहीं। इतनी लम्बी आयु और इतना लम्बा शरीर असंभव नहीं तो और क्या है? जिस प्रकार इन असंभव बातों को जैनधर्म मान रहा है वैसे ही उसकी एक असंभव कल्पना यह भी है कि संसार के सभी पदार्थ अनाद्यनन्त हैं। यहाँ पर इस तालिका में शरीर परिमाण और आयु की बराबर न्यूनता होती आई है। क्या यही अनाद्यनन्त की स्थिति है? इतने लम्बे और इतनी आयु वाले ये तीर्थङ्कर, यदि संसार के सब पदार्थ अनाद्यनन्त हैं तो कहाँ चले गए। १०० वर्ष और ७२ वर्ष की आयु क्यों हो गई? क्या यह भी अनाद्यनन्त की ही निशानी है? कहना पड़ेगा कि जैसे ये सारी बातें गप्प हैं वैसे ही संसार की अनाद्यनन्तता के विषय में भी समझना चाहिए।

एक ओर तो सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की तर्कबुद्धि रखी जावे और दूसरी ओर जैनशास्त्र की गप्पों को रख दिया जावे—स्वयं पता चल जावेगा कि उनकी तर्क में कितनी क्षमता है और उनके विचारों में कितनी तर्कसंगतता है। रत्नसार ग्रन्थ के अनुसार दो इन्द्रिय वाले जीवों (अर्थात् एक उनका शरीर और एक उनका मुख) शंख, कौडी, जूँ का देहमान अधिक से अधिक ४८ कोश का होता है। बिच्छू और मक्खी आदि का शरीर एक योजन का होता है। योजन की परिभाषा कम से कम ४ कोश की है। जलचर मछली आदि का शरीर-मान एक सहस्र योजन अर्थात् १० सहस्र कोश के योजन के हिसाब से एक करोड़ कोश का होता है। हाथी का भी शरीर-मान दो कोश से नव कोश पर्यन्त होता है।

ये जन्तु आजकल तो कहीं इस रूप में दिखाई नहीं पड़ते हैं। क्या यही तर्कसंगत सिद्धान्त है? इतनी असंभव गप्पाष्टकों को ही धर्म कहा जा सकता है? यदि ये सब शरीर अनाद्यनन्त थे तो आज कहाँ चले गए? कभी भी इस संसार में ऐसी असंभव बातें क्या

घट सकती हैं। क्या इसी नमूने के आधार पर सत्यार्थप्रकाश का खण्डन करने का साहस किया जावेगा ?

(५) सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने सृष्टि की अनाद्यनन्तता की जो प्रतिज्ञा की उसकी सिद्धि में कोई हेतु नहीं दिया। हेतु के विना कोई प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं की जा सकती है। यदि उनके पास कोई हेतु था तो देना चाहिए था। परन्तु दिया नहीं। इससे ही ज्ञात हो जाता है कि उनको कोई हेतु नहीं सूझ पड़ा। क्योंकि उनका पक्ष असंगत एवं अप्रामाणिक है। सृष्टि की अनाद्यनन्तता के लिए प्रमाण बन ही नहीं सकते हैं। यहां पर इस पर थोड़ा सा विचार किया जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से सृष्टि की अनाद्यनन्तता किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती है। बल्कि सृष्टि पदार्थों के प्रत्यक्ष से उसका कार्य होना और आदि अन्त वाला होना सिद्ध होता है। जब एक सावयव पदार्थ के अङ्ग में उत्पत्ति विनाश का नियम प्रत्यक्ष है तो सारे अङ्गी के आद्यन्त होने का अनुमान अपने आप हो जाता है।

दूसरा अनुमान प्रमाण है। यह पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो-दृष्ट भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों अनुमानों से भी जगत् की अनाद्यनन्तता सिद्ध नहीं होती है। पूर्ववत् कारण से कार्य के अनुमान का नाम है और शेषवत् कार्य से कारण के अनुमान का नाम है तथा सामान्यतोदृष्ट गुणादि से गुणी आदि का अनुमान है। इन में से किसी से भी संसार के पदार्थ अनाद्यनन्त सिद्ध नहीं होते हैं। बल्कि इनके आधार पर संसार के पदार्थ आद्यन्त वाले ही सिद्ध होते हैं।

उपमानप्रमाण, शब्दप्रमाण भी संसार के पदार्थों की अनाद्यनन्तता नहीं सिद्ध करते हैं। ये भी यही सिद्ध करते हैं कि संसार के समस्त कार्य पदार्थ आद्यन्त वाले हैं। इस प्रकार जैनमत का यह संसार के पदार्थों की अनाद्यनन्तता सम्बन्धी सिद्धान्त किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है।

सत्यार्थदर्पणके लेखक बतावें कि अनाद्यनन्तता समूचे संसार की है अथवा उसके किसी भाग की। यदि समूचे संसार की है तो इसकी

सिद्धि का प्रमाण देना चाहिए क्योंकि प्रमाण के विना कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती है। यदि किसी भाग की ही अनाद्यनन्तता है तो यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध होने से मन्तव्य नहीं और क्या अनाद्य-नन्त का भी कोई भाग हुआ करता है ? इस प्रकार यह सुतराम् सिद्ध है कि सृष्टि के प्रत्येक कार्य पदार्थ की सादिता और सान्तता है तथा इन की अनाद्यनन्तता का जैनधर्म का सिद्धान्त सर्वथा प्रमाण विरुद्ध एवं अमान्य है।

सत्यार्थदर्पण के लेखक को यह भी बताना चाहिए कि जैन-सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि एवं संसार के पृथिवी, मेघ, पर्वत, सूर्य, नक्षत्र आदि जो पदार्थ अनाद्यनन्त हैं वे कारण हैं, वा कार्य हैं, वा दोनों से पृथक् हैं। यदि कारण हैं तो तीन कारणों में से कौन से कारण हैं। तथा उनकी कारणता किसके प्रति है और उनके कार्य क्या हैं ? यदि वे कार्य हैं तो फिर अनाद्यनन्त नहीं हो सकते हैं। यदि न कारण और न कार्य हैं बल्कि दोनों से भिन्न हैं तो ऐसी कोई वस्तु नहीं जो दोनों से भिन्न हो। यहां पर सत्यार्थदर्पण के लेखक के पूर्व उद्धृत वाक्य और उसमें प्रदर्शित विषय की निरर्थकता सिद्ध कर दी गई। पाठक स्वयं विचार करें। अब इसके आगे उसके द्वारा इस शीर्षक में उठाये गए अन्य प्रश्नों एवं कुतर्कों की जाँच-पड़ताल की जाती है। पहले क्रम से प्रश्न और उनके पुनः उसी क्रम से उत्तर दिये जावेंगे।

सत्यार्थदर्पण के 'ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है' शीर्षक के अन्तर्गत पृष्ठ १२ से २९ तक निम्न विचारणीय विषय बनते हैं :–

(क) पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नदी, जंगल आदि पदार्थ आकाश के समान अनादि काल से चले आ रहे हैं, ये कार्य नहीं कि इन का कोई बुद्धिमान् कर्त्ता हो अतः इनमें कार्यत्व हेतु का अभाव है।

(ख) जो कार्य होते हैं वे सशरीर कर्त्ता के बनाये हुये होते हैं जैसे घड़ी, मेज़ वगैरह के बनाने वाले बढ़ई आदि। इस लिए यदि पृथ्वी आदि पदार्थ कार्य हैं तो उनका बनाने वाला भी सशरीर ही होना चाहिए। इस कार्यत्व हेतु की व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध)

अशरीर ईश्वर के विरुद्ध सशरीर पुरुष के साथ सिद्ध होने से विरुद्ध दोष आता है।

(ग) जल बरसना, घास उगना, भूकम्प होना आदि कार्य तो हैं किन्तु उनका कोई बुद्धिमान् कर्त्ता सिद्ध नहीं होता। इसलिए कार्यत्व विपक्ष में भी रहने से व्यभिचारी दोष आता है।

(घ) ईश्वर ने जगत् को नहीं बनाया, क्योंकि वह हलन-चलन आदि क्रिया से शून्य है। जो किसी पदार्थ का बनाने वाला होता है वह क्रियासहित होता है। ईश्वर सर्वव्यापक होने से आकाश की भाँति हलन-चलन आदि क्रिया से रहित है।

(ङ) ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं क्योंकि वह निराकार है। जो किसी चीज को बनाता है वह विकार वाला अवश्य होता है जैसे जुलाहा आदि।

(च) ईश्वर जगत् को नहीं बना सकता क्योंकि वह निराकार है। निराकार कर्त्ता से कोई साकार पदार्थ नहीं बन सकता। जैसे आकाश।

(छ) सर्वज्ञाता ईश्वर इस संसार का रचने वाला नहीं क्योंकि नास्तिक लोग, बकरी के गले में थन, गुलाब के पेड़ में काँटे बनाना तथा सोने में सुगन्ध न रखना, गन्ने पर फल, चन्दन पर पुष्प का न होना सर्वज्ञ कर्त्ता के काम नहीं।

(ज) दयालु ईश्वर सृष्टि का रचयिता नहीं हो सकता क्योंकि दीन हीन निर्बल प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाले दुष्ट लोग, सर्प, सिंह, बाघ आदि जीव संसार में दीख पड़ते हैं। ईश्वर यदि दयालु होता तो ऐसा कभी न करता।

(झ) सर्वशक्तिमान् ईश्वर संसार का निर्माता नहीं है क्योंकि संसार में अनेक अत्याचार, अन्याय और उनके करने वाले जीव दीख पड़ते हैं। यदि सर्वशक्तिमान् ईश्वर संसार को बनाता तो ऐसा कभी न होने देता।

(ञ) आनन्दस्वरूप ईश्वर जगत् का बनाने वाला कभी नहीं

हो सकता, क्योंकि वह पूर्ण आनन्दस्वरूप है। जो पूर्ण आनन्दस्वरूप होता है उसे किसी कार्य के करने धरने से क्या काम ? अर्थात् कुछ नहीं जैसे मुक्त जीव।

(ट) ईश्वर ने जबकि संसार को बनाया तो ईश्वर को किसने बनाया ? क्योंकि जिस प्रकार संसार कार्य माना जाता है उसी प्रकार ईश्वर को भी क्यों नहीं ? इसका उत्तर यदि यह दिया जाये कि ईश्वर को किसी ने नहीं बनाया तो आप के लिए भी यह उत्तर काफी है कि उसी प्रकार जगत् को भी किसी ने नहीं बनाया। ईश्वर के समान अनादि निधन है।

(ठ) मूले मूलाभावादमूलं मूलम् (सां० १/६७) अर्थात् कारण का कारण नहीं होता यदि उत्तर माना जावे तो ठीक नहीं क्योंकि यह नियम केवल उपादान के लिए है। तदनुसार परमाणुरूप प्रकृति का कोई अन्य कारण नहीं हो सकता। किन्तु निमित्त कारण ईश्वर की उत्पत्ति के लिए तो कारण होना आवश्यक है--जैसे घड़े के निमित्त कारण कुम्हार, कुम्हार के कारण उसके माता पिता।

(ड) ईश्वर ने अलग २ परमाणुरूप प्रकृति से ये सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि किस प्रकार बनाकर तैयार किये ? (स्वामी जी ने इस बात का कहीं भी खुलासा नहीं किया है) संसार में हम देखते हैं कि जब कोई मनुष्य किसी पदार्थ को बनाता है तो वह अपने ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न से ही उसे बनाता है। उसी प्रकार ईश्वर ने जब सृष्टि को बनाया तब उसने उन परमाणुवों को केवल ज्ञान मात्र से ही जुड़ा दिया या इच्छा से जुड़ाया। ज्ञान के जरिये से कोई भी कर्त्ता पदार्थ को तैयार नहीं कर सकता। यदि इच्छा से किया ऐसा माना जावे तो निर्विकार होने से ईश्वर में इच्छा हो नहीं सकती है। इच्छा विकार वाले अनित्य पुरुष में ही उत्पन्न हो सकती है।

(ढ) इच्छा से भी ईश्वर सृष्टि नहीं रच सकता क्योंकि ज्ञानशून्य जड़ परमाणु इच्छा को क्या समझें ? अशरीर होने से वह हुक्म भी नहीं चला सकता अतः विना शरीर के ईश्वर सृष्टि नहीं

बना सकता। या तो ईश्वर को हाथ पैर वाला माना जावे कि वह परमाणुवों को पकड़-पकड़ कर मिलाकर सृष्टि बना दे या परमाणुओं का अपने आप मिल जाना मान लिया जाय। परन्तु इस दूसरी दशा में ईश्वर ने फिर क्या किया ?

(ण) सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति : इस सांख्य सूत्र के आधार पर स्वामी जीने प्रकृति महत्तत्व आदि के क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति का प्रकार दिखाते हुए लिखा है कि शब्द से परमेश्वर आकाश को चौथी श्रेणी में उत्पन्न करता है। जब आकाश उत्पन्न हुआ तो उससे पूर्व चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक प्रलय में समस्त जीव और प्रकृति के सब परमाणु तथा ईश्वर कहां पर ठहरे। आकाश के विना ठहरने की जगह देने की शक्ति ईश्वर में भी नहीं है। इसके अतिरिक्त अमूर्त्त आकाश का कैसे तो प्रलय होवे और कैसे वह शब्द द्वारा पैदा होवे क्योंकि शब्द परमाणुवों के पिण्ड से पैदा होता है जैसा कि टेलीफोन, फोनोग्राफ तथा साइंस से सिद्ध है।

(त) प्रकृति जो जड स्वरूप है उससे महत्तत्व यानी बुद्धि जो कि जीव का गुण है कैसे उत्पन्न हो सकती है ? स्वामी जी ने ऐसी असंभव बातों को न जाने क्यों लिखा।

(थ) अहंकार से भिन्न-भिन्न पांच सूक्ष्म भूत, श्रोत्र (कान) त्वचा (चमड़ा) नेत्र, जिह्वा, घ्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् (वचन) हस्त (हाथ) पाद (पैर) उपस्थ (लिंग) और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियां और ग्यारहवाँ मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। उनसे (आकाशादि पांच भूतों से) नाना प्रकार की औषधियां वृक्ष आदि उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। अब विचार करो कि आंख, कान, नाक, चमड़ा, जीभ तथा हाथ, पांव, लिंग, मन तो पहले ही अहंकार से बन कर तैयार हो गए, किन्तु शरीर अभी तैयार नहीं हुआ वह वीर्य से तैयार होगा। इसी प्रकार वीर्य अन्न से अन्न वृक्षों आदि के क्रम से। क्या शरीर के विना हाथ, पांव आदि अलग ही पड़े रहे। इन्द्रियों के विना क्या शरीर हो सकता

है। सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी जी का यह लेख अधिक असम्भवता वाला है।

(द) संसार में जड़ पदार्थ अपने आप क्या अद्भुत कार्य कर लेते हैं। जल गर्मी मिलने से भाप बनकर उड़ जाता है और धुवें के साथ मिलकर बादल बन जाता है, बादल पानी के रूप में बरसता है। विस्फोटक पदार्थों से अग्नि लगकर बड़ी बड़ी चट्टाने कोयले के रूप में हो जाती हैं। कहीं सोना, कहीं चांदी और कहीं कुछ और। परमाणुवों को जहां जैसा संयोग मिलता है वैसा हो जाता है। क्या ये सब बातें ईश्वर किया करता है ? जड़ परमाणुवों में संयोग से जगत् भी अपने आप बन सकता है। ईश्वर के बनाने की जरूरत नहीं।

(ध) अग्नि के विस्फोट से भूकम्प शहर के शहर ध्वस्त कर देता है। जो देश ठण्डे हैं वहां सदा ठण्डी ही रखना और जो गर्म है वहां सदा ही गर्मी ही रखना क्या ये परमात्मा के कार्य हैं ? यदि हैं तो कमी बेशी क्यों नहीं ? बड़े-बड़े बलवान् मनुष्यों को जरा सी शराब पागल कर देती है, संखिया मार देता है, छोटी सी जड़ी बूटी घाव को भर देती है और कीटों को मार देती है। यहां ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं।

(न) नर्मदा नदी में जितने भी पत्थर निकलते हैं वे प्राय: नदी के प्रवाह से महादेव की सूरत के गोल ही होते हैं, पत्थरों पर अपने आप ऐसे सुन्दर बेल-बूटे अंकित हो जाते हैं जिन्हें मनुष्य कठिनता से बना सकता है। क्या यह जड़ पदार्थों के संयोग से अद्भुत कार्य नहीं ?

(प) भोजन के बाद शरीर के कल पुर्जे रस, रक्त, मेदा, टट्टी, पेशाब आदि वस्तु कैसे नियमानुसार कर देते हैं। किसी के पेट में टट्टी बंधो हुई, बकरी के पेट में मेंगनी, ऊट के पेट में छोटे-छोटे आम सरीखे लेडे बनकर तैयार हो जाते हैं। क्या ये ईश्वर ही करता है ? वा उस शरीर वाले जीव कर देते हैं ? खून खराब

होने पर फोड़े फुन्सी, दाद आदि हो जाते हैं तो क्या यह परमात्मा कर देता है ? जड़ पदार्थ जब जैसे संयोग पाते हैं तब तैसी शक्ल में पलट जाते हैं। वह संयोग कहीं अपने द्वारा और कहीं मनुष्य आदि द्वारा होता है।

(फ) विना प्रयोजन के मन्द भी नहीं प्रवृत्त होता है। ईश्वर सच्चिदानन्द, निर्विकार और कृतकृत्य है फिर वह सृष्टि को किस लिए बनाता है ? स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश में इस विषय में जो हेतु दिये हैं वे सन्तोषजनक नहीं।

(ब) गेहूं के बीज से जैसे चावल नहीं उत्पन्न हो सकता उसी प्रकार मनुष्य से घोड़ा भी नहीं उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य से ही मनुष्य शरीर पैदा हो सकता है। पदार्थ अपने बीज (उपादान-कारण) द्वारा ही नियम से पैदा होते हैं। पौराणिकों में जिस प्रकार अगस्त्य आदि की घड़े से उत्पत्ति मान ली है वैसे ही स्वामी जी ने सृष्टि के प्रारम्भ में विना माता पिता के युवा का उत्पन्न होना माना है। भला ईश्वर विना माता-पिता के जवान स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, कीड़े मकोड़े वगैरह कैसे तैयार कर सकता है ? संसार की कौन सी साइंस इसके लिए लागू हो सकती है ?

(भ) सांख्य दर्शन ईश्वर को नहीं मानता है और न उसे सृष्टिकर्त्ता ही कहता है। वह जगत् में प्रकृति और पुरुष की सत्ता स्वीकार करता है। सृष्टि रचने का कार्य प्रकृति द्वारा होना कहता है। पुरुषों में से कुछ को प्रकृति से बद्ध और कुछ को मुक्त स्वीकार करता है। उसके सूत्र देखिये—नेश्वरा०……उभयथाप्यसत्करत्वम् आदि।

यहां पर इन प्रश्नों को संक्षेप में दिया गया। अब इसी क्रम से इनका उत्तर भी दिया जाता है। विज्ञ पाठक इन पर विचार कर सत्यासत्य का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं—

(क) सत्यार्थ दर्पण के कर्त्ता ने अपने को एक नैयायिक प्रदर्शित करने के लिए इस प्रश्न में पृथ्वी आदि में कार्यत्व हेतु

का अभाव दिखाने का व्यर्थ का प्रयत्न किया है। सर्व प्रथम इस पर ही विचार किया जाता है। यदि क्षण भरके लिए दुर्जनतोष-न्याय से यह कोई स्वीकार भी कर ले कि इनमें कार्यत्वहेतु का अभाव है तो भी इतने मात्र से ही तो आप का पक्ष सिद्ध नहीं हो जावेगा। क्योंकि इन पदार्थों में अकार्यत्व हेतु का भी अभाव है। आपने किसी प्रमाण से इनमें अकार्यत्वहेतु का सद्भाव सिद्ध करके कार्यत्वहेतु के अभाव को सिद्ध नहीं किया है। यदि इनके अकार्यत्वहेतु की सिद्धि में कोई प्रमाण वा तर्क थे तो उन्हें बताना चाहिए था। प्रश्न यह भी उठता है कि यदि पृथ्वी आदि कार्य नहीं हैं तो फिर ये नित्य कारण हैं वा अनित्य कोई वस्तु। यदि ये नित्य कारण हैं तो इनका कोई भी कार्य है वा नहीं। यदि इनका कोई भी कार्य नहीं तो किसके और किस कार्य की अपेक्षा से ये कारण हैं। इनकी नित्यता के विषय में कोई भी युक्ति तर्क वा प्रमाण नहीं पाये जाते हैं। फिर इन्हें नित्य कैसे कहा जा सकता है। यदि ये अनित्य कोई वस्तु हैं तो फिर इनका कार्य होना अनिवार्य है और उस अवस्था में इन में कार्यत्वहेतु का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है। जो वस्तु भाव वाली है और बिना कारण की है (सद-कारणवन्नित्यम्) वह नित्य है। तथा जो सत् अर्थात् भाववाला है परन्तु कारण वाला है वह अनित्य है। इन दोनों में पृथ्वी, चन्द्र आदि किस कोटि में आते हैं। यदि नित्य हैं तो प्रमाण दीजिए और यदि अनित्य हैं तो फिर इन में कार्यत्वहेतु का अभाव कैसे सिद्ध हुआ ?

सत्यार्थ-दर्पण-कर्त्ता की योग्यता का उदाहरण यहां पर और भी देखना चाहिए। वह यह कि वह स्वयं पृथ्वी आदि में कार्यत्व-हेतु का निषेध करते हुये आकाश की समता दे रहा है। कार्यत्व-हेतु का प्रयोजन अनुमान की प्रवृत्ति है। यदि वह अनुमान से अपने पक्ष को सिद्ध करने का व्याज करना चाहता है तो आकाश का दृष्टान्त पृथ्वी आदि में घटता नहीं। अनुमान प्रमाण उसके पक्ष में तो बनता

नहीं क्योंकि विरोधी दृष्टान्त है। परन्तु अनुमान से इनका ईश्वर-कर्त्तृत्व सिद्ध हो जाता है। आकाश का दृष्टान्त उसके पक्ष में समदृष्टान्त है वा विषम। यदि सम दृष्टान्त है तो प्रश्न यह होता है कि आकाश व्यापक है वा नहीं?। यदि व्यापक है तो उसकी अपनी व्यापकता की क्या परिभाषा है?। सम दृष्टान्त है और सर्व मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग ही आकाश की व्यापकता है तो फिर पृथ्वी आदि को मूर्त्त मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कार्यत्व उनका अपने आप प्रतिपादित हो गया। यदि विषम दृष्टान्त है तो फिर पृथ्वी आदि अपने आप कार्य और अनित्य पदार्थ सिद्ध हो गए। क्योंकि ऐसी अवस्था में विषम दृष्टान्त होने से आकाश अकार्य और पृथ्वी आदि कार्य सिद्ध हो गए। यदि सम दृष्टान्त माना जावे तो आकाश की भी कार्यता सिद्ध होगी।

यहां पर पुनः यह प्रश्न खड़ा होता है कि पृथ्वी, चन्द्र, आदि पदार्थ सावयव, मूर्त्त, साकार हैं वा निरवयव, अमूर्त्त, निराकार हैं। यदि ये सावयव, मूर्त्त और साकार हैं तो इनमें कार्यत्वहेतु स्वयं ही सिद्ध है। कार्यत्वहेतु के सिद्ध हो जाने से ईश्वर के कर्त्तृत्व की भी सिद्धि हो जाती है। यदि ये निरवयव, अमूर्त और निराकार हैं तो इसमें कोई भी प्रमाण प्रस्तुत करो। विना प्रमाण के कोई बात नहीं मानी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को यह बतलाना पड़ेगा कि वह पृथ्वी आदि में कार्यत्वहेतु के अभाव होने का वर्णन क्यों कर रहा है और इसमें उसका क्या प्रयोजन है। उसका मुख्य प्रयोजन अपने पक्ष में अनुमान स्थापित करना और ईश्वर की सिद्धि में अनुमान का न स्थापित होने देना है। परन्तु वह यह भूल जाता है कि प्रथम तो प्रत्यक्ष प्रमाण है और इससे इन पृथ्वी आदि की कार्यता सिद्ध है फिर अनुमान की गुंजाइश ही कहां रह जाती है। यदि अनुमान पर ही बल दिया जावे तो फिर यह कहना पड़ेगा कि कार्यत्वहेतु को विना स्वीकार किये जैन मत में अनुमान प्रमाण

बन ही नहीं सकता। इस प्रकार अनुमान प्रमाण का ही अस्तित्व वह गँवा बैठेगें। क्योंकि कारण से कार्य का अनुमान, कार्य से कारण का अनुमान और गुण से गुणी का अनुमान--ये ही अनुमान के तीन प्रकार हैं। कार्यत्वहेतु आदि को न मानने पर ये तीनों ही अनुमान बन ही नहीं सकते हैं। यदि आप अनुमान मानते हैं तो फिर कार्यत्व-हेतु तो स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

जैन धर्म ईश्वर के खण्डन के विषय में निम्न तर्क करता है--
सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः। दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिंगं वा योऽनुमापयेत। २ ॥ सर्वदर्शनसंग्रह आर्हतदर्शन

अर्थात्--चूँकि सर्वज्ञ नित्य परमेश्वर दिखाई नहीं पड़ता अतः वह है नहीं। जब वह प्रत्यक्ष नहीं तो अनुमान भी नहीं घट सकता।"

यह है तर्क जो ईश्वर की असिद्धि में जैनधर्मी प्रयुक्त करते हैं। हम वैदिक धर्मी तो इसे स्वीकार करते नहीं। परन्तु जैनधर्मानुयायिवों को यह स्वीकार्य है। इसका यह भी तात्पर्य है कि ये किसी वस्तु की सिद्धि के लिए इन प्रमाणों का होना आवश्यक समझते हैं। इसी तर्क को चन्द्रादि पदार्थों में कार्यत्व के अभाव विषय में भी प्रयुक्त कर दिया जाता है। पृथ्वी, चन्द्र आदि कार्य नहीं हैं इसमें प्रथम तो यह देखना चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रमाण है वा नहीं। यदि है तो दिखावो। इनमें प्रत्यक्ष प्रमाण इनके कार्य होने की सिद्धि में तो है परन्तु इनके अकार्य होने में नहीं है। यदि यह मानते हो कि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है तो फिर अनुमान बन ही नहीं सकता, यह आपका ही तर्क है। जब अनुमान भी नहीं बनता तो कार्यत्वहेतु का अभाव आप का किस प्रकार सिद्ध हो सकता है। अतः आपके पक्ष की पुष्टि में प्रत्यक्ष अनुमान के न बनने से अन्य भी प्रमाण नहीं बनते और आपकी बात सिद्ध नहीं होती। आपका ही तर्क आपका खण्डन कर देता है।

पृथ्वी आदि कार्य हैं और इनमें कार्यत्वहेतु का सद्भाव है, इस

का भी समर्थन किया जाता है। यह प्रत्यक्ष है कि पृथ्वी में से मिट्टी निकालकर घड़ा बनाया जाता है। वह बनता भी और बिगड़ता भी है। यह भी प्रत्यक्ष है कि पृथ्वी का एक ढेला चूर्ण-चूर्ण करके अदृश्य किया जा सकता है। यह भी प्रत्यक्ष है कि पृथ्वी का पाषाण रूप तोड़ा-फोड़ा जा सकता है और चूने आदि के रूप में बदल दिया जा सकता है। धातु रूप में जो पृथ्वी-भाग है उसे भी तोड़ा-फोड़ा, संयुक्त-वियुक्त किया जा सकता है। तथा भस्म बनाकर चूर्ण करके अदृश्य किया जा सकता है। पिघलना भी इसमें पाया ही जाता है। कुवें और तालाब पृथ्वी को खोद कर बनाए जा सकते हैं। मिट्टी के लोंदे को फैलाया और सिकोड़ा जा सकता है। पहाड़ को तोड़ा जा सकता है। खान के रूप में पृथ्वी में महत् गढ्डे भी किये जा सकते हैं। ये सारी बातें जब पृथ्वी के एक भाग में प्रत्यक्षतः सिद्ध हैं तो इनका सारी पृथ्वी में होना अनुमान से सिद्ध है ही। फिर आगम आदि अपने आप प्रवृत्त हो जाते हैं। जब पृथिवी का एक भाग सावयव है और उसमें उत्पत्ति-विनाश, संयोग-वियोग आदि देखे जाते हैं, तथा कार्यत्व भी उसका प्रत्यक्ष है तो फिर सारी पृथिवी का भी कार्यत्व सिद्ध है। अतः इसमें कार्यत्व-हेतु सिद्ध है।

पृथिवी से बने पदार्थों में एक विशेषता देखी जाती है। वह यह है कि पृथिवी में पाकज गुण पाया जाता है। पृथिवी से मिट्टी निकाल कर गीली कर जब घड़ा बनाया जाता है तो उसका रूप कच्चे घड़े की अवस्था में और ही रहता है। परन्तु जब कुम्हार उसे आवी में पका देता है तब उसका रूप लाल वा काला हो जाता है। यह तेज के सम्बन्ध से होने वाला रूप-परिवर्त्तन पाकज है। इसी प्रकार पार्थिव वस्तुवों के रूप, रस, गन्ध में भी पाकज गुण पाये जाते हैं। कच्चे फलों की शक्ल, गन्ध आदि और होते हैं और पक्के फलों के और ही। इस पाकज गुण की उत्पत्ति के आधार पर दो विचारधाराएं स्वीकार की जाती हैं। एक पिठर-पाकवाद की और दूसरी पीलु-पाकवाद की। इनके पार्थिव गुणों की अनित्यता

स्वीकार की जाती है। जब यह सिद्धान्त निश्चित है और प्रत्यक्ष है तो फिर पृथिवी को अकार्य कैसे कहा जा सकता है। इसमें कार्यत्व हेतु विद्यमान है ही।

इस प्रसंग में एक समस्या यह खड़ी होती है कि जिसे जैनधर्मी भाई पृथिवी कहते हैं वह केवल परमाणुवों का पुंजमात्र है अथवा वह कोई एक अवयवी पदार्थ है जिसमें एकत्व आदि की प्रतीति हो रही है। यदि वह परमाणु-समुदाय मात्र है तो सरसों की राशि की भांति बिखरी हुई होनी चाहिए और उसमें या उसके किसी भाग में धारण, आकर्षण से संपूर्ण का धारण वा आकर्षण नहीं होना चाहिए परन्तु ऐसा है नहीं। यदि वह अवयवी है तो फिर उसके परमाणु रूप अवयव अपने आप सिद्ध हैं। अतः उसमें कार्यत्व पाया जाता है। विज्ञान की दृष्टि से भी पृथ्वी में कार्यत्व ही पाया जाता है।

पृथिवी में रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी और स्पर्श भी। ये सब गुण उसके अपने निजी हैं वा किसी के संयोग वा निमित्त से हैं। यदि अपने निजी गुण हैं तो फिर बताना पड़ेगा कि अग्नि, जल और वायु के निजी गुण क्या हैं। यदि ये नैमित्तिक वा संयोगज गुण हैं तो मानना पड़ेगा कि पृथिवी में ये उन पदार्थों के संयोग से आये हैं जिन के ये स्वाभाविक गुण हैं। केवल गन्ध उसका अपना गुण है। जब तक पृथिवी को कार्य, और अग्नि आदि के संयोग से उत्पन्न न माना जावे तब तक यह बात बन नहीं सकती है। अत. यह संयोग अपने आप तो मात्रा में और नियम से बन नहीं सकता है इसलिए पृथिवी में इस आधार पर कार्यत्व हेतु भी सिद्ध है और ईश्वर का इसमें कर्त्तृत्व भी सिद्ध है।

सूर्य की गर्मी की न्यूनता का होते जाना यह बतलाता है कि वह भी कार्य है, नित्य अनादि पदार्थ नहीं। ताप का विज्ञान यह पुष्ट करता है। ऐसी अवस्था में उसमें भी कार्यत्वहेतु सिद्ध है। चन्द्र को सूर्य से प्रकाश मिलता है। उसमें भी नियमित परिवर्त्तन पाया जाता है। उसमें भी वैज्ञानिक पहुँचने का यत्न कर रहे हैं

और उसमें भी पृथिवी, नदी, पहाड़ आदि का दर्शन कर रहे हैं। जिस प्रकार यह पृथिवी कार्य है उसी प्रकार चन्द्र की भी पृथिवी कार्य ही है।

नदी और जंगल की अवस्था में परिवर्त्तन देखा ही जाता है। जंगल को काटकर कितनी जगह पर आबादी कर दी गई और कितनी नदियां और पर्वत थे जो अब नहीं हैं--विलीन हो गए। जब इन का बनना बिगड़ना इस प्रकार सिद्ध है तो इन्हें भी अनादि नहीं कहा जा सकता है। इन में कार्यत्व पाया जाता है।

इस प्रकार पृथ्वी आदि पदार्थों में अनादित्व, नित्यता, अकार्यत्व आदि के न पाये जाने और मूर्त्तत्व, सावयवत्व और कार्यत्व आदि पाये जाने से यह सिद्ध है कि इन में कार्यत्वहेतु का अभाव नहीं अपितु सद्भाव है। जब इन में कार्यत्वहेतु का सद्भाव सिद्ध है तो फिर ईश्वर का इन का कर्त्ता होना सिद्ध है।

(ख) यहां सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता की तर्क प्रतिभा की जितनी प्रशंसा की जावे थोड़ी है। आप कहते है कि जो कार्य होते हैं वे सशरीर कर्त्ता के होते हैं जैसे घड़ी, मेज़ आदि। परन्तु कार्य होने के साथ सशरीर-कर्त्तृत्व की व्याप्ति इससे किस प्रकार सिद्ध हो गई। बुद्धि से समझने की आवश्यकता है। घड़ी, मेज आदि मानव-निर्मित वस्तुएं हैं जिनमें सशरीर कर्त्ता होता है परन्तु अनेक वस्तुएं और अत्यधिक वस्तुएं इस जगत् में ऐसी हैं जिनका सशरीर कर्त्ता नहीं है जब कि वे कार्य हैं। जूँ, लीख, खटमल, केचुवा, इन्द्रगोप अनेक कृमियों के शरीरेन्द्रिय आदि, सजीव प्राणियों के पेट में होने वाली रसौली; जैन साधु जिनके मरने के भय से मुख पर पट्टी बांध रखते हैं और टट्टी को बिखेर डालते हैं ऐसे उत्पन्न होने वाले कीड़े; पेट में उत्पन्न होने वाले कद्दू-दाने; आँख, कान आदि इन्द्रियों का न होना एवं विपरीत होना; विविध प्रकार के अन्न और फूल; खानों में उत्पन्न होने वाले धातु एवं खनिज; पहाड़ों की बर्फ, मेघ एवं उसका पानी, हवाओं की उत्पत्ति, जिनका कार्यत्व

'क' भाग में सिद्ध किया गया है--ऐसे पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि; तीर्थङ्करों के शरीर एवं विविध योनियों के शरीर; गर्भ में सन्तान का निर्माण, गल जाने वा सड़ जाने वाले अंगों में कीड़ों का निर्माण; लकड़ी में पैदा होने वाले कीड़े; अन्न के घुण, तथा विविध पशु पक्षियों के शरीर आदि अनेकों ऐसी चीजे हैं जो कार्य हैं परन्तु इनका सशरीर कर्त्ता कोई नहीं है। क्या सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता इन कार्यों में से किसी का सशरीर कर्त्ता बतला सकते हैं? वे कभी भी नहीं बतला सकेंगे। इस प्रकार कार्यत्व और सशरीर कर्त्तृत्व की व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध) तो बनता ही नहीं फिर उनका पक्ष केवल कथन मात्र से कैसे सिद्ध हो गया। परमात्मा की इस सृष्टि में जैसा ऊपर दिखाया गया अनेक कार्य हैं जिनका कर्त्ता सशरीर नहीं है, स्वयं अशरीर परमेश्वर ही है। उसकी सृष्टि के अन्तर्गत मनुष्य भी अपने कार्य के लिए घट, पट, मेज, पात्र आदि वस्तुएं अपने उपयोग के लिए बनाता है और उसका वह कर्त्ता है। परन्तु घड़े का बनाने वाला शिर की खोपड़ी रूप घड़े वा सूर्य, चन्द्र आदि का बनाने वाला नहीं है। अतः सूर्य, चन्द्र, शरीर आदि पदार्थों का बनाने वाला ईश्वर है परन्तु उसकी बनाई सृष्टि के पदार्थों से उसके नियम के अन्तर्गत सशरीर कर्त्ता मनुष्य भी घड़े आदि अपने उपयोग के पदार्थ बना लेता है। केवल मेज आदि के कर्त्तृत्व को लेकर परमेश्वर के सशरीर होने की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इस प्रकार लेखक महोदय का यह अविनाभाव सम्बन्ध भी खण्डित हो जाता है।

अगर सब कार्यों का सशरीर कर्त्ता ही जैनधर्मी मानते हैं तो प्रश्न यह उठेगा कि सशरीर कर्त्ता कितने बड़े शरीर वाला है। यदि तीर्थंकरों जितने लम्बे शरीर वाला अथवा हिमालय जैसे बड़े शरीर वाला है तो फिर चींटी और मच्छरों आदि की आँख कैसे बना सकेगा। यदि वह मच्छर आदि जैसे शरीर वाला है तो हाथी, ह्वेल, पृथिवी, सूर्य आदि की रचना कैसे करेगा।

थोड़ा सा विचार यहां पर एक और उदाहरण देकर किया जाता है। एक बच्चा अन्धा और लूला गर्भ से बाहर आता है। उसके जन्म से पूर्व गर्भ में उसका निर्माण हुआ। यह कार्य है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। परन्तु इस कार्य का कर्त्ता कौन सा सशरीर कर्त्ता है? यदि कोई यह लालबुझक्कड़ी करे कि माता-पिता उसके कर्त्ता हैं तो सर्वथा ही गलत है। क्योंकि यदि ये कर्त्ता होते तो उसे अन्धा और लूला क्यों बनाते? वस्तुतः ये उसके कर्त्ता नहीं। क्योंकि नियम यह है कि जो जिस कार्य का कर्त्ता होता है वह उसका ज्ञाता भी होता है। परन्तु माता-पिता को इसका कोई भी परिज्ञान नहीं कि क्या नस-नाड़ी, इन्द्रियां आदि कहां पर और कैसे बनाई हैं इसलिए कार्यत्व के साथ सशरीर कर्त्तृत्व के अविनाभाव सम्बन्ध का जो तर्क उठाया गया है वह सर्वथा ही उट-पटाँग है और एकदेशीय है। विरुद्ध दोष इसमें बनता नहीं।

(ग) जल बरसना, घास उगना, भूकम्प होना आदि को सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने कार्य तो स्वीकार कर ही लिया। फिर यह भी सिद्ध एवं स्वीकृत ही है कि ये सदा से चले आने वाले अनादि अनन्त नहीं हैं। जब संसार के ये पदार्थ अनाद्यनन्त नहीं तो इतने अंश में तो वे मान ही रहे हैं कि संसार अनाद्यनन्त नहीं। यह उनका अपने पक्ष से हटना है। जैसा पूर्व दिखलाया गया है, वे संसार को अनाद्यनन्त मानते हैं। उससे यह मेल नहीं खाता है। उनको यह भी ज्ञात होना चाहिए कि यहां पर भी उनका माना हुआ दोष सिद्ध नहीं होता है। उनकी यह तर्कशैली नवसिखियों की तर्कशैली ज्ञात होती है। जल की गति अधो होती है और अग्नि की ऊर्ध्व होती है। वे स्वीकार कर चुके हैं कि गर्मी से पानी वाष्प बनकर ऊपर जाता है और जमकर मेघ बन जाता है। (देखें सत्यार्थदर्पण पृष्ठ १८, हमारा प्रश्न 'द' विभाग) कितने पानी के दबाव को ऊर्ध्वगति करने में कितनी गर्मी की मात्रा चाहिए, वाष्पीकरण के लिए कितनी ऊष्मा चाहिए, पानी के वाष्प के जमाव में

कितनी गर्मी की मात्रा होनी चाहिए, तथा पुनः उसका पिघलकर बरसने में जलीकरण के लिए एवं उसके कायम रखने के लिए किस सीमा तक ऊष्मा चाहिए--यह यदि उनकी दृष्टि में मूर्ख अथवा जड़ का कार्य है तो ऐसा वे ही कह सकते हैं। वैज्ञानिक तो इसे बुद्धिमत्ता का ही कार्य समझता है। जल में प्राणवायु का एक भाग और उदान का दो भाग तथा उसके निर्माण और संस्थापन की उचित मात्रा में ऊष्मा सम्मिलित है। लोक में जल की एक बूंद के निर्माण में कितनी बुद्धिमत्ता बर्तनी पड़ती है, विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। परन्तु वर्षा के जल में इस कार्य को सत्यार्थ-दर्पण के लेखक अबुद्धिमान् एवं जड़ का कार्य मानते हैं। इनकी इस प्रतिभा को धन्यवाद देना चाहिए। अरे! मेरे भाई! इसे समझो। यह महान् बुद्धिमत्ता का कार्य है। इस कार्य का कर्त्ता बुद्धिमान् है और सशरीर नहीं अशरीर है।

इसी प्रकार घास का उगना, तैयार होकर नष्ट हो जाना और पुनः उगना आदि कार्य भी बुद्धिमान् कर्त्ता के ही हैं। अन्यथा विपरीत परिस्थिति एवं प्रकार से भी घास की उत्पत्ति क्यों नहीं होती। अत्यन्त मरुस्थल एवं किसी की नाक वा कान में घास क्यों नहीं उग जाती। आप 'ख' प्रश्न में कह चुके हैं कि जो कार्य होते हैं वह सशरीर कर्त्ता के होते हैं। परन्तु यहां आपने घास के उगने आदि को कार्य तो माना ही है। क्या आप बता सकेंगे कि इसका सशरीर कर्त्ता कौन है? यह परस्पर विरुद्ध बातें स्यात् जैनधर्म की मानी गई सप्तभंग-प्रक्रिया के ही फल हैं।

भूकम्प होना भी कोई ऐसी घटना नहीं कि जिसके द्वारा यह सिद्ध किया जा सके कि सृष्टि का कोई बुद्धिमान-कर्त्ता नहीं है। भूकम्प के द्वारा ही ज्वालामुखी पर्वतों की रचना होती है। पृथिवी की ऊष्मा पर जल के पड़ने का यह परिणाम होता है। इन ज्वाला-मुखियों से पृथिवी की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है--यदि मानव-बुद्धि में न आवे तो उसे अपूर्ण तो कहा नहीं जा सकता।

साधारण घटना के रूप में यदि भूकम्प का विचार किया जावे तब भी लेखक का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। गाड़ी, प्लेन तथा अन्य यानों एवं यंत्रों में घटनायें घटित हो जाती हैं। हानि भी होती है। परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता है कि गाड़ी, प्लेन, तथा यंत्रों का निर्माता बुद्धिमान् नहीं अथवा इनकी रचना अबुद्धिमत्ता पर आधारित है वा ये केवल जड़ द्वारा स्वयं ही निर्मित हैं-- इनका कोई बुद्धिमान् कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार लेखक का दिखाया गया दोष यहाँ पर स्थित नहीं होता है।

(घ) यहां पर भी सत्यार्थदर्पण के लेखक का तर्क केवल तर्काभास है। आकाश की विभुता के कारण आकाश को क्रियावान् नहीं होना पड़ता। इसी प्रकार परमेश्वर को भी व्यापक होने से गति नहीं करनी पड़ती। व्यापक एवं विभु आकाश स्वयं तो गतिमान् नहीं परन्तु क्या विभु आकाश में वर्तमान पदार्थों में भी इसी आधार पर गति का अभाव है? यदि हाँ तो फिर पृथिवी, सूर्य आदि पदार्थ तथा चुम्बक आदि अपनी गति क्यों करते हैं? यह तो प्रत्यक्ष का विरोध है। यदि नहीं तो फिर विभु परमात्मा में विद्यमान जगत् के निर्माण में उपादान सामग्री की गति में उसकी निमित्तत्ता से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। विभु परमेश्वर ईक्षणमात्र करेगा और पदार्थों की सर्वत्र अपने उपादान से रचना हो जावेगी। जो किसी पदार्थ का बनाने वाला होता है वह क्रियाशील होता है यह नियम आपने स्वीकार किया ही है। परन्तु इसके आधार पर यह भी तो स्वीकार ही होगा कि एक देशी पदार्थ की क्रिया एक सीमा में होगी और अन्यत्र क्रिया करने के लिए हलन-चलन की आवश्यकता होगी। सर्वदेशी विभु चेतन पदार्थ क्रिया दूसरे पदार्थों को दे सकता है परन्तु उसके लिए उसे स्वयं हलन-चलन अथवा गति करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। जड़ पदार्थों के हलन-चलन और चेतन के हलन-चलन में अन्तर होता है। चुम्बक की आकर्षण क्रिया और मनुष्य की आकर्षण क्रिया में अन्तर है। जिस आकाश का लेखक ने दृष्टान्त दिया है वह जड़ है,

चेतन नहीं। ईश्वर चेतन सर्वव्यापक है और साथ ही सर्वाधार और सर्वान्तर्यामी भी है। अतः आकाश से उसकी पूर्ण समता नहीं है। आकाश चेतन नहीं। आकाश विभु होते हुए चेतन और कर्त्ता नहीं है। तनिक मात्र सोचने की आवश्यकता है कि विभु आकाश शब्द की परम्परा को कैसे गतिमान् होने देता है। वहाँ विभुता क्यों नहीं रोकती। ईश्वर चेतन है, कर्त्ता है और वह ईक्षण-मात्र में वस्तु को गतिमान् करता है। उसे इस गति करने में किसी प्रकार की गति नहीं करनी पड़ती है। ईश्वर जगत् का बनाने वाला होने से बनाने की क्रिया उसमें है और उस क्रिया में उसकी विभुता बाधक नहीं बल्कि साधक है। वह जहाँ पदार्थों और उनके उपादान में व्यापक, विभु है इन सबका धारक होने से ये सब भी उसके अन्दर हैं। इस लिए वह सर्वाधार कहा जाता है। अतः यहाँ पर भी आक्षेप खण्डित हो जाता है।

(ङ) ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं क्योंकि वह निर्विकार है--यह तर्क भी ठीक नहीं। क्योंकि वह जगत् का निमित्त कारण है--उपादान कारण नहीं। उपादान कारण का सविकार होना आवश्यक है निमित्त कारण का नहीं। उपादान में विकार होकर कार्य उत्पन्न होता है। परन्तु कार्य निमित्त का विकार नहीं। मिट्टी का विकार घट है अतः मिट्टी का विकारी होना आवश्यक है, कुम्हार का नहीं। क्योंकि घड़ा कुम्हार का विकार नहीं हैं। जो किसी चीज को बनाता है विकार वाला होता है, यह नियम कैसे आपने बना लिया। जुलाहा सूत से वस्त्र बनाता है अतः सूत का विकार वाला होना आवश्यक है--जुलाहे का नहीं। क्योंकि जुलाहा स्वयं तो सूत्र रूप में नहीं आता है। यदि आपका तात्पर्य सशरीर उत्पत्तिमान् आदि दृष्टि से हैं तो यह सूर्य, चन्द्र, आदि के बनाने वाले में भी नहीं घटता है। उनका कर्त्ता निर्विकार ही है, पूर्व यह दिखलाया जा चुका है। यह तर्क भी तीर-तुक्के की बाजी के समान ही है और सविकार मस्तिष्क की ही ऐसी उपज हो सकती है।

(च) जब हाथ उठाने की इच्छा होती है आत्मा में तब हाथ विना दूसरे हाथ के सहारे अथवा विना किसी साकार के सहारे के ही उठ जाता है। शरीर में आत्मा वा मन की प्रेरणा पर लोम खड़े होकर रोमांच हो जाता है जब कि कोई साकार औषध या पदार्थ इन लोगों को खड़ा कर रोमांच लाने में असमर्थ है। जिस प्रकार निराकार आत्मा साकार हाथ आदि को उठाता और शरीर आदि को चलाता है उसी प्रकार निराकार ईश्वर साकार जगत् को भी बना सकता है। निराकार कर्त्ता से कोई साकार पदार्थ नहीं बन सकता, इसका कोई प्रमाण भी तो देना चाहिए था। क्या आप का कथन मात्र ही महा-प्रमाण है। बलिहारी तो इस बुद्धिमत्ता की है कि विषय है कर्त्ता का, उदाहरण दिया जा रहा है निराकार जड आकाश का। क्या आकाश भी कर्त्ता है? वह किस साकार पदार्थ का कर्त्ता है? क्या उसमें भी कर्त्तृत्व है? जब उसमें कर्त्तृत्व है ही नहीं और वह जड है तो फिर कर्त्ता का दृष्टान्त उसे किस प्रकार बना रहे हैं? गर्भस्थ बालक के शरीर का गर्भ में निर्माण साकार कर्त्ता करता है वा निराकार? यदि साकार कर्त्ता करता है तो जरा बताइये तो सही कि गर्भ में कौन-सा साकार कर्त्ता बैठकर यह कार्य करता है। यदि निराकार कर्त्ता करता है तो आप का पक्ष स्वयं ही गिर जाता है।

(छ) नास्तिक कोई पैदा होने के बाद ही बनता है, नास्तिक होकर नहीं पैदा होता। प्रत्येक जीव कर्म करने में स्वतंत्र है और फल भोगने में परतन्त्र है। अतः अपनी इस स्वतंत्रता से कोई अच्छा भी कार्य कर सकता है और उससे विपरीत बुरा भी। ईश्वर किसी से स्वयं कोई कर्म कराता नहीं। यदि कोई मनुष्य अपनी स्वतंत्रता के प्रयोग में नास्तिकता ग्रहण कर लेता है तो इससे सर्वज्ञाता ईश्वर के संसार के रचयिता होने में क्या अन्तर पड़ता है। आस्तिक होना अथवा नास्तिक होना जीव का अपना स्वतंत्र कार्य है। ईश्वर की सर्वज्ञता में उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है और न जगत् के कर्त्ता होने

में ही कोई अन्तर पड़ता है। क्या आप का तात्पर्य यह है कि ऐसे लोगों को ईश्वर समाप्त ही कर दे? यह किसी भी प्रकार हो नहीं सकता है। नास्तिकों को भी किसी प्रकार की हानि न पहुँचाना ईश्वर की महत्ता का ही द्योतक है। उसे किसी से किसी प्रकार का द्वेष नहीं।

बकरी के गले में यदि विकाररूप से कोई थन बन जाता है तो इससे ईश्वर की सर्वज्ञता और उसके कर्त्तृत्व का क्या दोष है। शरीर में रोग रूप से अनेक विकार पैदा होते देखे जाते हैं। वैसे ही यह भी एक प्रकार का विकार है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ की उपादेयता केवल मनुष्य वा आपकी उपयोगिता अनुपयोतिता के आधार पर नहीं कूती जा सकती है। तथा यह भी नहीं हो सकता है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु की उपादेयता, उपयोगिता, निर्माण के उद्देश्य आदि का ज्ञान मनुष्य को हो सके।

सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता क्या यह दावा कर सकते हैं कि अपने शरीर के प्रत्येक अवयव की उपयोगिता बता सकें। जब तक गुलाब को बिना काँटे का बनाकर वे स्वयं न दिखा दें तब तक कहना कि गुलाब के अन्दर काँटे का उत्पन्न करना सर्वज्ञ कर्त्ता का कार्य नहीं, सर्वथा ही अनर्गल है। सोने में सुगन्ध न रखना, गन्ने पर फल न लगाना और चन्दन पर पुष्प का न बनाना बुद्धिमत्ता का ही कर्त्तृत्व है। इन की उपयोगिता साधारण भी व्यक्ति जानता है। कपूर सुगन्ध वाला है उसकी क्या स्थिति है? वह उड़ता है। आप की बुद्धि के अनुसार यदि सोना भी कर्पूर की भांति होता तो वह भी उड़ जाता। संसार की इससे कितनी हानि होती, यह आप समझ भी नहीं सकते। गन्ने पर फल लगाने से आपका क्या तात्पर्य है? कैसा फल आप उसपर चाहते हैं? यदि गुड़ की भेली उसपर फलती तो चींटी चींटे और जन्तु ही उसे खा जाते और मनुष्य के पल्ले कुछ नहीं पड़ता और वह परिश्रम करने के बाद भी कुछ भी न पा सकता। साथ ही यह भी तो बतावें कि यदि गन्ने पर फल लगता तो बीज का

कार्य वह फल देता वा गन्ना स्वयं। यदि गन्ना स्वयं बीज भी बनता तो फल का उपयोग क्या था और यदि फल बीज रूप में भी प्रयुक्त होता तो क्या ये भेलियां वा गुड़ इस कार्य को पूरा कर सकते थे। यदि गुड़ की भेलियां फल बनतीं तो गोंद के रूप में अथवा जैसे फल होते हैं वैसा बनतीं। इस समस्या को भी तो सुलझाना चाहिए। चन्दन पर फूल न बनाना सर्वज्ञ कर्त्ता का कार्य है। यदि आप की बुद्धि से वह पुष्प बना देता तो इसकी सुगन्ध की स्थिरता भी समाप्त हो जाती। फूल की सुगन्ध में अस्थिरता होती है।

एक बात यहाँ पर यह पूछने की है कि अपने इस आक्षेप के द्वारा सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता महोदय ईश्वर की सर्वज्ञता पर आक्षेप कर रहे हैं। अथवा सृष्टि रचना में त्रुटियाँ दिखा रहे हैं। यदि सर्वज्ञता पर आक्षेप कर रहे हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि आपके दिये गए दृष्टान्तों से यह सिद्ध नहीं होता। यदि आप सृष्टि-रचना में त्रुटियाँ दिखाना चाहते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि जिन वस्तुओं का आपने त्रुटिपूर्ण होना बताया है उन की त्रुटि को कोई दुरुस्त नहीं कर सकता है। क्या संसार का कोई भी समझदार उसको त्रुटि कह सकता है जिसका कोई सुधार न हो। चूँकि जिनको आप त्रुटि कह रहे हैं कोई भी सुधार नहीं सकता है अतः यह स्वयं सिद्ध है कि इनका बनाने वाला सर्वज्ञ कर्त्ता है।

जैनधर्म जिन तीर्थंकरों को सर्वज्ञ मानता है उनकी सर्वज्ञता क्या इसी कसौटी पर आधारित है? यदि यही आपकी बताई कसौटी उनकी सर्वज्ञता की है तो फिर उनके विरोधी क्यों उत्पन्न हुए, बकरी के गले में स्तन क्यों हुआ? और सोने में सुगन्ध, गन्ने पर फल, एवं चन्दन में पुष्प वे क्यों नहीं बना देते? यदि वे नहीं बना सकते हैं तो आपकी परिभाषा भी ग़लत हुई और वे सर्वज्ञ भी आप के ही विचार से नहीं ठहरते। यदि वे बना सकते हैं तो बनाकर दिखा ही देवें।

(ज) दीन, निर्बल प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाले दुष्ट लोग स्वभाव से ही दुष्ट नहीं उत्पन्न होते हैं। वे अपने कर्मों से उत्पन्न

होने के बाद ही दुष्ट बनते हैं। कर्मों के करने की स्वतंत्रता में दयालु ईश्वर बाधक नहीं। ईश्वर की दयालुता का यह तात्पर्य कभी भी नहीं कि वह जीवों के स्वातंत्र्य में बाधक बने अथवा उनके भोग के विषयों में उनका साथी बने। यदि दयालुता केवल निर्बलों को दुःख पहुँचाने वालों से बचाना मात्र है तो फिर जहाँ निर्बल अपनी शक्ति के अनुसार सबल को दुःख पहुँचाता है वहाँ पर क्या हो? यदि ईश्वर दयालु होने से दीन, निर्बलों, और सबलों सभी को मिटा दे तो फिर संसार में कोई रह ही नहीं सकेगा। संसार विना प्राणियों का हो जावे।

सर्प, सिंह, बाघ आदि योनियां हैं जो अपने कर्मों के फलानुरूप व्यवस्थापित हैं। दयालु का कार्य उनको मिटा देना नहीं है। उनसे लाभ भी तो है। ये सभी प्राणी स्वभाव से ऐसे नहीं जैसा आप समझ रहे हैं। ये अपने बच्चों से तो प्रेम करते ही हैं। थोड़ी देर के लिए यदि दुर्जन-तोषन्याय से आप की बात को कोई मान ले तो फिर यह प्रश्न भी तो उठ खड़ा होगा कि कीड़ों को मरने के भय से मुख पर पट्टी बांधने वाले और खटमल आदि को स्वयं न मारने का दिखावा करके भी मनुष्य का रक्त चुसवा देने वाले जैनधर्मी एवं उनके तीर्थंकर लोगों ने दुष्टों को, सर्प आदि को क्यों संसार में रहने दिया? यदि यह कहें कि इन्हें किसी भी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता है तो फिर आप के प्रश्न का कोई तात्पर्य ही नहीं रह जाता है। यदि यह कहें कि इनको नष्ट करने में अदयालुता है तो फिर दयालु ईश्वर की दयालुता के खण्डन में यह आप का तर्क किस प्रकार लागू है। दयालुता किसी दूसरे के कर्म की अपेक्षा नहीं रखती है। ईश्वर की दया सब पर रहती है। उसकी दया द्वेष और राग से प्रभावित नहीं हैं।

(झ) सर्वशक्तिमान् ईश्वर जगत् का निर्माता नहीं है क्योंकि संसार में अनेक अन्याय, अत्याचार, उनके करने वाले जीव दीख पड़ते हैं–यह ऐसा तर्कतीर है कि जिसका कोई लक्ष्य ही नहीं। जगत् के

निर्माता की सर्वशक्तिमत्ता के साथ अन्याय, अत्याचार और उनके करने वाले जीवों का व्याप्ति सम्बन्ध जो आप नियत कर रहे हैं वह बनता ही नहीं। क्या जहां पर अन्याय अत्याचार और उनके करने वाले जीव न हों वहीं पर सर्वशक्तिमत्ता पाई जावेगी। एक अच्छे शासक के राज्य में यदि अन्याय, अत्याचार और उनके करने वाले जीवों का अभाव है तो वह क्या इतने मात्र से सर्वशक्तिमान् कहा जावेगा। जैनमत में सिद्धि-प्राप्त जीव-सर्वशक्तिमानों के रहते हुए यह अन्याय और अत्याचार तथा उनके करने वाले जीव क्यों कर विद्यमान हैं। जीव वस्तुत: कर्म करने में स्वतंत्र है और फल भोगने में परतंत्र है। अत: स्वतन्त्रता से जीव अन्याय और अत्याचार कर सकते हैं, भले ही यह एक अप्रशस्त कर्म है। सर्वशक्तिमान् उन जीवों की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता है। यदि वह इसमें दखल देने लगे तो कर्मों के फल का भोक्ता भी उसी को होना पड़े। उसकी भी हालत जैनियों के सर्वशक्तिमान् जैसी ही बन जावे। जो अभीष्ट नहीं। अन्यायी से अन्यायी और अत्याचारी से अत्याचारी जीव भी परमेश्वर की व्यवस्था में इन अपने कर्मों के फल भोगने के लिए विवश है अत: परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध ही है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही जगत् का कर्त्ता हो सकता है कोई असर्वशक्तिमान् नहीं। प्रत्येक जीव चाहे वह अन्यायी अत्याचारी हो चाहे साधु स्वरूप और दयालु हो संसार में अपने कर्मों का फल भोग रहा है अथवा मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है। उसके कर्म फलानुसार शरीर आदि की रचना सर्वशक्तिमान् ही कर सकता है--असर्वशक्तिमान् नहीं। कोई भी जीव अपने कर्म का फल भोगने के लिए शूकर वा सिंह की योनि में जाने का अधिकारी है। क्या इस शूकर वा सिंह के शरीर को कोई असर्वशक्तिमान् बना सकता है। कदापि नहीं। अत: यह सर्वथा ठीक है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही संसार का कर्त्ता है। जैन-धर्मी-साधु मुख पर पट्टी बांध रखते हैं कि जिससे श्वास आदि की गर्मी से कीड़े आदि न मरें। फिर भी प्रति-दिन उन्हीं के कार्यों

से पता नहीं कितने कृमि कीट मृत हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में यह उन जन्तुओं के प्रति अन्याय वा अत्याचार है या नहीं। यदि है तो क्या यह कोई सर्वशक्तिमान् सर्वथा मिटा सकता है। यदि हां! तो क्या इसे मिटाने के लिए इन पर किया गया व्यवहार अत्याचार न होगा। यदि अत्याचार को मिटाने के लिए अत्याचार बना रहा तो फिर यह अत्याचार सर्वशक्तिमान् हुआ वा उसका मिटाने वाला। यदि आप यह माने कि इस प्रकार के अत्याचार को सर्वथा कोई सर्वशक्तिमान् नहीं मिटा सकता है तो फिर आपका पक्ष अपने आप ही गिर जाता है। अतः अन्याय, अत्याचार और उनके करने वाले जीवों को मिटाने के साथ ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को न जोड़ना चाहिए। जीव के स्वतंत्रता से किये जाने वाले कर्मों के करने वा कराने एवं न करने वा न कराने और जीवों की स्वतन्त्रता के क्षेत्र में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को नहीं घसीटना चाहिए।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को अपने इस तर्क के उठाने से पूर्व सर्वशक्तिमान् का अर्थ भी तो करना चाहिए था। बिना उसके व्यर्थ के तर्क का कोई लाभ नहीं। सर्वशक्तिमान् उल्टा-सीधा सब कुछ कर सके——ऐसा नहीं।

(ञा) आनन्दस्वरूप ईश्वर जगत् का बनाने वाला नहीं हो सकता——यह भी तर्क निराधार और बेकार है। आनन्दस्वरूपता के साथ जगत्कर्तृत्व के विरोध का कोई प्रमाण भी तो देना चाहिए था। जहाँ परमेश्वर स्वभावतः आनन्दस्वरूप है वहाँ वह जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता भी है अतः आनन्द के साथ उसके अपने गुणों में यह जगत् का बनाना आदि भी है। आनन्द गुण कर्तृत्व आदि गुणों का बाधक है, यह कल्पना भी बिना शिर पैर की होगी। प्रमाण के बिना किसी बात को कहना विज्ञ के लिए शोभास्पद नहीं होता—अविज्ञ तो कुछ भी कह सकता है।

"जैसे मुक्त जीव" यह दृष्टान्त भी सिद्ध नहीं है। मुक्त जीव का

ग्रानन्द पूर्णानन्द-स्वरूपता से नहीं है। मुक्त जीव ग्रानन्द को प्राप्त तो किए हुए है परन्तु वह ग्रानन्दस्वरूप नहीं। उसका यह ग्रानन्द स्वरूप एवं स्वभाव से नहीं है।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता से प्रष्टव्य है कि मुक्ति ग्राप के मत में जीव का स्वाभाविक गुण है वा नैमित्तिक। यदि स्वाभाविक है तो सारे जैनी भाइयों के जीव वर्तमान ग्रवस्था में बन्धन में क्यों ग्राये ? इससे मुक्ति जीवों का स्वाभाविक गुण नहीं मालूम पड़ती है। यदि नैमित्तिक गुण है तो वह सदा नहीं रह सकती। उस ग्रवस्था से पुनः समयान्तर में बन्धन की ग्रवस्था में ग्राना पड़ेगा। साथ ही यह भी बताना पड़ेगा कि वह निमित्त से प्राप्त होने वाली मुक्ति किस निमित्त से प्राप्त होती है। मुक्ति में मिलने वाला ग्रानन्द जब जीव का स्वाभाविक गुण नहीं तो फिर किसका गुण है ? यदि जीवों से इतर किसी का गुण है तो वही ग्रानन्दस्वरूप ईश्वर है। मुक्त जीव का दृष्टान्त यहाँ पर ठीक नहीं है। मुक्त जीव ग्रापके कथनानुसार कुछ भी नहीं करता, वैसे ही ईश्वर भी ग्रानन्दस्वरूप है तो कुछ नहीं करता है—यह ग्राप की चातुरी ग्राप को ही ले डूबेगी। मुक्त जीव कुछ नहीं करता है, केवल ग्रानन्द का भोग करता है। यह ग्रानन्द उसको पहले के करने से मिला है। मुक्ति में ग्रानन्द भोगातिरिक्त कुछ नहीं करता है ग्रतः उसे उस ग्रानन्द की ग्रवस्था से समयान्तर में वापस ग्राना पड़ता है। परन्तु परमेश्वर का ग्रानन्द ऐसा नहीं कि उसे छोड़कर कभी वह बन्धन धारण करे। मुक्त जीव को मुक्ति से पूर्व बन्धन था ग्रौर बाद में भी बन्धन होगा। परन्तु परमात्मा को ऐसा नहीं होता है। इसलिए उसके साथ मुक्त जीव का दृष्टान्त नहीं घटता है।

(ट) ईश्वर ने जब कि संसार को बनाया तो ईश्वर को किसने बनाया ? यह तर्क तो ऐसा है कि जिसके कर्त्ता को किसी ग्रद्भुतालय में रखना चाहिए। ग्ररे भाई ! बनी हुई वस्तु के लिए बनाने वाले का प्रश्न उठता है। जो वस्तु बनी हुई ही नहीं है उसके बनाने वाले

का क्या प्रश्न। संसार बना हुआ है अतः उसका बनाने वाला ईश्वर है। परन्तु ईश्वर बनी हुई वस्तु नहीं है, अनादि नित्य है अतः उसका कोई बनाने वाला नहीं है। यह तो बात वैसी ही हुई कि आदमी का हाथ क्यों उठता है? मन उठाता है। मन को कौन उठाता है? आत्मा। पुनः आत्मा को कौन उठाता है? उत्तर होगा कि यही उठाने वाला है। उसका कोई उठाने वाला नहीं।

जिस प्रकार संसार कार्य है उसी प्रकार ईश्वर भी कार्य क्यों नहीं? यह तर्क भी हास्यास्पद है। घड़ा कार्य है अतः घड़ा बनाने वाले की आत्मा भी कार्य हो--यह आवश्यक नहीं। इसी प्रकार संसार तो कार्य है परन्तु उसका उपादान कारण प्रकृति और उसका निमित्त कारण परमेश्वर कार्य नहीं। आप का तर्क तो ऐसा ही है कि घोड़ा घोड़ा है तो बैल घोड़ा क्यों नहीं? दर्शन विद्या और तर्क का कार्य है कि जो वस्तु जैसी हो उसको उसी प्रकार की बतावे। नित्य अनादि वस्तु को कार्य बताना और कार्य को नित्य अनादि बताना उनका कार्य नहीं। यह तो घोर अज्ञान है। यह युक्ति भी ठीक नहीं कि यदि ईश्वर को किसी ने नहीं बनाया तो फिर जगत् को किसी ने नहीं बनाया। यह तो ऐसी ही बात होगी कि कुम्हार की आत्मा को किसी ने नहीं बनाया तो फिर घड़े को भी किसी ने नहीं बनाया। परन्तु घड़े का बनाना प्रत्यक्ष देखा जाता है। संसार की वस्तुओं में बनना बिगड़ना प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसका किसी भी प्रकार अनादि-निधन होना सिद्ध नहीं हो सकता है। जब ईश्वर को ही सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता नहीं मानते और जानते हैं तो उसके समान जगत् को अनादिनिधन किस प्रकार सिद्ध करते हैं। यह भी एक विडम्बनामात्र है।

(ठ) मूले मूलाभावादमूलं मूलम् (सांख्य १।६७) अर्थात् कारण का कारण नहीं होता है--इस नियम को जब आपने स्वीकार कर लिया और यह भी मान लिया कि यह उपादान कारण के लिए है कि उपादान कारण का उपादान कारण नहीं होता, तो फिर प्रकृति

का कार्य होने से जगत् को भी कार्य मान लिया। क्योंकि जब जगत् का उपादान कारण प्रकृति है तो फिर जगत् उसका कार्य ही होगा। वह फिर अनादि-निधन किस प्रकार हो सकता है। यह तो बात ऐसी ही है कि चौबे जी गए थे छब्बे बनने और दो घर से भी देकर दुबे बन गए। जब परमाणुरूप प्रकृति को जगत् का उपादान कारण आप स्वीकार कर रहे हैं तो जगत् को अनादिनिधन कहना वदतोव्याघात दोष है। सांख्य का यह नियम वस्तुतः कारण मात्र के लिए है। जिस प्रकार मूल उपादान का कोई भी दूसरा मूल उपादान नहीं होता है उसी प्रकार मूलनिमित्त कारण का भी कोई दूसरा निमित्त कारण नहीं होता है। घड़े के निमित्त कुम्हार का दृष्टान्त एकान्तिक है। परन्तु क्या आप बता सकते हैं कि कुम्हार की आत्मा का कारण कौन सा है? कुम्हार के कारण उसके माता-पिता हैं--यह लिखते समय आप को यह भी तो बताना चाहिए था कि वे किस प्रकार के निमित्त कारण हैं। निमित्तकारण में इच्छापूर्वक कर्त्तृत्व, ज्ञानपूर्वक कर्त्तृत्व पाये जाते हैं और उसका स्वरूप कार्य में नहीं आया करता है। परन्तु माता-पिता के रोग, रूप, आदि सन्तान में आते हैं अतः वे निमित्त कारण नहीं है। फिर कुम्हार का निमित्त कारण कौन है? इसका उत्तर होगा कि परमेश्वर कुम्हार का निमित्त कारण है। ऐसा स्वीकार करने पर आप उसी वस्तु को मानने को बाध्य हो गए कि जिसका आप खण्डन कर रहे हैं। परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है और उसका कर्त्ता है। उसके उत्पन्न किये जगत् में मनुष्य भी उसके नियम के अन्तर्गत अपने उपयोग की वस्तुओं का निर्माण कर सकता है। परन्तु वह जगत् का मूल निमित्त कारण वा कर्त्ता नहीं है। कारण का कोई कारण नहीं होता--यह नियम इन मूलोपादान और मूलनिमित्त आदि कारणों के विषय में है।

यदि ऐसा न माना जावे तो आपकी अपनी ही बात विना शिर-पैर की बन जाती है। आपने यह तो माना ही है कि उपादान

का उपादान नहीं होता है परन्तु आपका दिया घड़े का दृष्टान्त आपके इस विचार के भी प्रतिकूल जाता है। घड़े का उपादान कारण चाक पर चढ़ा मिट्टी का लोंदा है और उसका भी उपादान कारण पृथिवी है। पृथिवी का भी उपादान कारण तन्मात्रा है और उसका भी उपादान कारण प्रकृति है। फिर आपका माना सिद्धान्त कहाँ रह गया ? अतः तर्क की खड्ग को समझ बूझकर न चलाने पर चलाने वाले को ही उसका आखेट बनना पड़ता है। इसलिए सांख्य का प्रतिपादित नियम मुख्य उपादान और मुख्य निमित्त आदि कारणों के लिए है। 'प्रकृति-विकृति' अर्थात् विकृति वाले उपादान तथा 'उत्पन्न कर्त्ता' आदि के लिए नहीं है।

(ड) महर्षि ने प्रकृति से यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ इसका संक्षिप्त क्रम सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में दे दिया है। प्रत्येक विवरण का वर्णन दर्शन का ही विषय नहीं है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि के वि य में विज्ञान से पता लगाना चाहिए। मूल सिद्धान्त वही ठहरेंगे जो सत्यार्थप्रकाश में वर्णित हैं। अप्राप्त को प्राप्ति की इच्छा होती है। ईश्वर के लिए कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है कि उसे इच्छा हो। अतः उसमें इच्छा नहीं बल्कि 'ईक्षण' है। ईक्षण का अर्थ है प्राप्त वस्तु को कार्य में लगाने का ज्ञानपूर्ण प्रयत्न। ईश्वर में ज्ञान और बल की क्रिया स्वाभाविक है। वही ईक्षण है। उसमें यदि कोई इच्छा का व्यवहार करता है तो इसका तात्पर्य ईक्षण से है। सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास में निम्न शब्द लिखे मिलते हैं :-

"वैसे ही प्रकृति, परमाणुओं का ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये विना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्यसिद्धि के लिए विशेष पदार्थ नहीं बन सकते।"

यहाँ पर ज्ञान और युक्ति = योजना का स्पष्ट ही वर्णन है। परमेश्वर का ज्ञान योजना (Purpose & design) पर कार्य करता है और सूर्य, चन्द्र आदि जगत् प्रकृति से बनता है। जब तक शास्त्रीय प्रक्रिया को पूर्णतया समझ न लिया जावे केवल अपनी कल्पनाओं से

तर्काभास के डोले में उड़ते रहने से कोई परिणाम निकलने का नहीं। सत्यार्थदर्पण के लेखक का कार्य ऐसा ही है।

(ढ) जब पूर्व यह बता दिया गया है कि ईश्वर में ईक्षण है और उससे वह जगत् को प्रकृति में बनाता है तो फिर बार-बार इच्छा की रट लगाने का क्या लाभ है। ज्ञानशून्य परमाणुओं पर ईश्वर का ज्ञानपूर्ण प्रयत्न अथवा ईक्षण कार्य करता है जिसे परमाणु से लेकर जगत् पर्यन्त सभी को सुनना पड़ता है। यह सुनना कान से नहीं होता है। नियम में रहना भी सुनना ही है। प्रकृति, परमाणु उसके नियम और नियंत्रण में रहते हैं--यही उनका उसकी आज्ञा का सुनना है। परमाणुओं एवं प्रकृति से जगत् का बनाने वाला कभी सशरीर कर्त्ता नहीं हो सकता है। वह हाथ से सूक्ष्म परमाणुओं को न पकड़ सकता है और न मिला सकता है। परमाणु जड़ होने से अपने आप भी नहीं जुड़ सकते हैं। आपकी लीला विचित्र है। आपका मन्तव्य क्या है और क्या अमन्तव्य है इसका भी तो कुछ पता आपको होना चाहिए था। परस्पर विरोधी बातें आपके ही पल्ले आ पड़ी हैं। सशरीर जगत्कर्त्ता का 'ख' भाग में पूर्व ही निराकरण कर दिया गया है। अतः यहां पर विस्तार देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

(ण) स्वामी जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में "सत्वरजस्तमसाम्" सांख्यसूत्र का अर्थ करके सृष्टि रचना का विषय बताया है। सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया को स्वीकार किया है--यह भी ठीक है। वहां पर चौथी श्रेणी आदि का तो उल्लेख नहीं है। हाँ! यह अवश्य बताया गया है कि पंच तन्मात्राओं से पंच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। परन्तु आकाश की उत्पत्ति के विषय में कोई आपत्ति करने से पूर्व उक्त लेखक को यह भी देख लेना चाहिए था कि इस विषय में अन्यत्र और क्या लिखा है और आकाश का स्वरूप क्या है। बिना ऐसा किये केवल अटकल-पच्चू मारने से तो कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। सत्यार्थ

प्रकाश में उसी प्रसंग में निम्न शब्द पड़े हैं--

"उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है, वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि विना आकाश के प्रकृति परमाणु कहां ठहर सकें ?"

इन पंक्तियों में स्वयं सत्यार्थदर्पण के लेखक की शंका का समाधान मिल जाता है। परन्तु थोड़ा सा विचार यहाँ पर और भी किया जाता है। आकाश का गुण शब्द है। शब्द जहाँ गुण है वहां तन्मात्रा भी है। तन्मात्रा का अर्थ 'उसकी मात्रा' अर्थात् उसका कारण है। जब तक शब्द का उद्भव न हो आकाश का तब तक परिज्ञान नहीं हो सकता है। अतः शब्द के उद्भव-युक्त आकाश का परिज्ञान उसकी तन्मात्रा के अनन्तर प्रकृति में होता है। यही उसकी उत्पत्ति है। निष्क्रमण और प्रवेश आकाश के लिङ्ग हैं। इससे यह प्रकट है कि आकाश अवकाश है। जब तक परमाणुरूप प्रकृति के द्रव्य उसमें भरे हैं अवकाश का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। प्रकृति के परमाणु एक दूसरे से स्पर्श परमाणुओं के साथ ऐसे लगे हुए हैं कि उनके मध्य तनिक भी अवकाश का भान नहीं होता है। जब उन परमाणुओं को कार्य-पदार्थ के रूप में परिणत करने के लिए लगाया जाता है तब अवकाश का भान होता है। यही आकाश की उत्पत्ति है। इस दार्शनिक तत्व को न समझने से ऐसी शंका उक्त लेखक ने कर डाली। जिस प्रकार उत्पत्ति है उसी प्रकार प्रलय भी है।

परमात्मा को ठहरने के लिए अवकाश की आवश्यकता नहीं है। वह सूक्ष्मतम है, और है स्वयम्भू एवं सर्वाधार। उसके ठहरने के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। रही बात शब्द की उसके समझने के लिए भी बुद्धि होनी चाहिए। यदि आकाश न होता तो कोई भी विज्ञान शब्द की लहरें और शब्द को नहीं पैदा कर सकता था। संयोग से, विभाग से, और शब्द से शब्द पैदा होता है। टेलीफोन, अथवा फोनोग्राम से जो शब्द की लहरें अनुभूत होती

हैं वे शब्द से उत्पन्न होती हैं अथवा इन तीनों में से होती हैं। टेली-फोन वा फोनोग्राम केवल उन तरङ्गों के सुनने वा पकड़ने के साधन मात्र हैं।

(त) यहां पर सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की अद्भुत प्रतिभा का प्रमाण मिल रहा है। वह महत्तत्व को जीव का गुण बता रहा है। महत्तत्व अन्तःकरण है। उसके अर्थ में भी बुद्धि पद का प्रयोग होता है और ज्ञान के अर्थ में भी सांख्यशास्त्र की परिभाषा में बुद्धि अन्तः-करण है और प्रकृति का कार्य है। जिस प्रकार मन अन्तः करण है और प्राकृतिक है। बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ आदि सभी प्राकृतिक हैं और जड हैं अतः इनके जड़ प्रकृति से उत्पन्न होने में कोई आपत्ति नहीं। महत्तत्व वा बुद्धि जीव का गुण नहीं। क्या लेखक महोदय बता सकेंगे कि बुद्धि जीव का कौन सा गुण है--नैमि-त्तिक अथवा स्वाभाविक। यदि नैमित्तिक है तो फिर वह किसके निमित्त से आया, यह भी बताना पड़ेगा। यदि स्वाभाविक है तो बताना पड़ेगा किस आत्मा का स्वाभाविक गुण है। नित्य आत्मा का वा जैनियों द्वारा माने गए संकोच-विकास वाले मध्यम-परि-माण वाले आत्मा का जो कि वस्तुतः अनित्य ठहरता है। यदि नित्य आत्मा का गुण है तो फिर बुद्धि का अन्तःकरण अर्थ न होकर ज्ञान अर्थ लेना पड़ेगा। यदि मध्यम-परिमाण वाले अनित्य आत्मा का गुण है तो फिर स्मृति आदि की आपत्तियां पड़ेंगी और यह अनित्य ठहरेगा।

न्याय की प्रक्रिया में बुद्धि और ज्ञान एकार्थक हैं। इसी लिए न्याय सूत्र में कहा गया है कि बुद्धि और ज्ञान अनर्थान्तर हैं (बुद्धिर्ज्ञान-मित्यनर्थान्तरम्, न्यायसूत्र)। न्याय में ज्ञान जीव का गुण माना गया है। अतः बुद्धि की परिभाषा वहाँ पर ज्ञान है। वह महत्तत्त्व वा अन्तःकरणात्मक बुद्धि नहीं है। स्वामी जी ने जिस महत्तत्व की उत्पत्ति का सत्यार्थप्रकाश में उल्लेख किया है और सांख्य सिद्धान्तों में जिसका उल्लेख है वह जीव का गुण नहीं है। वह

अन्तःकरण है। इसलिए यह असंभव बात नहीं है। सत्यार्थदर्पण के लेखक को यहाँ पर तो असंभवता बड़ी जल्दी दिखाई पड़ी जो सर्वथा ही निराधार है परन्तु अपने घर का ध्यान ही नहीं रहा। जैन-धर्म में जीव मध्यम परिमाण है। जब वह चींटी के शरीर में जाता है तब उतना बड़ा और हाथी अथवा ह्वेल के शरीर में जाता है तब उतना बड़ा बन जाता है। इस प्रकार उसमें संकोच विकास होने से वह निश्चित अनित्य ठहरता है। क्या इसी जीव का गुण बुद्धि है। जब जीव का ही अस्तित्व डावांडोल है तो उसके गुण की क्या स्थिति होगी। जिससे आपका माना जीव उत्पन्न होगा उसी से बुद्धि भी उत्पन्न हो जावेगी, इसमें आप के लिए क्या अन्तर पड़ेगा ?

(थ) स्वामी जी ने असंभव सृष्टि-रचना का ढाँचा नहीं लिख मारा है बल्कि वह आपकी बुद्धि में आ ही नहीं सका। आपने तो कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुँड़वा जोड़ा की कहावत चरितार्थ की है। अहंकार से सूक्ष्मभूत और पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा पांच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का जो प्रकरण है वह महाप्रलय के बाद प्रकृति से उत्पन्न होने वाली सृष्टि का क्रम है। ये हाथ पाँव आदि शरीर के स्थूल अङ्ग नहीं हैं। ये इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियाँ हैं। स्थूल हाथ पाँव आदि जिन शक्तियों से कार्य करते हैं वे इन्द्रिय शक्ति रूप हाथ पाँव आदि हैं। स्थूल हाथ पांव आदि जो मांस और रुधिर तथा अस्थि आदि से युक्त हैं उनका यहां पर वर्णन नहीं है। महत्तत्त्व, अहंकार और मन अन्तःकरण हैं तथा पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रयाँ आदि बाह्यकरण हैं। इनमें पांच तन्मात्राओं को मिलाने से यह सूक्ष्म शरीर कहलाता है। इससे स्थूल शरीर का ग्रहण नहीं होता है। ये स्थूल शरीर को चलाने की शक्ति हैं परन्तु स्वयं स्थूल शरीर नहीं। प्रत्येक कल्प के आदि में प्रकृति के क्रम से यही पैदा होते हैं। इनको परमेश्वर द्वारा स्थूल शरीर में स्थापित किया जाता है। पुनः जब तक प्रलय नहीं होता यह

सूक्ष्म शरीर बना रहता है। जब कि स्थूल शरीर का मृत्यु से विनाश होता रहता है। कल्प के आदि में शरीर की रचना अमैथुनी होती है अतः उसमें माता-पिता के रजोवीर्य के क्रम की आवश्यकता नहीं होती है। परमेश्वर अमैथुनी सृष्टि के शरीरों को विना माता-पिता के उत्पन्न करता है और बाद में पुनः मैथुनी सृष्टि चलती है। अतः यहाँ पर हाथ पांव आदि के शरीर से पूर्व पड़े रहने आदि का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। वृक्ष, औषधि अन्न और वीर्य आदि का क्रम मैथुनी सृष्टि का है। अतः इसको उस पूर्व कहे क्रम से मिलाना अविद्या का द्योतक है, विद्या का नहीं।

सत्यार्थप्रकाश के सृष्टि-प्रकरण को ध्यान से पढ़ने और समझने वाला व्यक्ति कभी भी ऐसी उल्टी बातें नहीं कर सकता। सत्यार्थ-प्रकाश में महर्षि दयानन्द के वाक्य निम्न प्रकार हैं :—

"जब सृष्टि का समय आता है तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृति रूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्त्व और जो उससे कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न भिन्न पांच सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, पांच ज्ञान इन्द्रियाँ, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्म इन्द्रिय हैं और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल होता है। और उन पंच तन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियाँ, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है।

परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती। क्योंकि जब स्त्री पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उन में जीवों का संयोग कर देता है तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है" (सत्यार्थ प्रकाश ८ समुल्लास)

यहाँ पर "परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती···आदि वाक्यों

से महर्षि ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि उनका क्या आशय है। परन्तु यह समझ में तो उस के आ सकता है जो विचारक हो। केवल हठात् कोई उल्टी कल्पना करके केवल खण्डन करने वाले को कुछ भी समझ से मतलब ही क्या ? हाथ, पाँव का अर्थ वहाँ पर इन्द्रियाँ हैं न कि शरीर के अङ्ग, हाथ, पाँव--यह ऊपर लिखा जा चुका है। परन्तु जो तर्क से बचने के लिए उत्पन्न सृष्टि को भी अनादि मान बैठा है उसकी समझ में यह वस्तु नहीं आ सकती है। हाथ, पाँव आदि इन्द्रिय शक्तियाँ जब प्रकृति से उत्पन्न होती हैं तब परमेश्वर अमैथुनी सृष्टि के क्रम से शरीर को भी उत्पन कर देता है। तथा उसमें उन्हें स्थापित कर देता है। अतः अलग रहने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। जब मैथुनी सृष्टि का क्रम चलने लगता है तब ये इन्द्रिय शक्तियाँ सूक्ष्म शरीर के रूप में मृत्यु के उपरान्त अपने आत्मा के साथ रहती हैं। अतः विना स्थूल शरीर भी वे आत्मा के साथ रहती हैं जब तक दूसरा स्थूल शरीर आत्मा को नहीं मिलता है। ऐसी अवस्था में उक्त लेखक की दिखाई गई असंभवता को कोई स्थान नहीं रह जाता है।

तनिक इस असंभवता को भी तो दूर कीजिए। जैन मत जीव को नित्य अनादि मानता है अथवा अनित्य सादि ? यदि नित्य और अनादि मानता है तो फिर मृत्यु के बाद शरीर के नष्ट होने पर इन्द्रियाँ उसके साथ नष्ट हो जाती हैं अथवा जीव के साथ रहती हैं। यदि नष्ट हो जाती हैं तो किए हुये कर्मों के संस्कार कहाँ रहते हैं? यदि शरीर के साथ नष्ट न होकर जीव के साथ रहती हैं तो आपके तर्कानुसार विना शरीर किस प्रकार रहती हैं ? यदि जीव अनित्य और सादि है तो किये कर्म के फल का अभाव और विना किये की प्राप्ति का दोष उसमें आता है जिसका जैनधर्म कभी भी निवारण नहीं कर सकता है।

(द) यह लिखना कि जड़ पदार्थ अपने आप क्या अद्भुत कार्य कर लेते हैं–वाक्य ही यह बताता है कि चेतन के विना वे अद्भुत

कार्यों के करने में असमर्थ हैं। "अद्भुत कार्य" के अद्भुतार्थ पर ही विचार कर लीजिए। कोई कार्य अद्भुत क्यों है ? क्या वह इसलिए अद्भुत है कि वह अभूत है अर्थात् कभी नहीं हुआ है ? अथवा इसलिए अद्भुत है कि भविष्य में कभी नहीं होगा। यदि प्रथम बात को स्वीकार किया जावे तो अद्भुत कार्य का अर्थ वह कार्य होगा जो कभी हुआ न हो। ऐसा कार्य जड़ पदार्थ कर सकते हैं, इसका कोई भी उदाहरण दीजिए। भाप का बनना क्या इस अद्भुत की कोटि में आता है ? यह कार्य सदा होता रहता है कि कभी अवरुद्ध होकर पुनः समय पर होता है? यदि सदा ही होता रहता है तो फिर ठण्डी के समय में क्यों नहीं होता है ? यदि सदा नहीं होता है अवरुद्ध होकर होता है तो जड़ में अवरुद्ध होना और पुनः होना यह कार्य नहीं हो सकता है। सदा किसी अद्भुत कार्य की आवृत्ति भी जड़ का कर्म नहीं हो सकती है। जगत् के पदार्थों में कोई भी ऐसा नहीं है जो पहले कभी न हुआ हो और अब हो।

यदि अद्भुत कार्य का अर्थ वह कार्य है जो भविष्य में कभी नहीं होगा तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि भाप जिस प्रकार अब गर्मी से बनती है भविष्य में भी ठीक उसी प्रकार बनेगी। जल का जल रूप में होना ही विज्ञान के अनुसार सिद्ध करता है कि उसमें कुछ ताप विद्यमान है। यदि ऐसा न होता तो उसे बर्फ बन जाना चाहिए। परन्तु इस गर्मी से जल में वाष्प बनता दिखाई नहीं पड़ता। भाप बनने के लिए भी नियत मात्रा में गर्मी की आवश्यकता है। यह मात्रा जड़ अपने आप निर्धारित नहीं कर सकता है। अतः जड़ बिना चेतन की शक्ति के ऐसा कार्य नहीं कर सकता है। सूर्य आदि की गर्मी से वाष्प का बनना आदि जो अद्भुत कार्य हो रहा है वह परमात्मा के नियम के अन्तर्गत हो रहा है। वाष्प बनकर जल उड़ जाकर बादल बनता है और वह पानी के रूप में बरसता है परन्तु वह किसी के नलके वा घड़े में अपने आप नहीं चला आता है। जल-विभाग द्वारा किये जाने वाले पानी के वितरण कार्य को न तो भाप अपने आप

करती है, न पानी स्वयं करता है और न मेघ ही करता है। उसके लिए तो चेतन की ही आवश्यकता पड़ती है।

विस्फोटक पदार्थों से अग्नि लगकर बड़ी-बड़ी चट्टानें कोयले के रूप में हो जाती हैं परन्तू उनसे रेल के इंजन में कोयले न पड़ते हैं और न किसी मिल के इंजन में पड़कर उसे चलाते हैं। सोना और चाँदी आदि धातुवें बनती हैं परन्तु वे लोगों के घरों में प्रयुक्त होने वाले आभूषण के रूप में नहीं आ जातीं। इसी प्रकार कोयला स्वयं ईंटें नहीं पका देता और ईंटें अपने आप हमारे मकान नहीं बन जातीं। संयोग अथवा विभाग विना चेतने के होता नहीं है। संयोग करना अथवा विभाग करना चेतन के द्वारा हुआ करता है। पानी जमकर पहाड़ों पर बर्फ बन जाता है परन्तु हमारी फैक्टरियों में पानी अपने आप बर्फ बनता देखा नहीं गया। संसार में जितनी नियमित क्रिया भौतिक जगत् के पिण्डों में पाई जा रही है सब परमेश्वर के नियम और नियंत्रण के कारण है। जड़ ईंटों के अपने द्वारा संयोग से जब मकान नहीं बनता और जड़ कपड़े अपने आप कुर्त्ता और कोट आदि नहीं बनते तो परमाणु अपने आप संयुक्त होकर जगत् रूप में नहीं आ सकते हैं। प्रश्न तो यह है कि यह संयोग परमाणुवों का अपना धर्म किस प्रकार बन गया। मिट्टी का एक ढेला पार्थिव परमाणुवों के संयोग से बना। परन्तु उसका वियोग करके उसे परमाणु रूप में लाया जा सकता है। यदि संयोग ही परमाणुवों का धर्म है तो यह वियोग किस प्रकार उत्पन्न हुआ। यदि इसे भी परमाणुवों का ही धर्म माना जावे तो दो परस्पर विरोधी धर्म किसी जड़ पदार्थ में नहीं हो सकते हैं। इसलिए जगत् विना जगत्कर्त्ता के केवल परमाणुवों से अपने आप नहीं बन सकता है।

(ध) अग्नि के विस्फोट से भूकम्प शहर के शहर ध्वस्त कर देता है–यह लेख भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। भूकम्प शहर के शहर जब अधिक भयंकरता से घटित होता है तो ध्वस्त कर देता है। परन्तु पृथ्वी को ध्वस्त करने में समर्थ क्यों नहीं होता है? अग्नि से गांव के

गाँव जल सकते हैं परन्तु इस आधार पर अग्नि की आवश्यकता को नहीं खत्म किया जा सकता है। जल की लहरें बाढ़ में पता नहीं कितनी हानि कर देती हैं परन्तु इस आधार पर जल को अनावश्यक नहीं कहा जा सकता है । गाड़ी में भी घटना होने पर हानि होती है परन्तु गाड़ी बनाने वाला है नहीं अथवा है तो मूर्ख है--ऐसा नहीं कहा जा सकता है । बहुत बड़े भूकम्प बहुधा ज्वालामुखी के कारण बनते हैं। उस ज्वालामुखी का भी जगत् में उपयोग है। अतः उसकी रचना में भूकम्प आकर यदि हानि भी होती है तो उस आधार पर पृथ्वी के रचयिता परमेश्वर का न होना नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार ठण्डे और गर्म मुल्कों को सदा ठण्डा और गर्म रखना कोई ऐसी बात नहीं है कि जिस पर परमात्मा को कोसा जा सके। यह तो संसार का नियम है अतः वैसा ही रहेगा। जिसको न पसन्द हो वह ठण्डे वा सदा गर्म रहने वाले स्थानों में न बसे। परन्तु बसने वाले ऐसे स्थानों को पसन्द करते हैं । अतः केवल सत्यार्थदर्पण के लेखक की बुद्धि से इन्हें बुरा नहीं कहा जा सकता है। यदि यह कार्य परमात्मा का नहीं है तो क्या सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का है। क्या सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता वा दुनिया का कोई मानव सदा गर्म प्रदेश को ठण्डा और ठन्डे रहने वाले प्रदेश को गर्म कर सकता है। यदि हां तो फिर कर ही लेते। उनके माने मनुष्य-सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भी ऐसा नहीं कर सके। यदि नहीं कर सकते हैं तो फिर यही बात पर्याप्त है यह सिद्ध करनेके लिए कि वह परमात्मा का कार्य है। जड़ी, बूटियां, संखिया आदि अपने गुणानुसार समय, स्थान, मात्रा, प्रयोग, वीर्य, विपाक और परिणाम के अनुसार कार्य करते हैं। थोड़ी मात्रा में ली गई शराब अनभ्यासी पर नशा ला देती है परन्तु जिसकी आदत है उसको अधिक मात्रा भी बर्दाश्त होती है और नशा नहीं पैदा कर पाती। संखिया मारता भी है दवा के रूप में अमृत भी बन जाता है। अनेकों दवाइयां संखिये की बनती हैं। यही हाल अन्य

विषयों का भी है। बूटी घाव भरने में मदद करती है परन्तु घाव को वह नहीं भरती है ग्रात्मा भरा करता है। यह बात सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को मालूम नहीं ग्रत: जो भी चाहा लिख मारा। जो बूटियाँ कीडों को मारने वाली हैं उनके भी सड जाने पर उनमें भी कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। यह क्यों है ? इन सभी उदाहरणों में कोई भी ऐसा नहीं जो कि ईश्वर के न होने को सिद्ध कर सके। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने व्यर्थ में ही ग्रपनी पुस्तक का कलेवर बढ़ाने के लिए ये सारी व्यर्थ की बातें लिख मारीं।

(न) नर्मदा नदी में जितने पत्थर निकलते हैं वे प्राय: नदी के प्रवाह में ग्राप के कथन के महादेव तो बन जाते हैं परन्तु विष्णु ग्रौर षडानन नहीं बनते हैं। ऐसा क्यों है ? महादेव गोलमटोल तो बनते हैं परन्तु महादेव का नान्दी ग्रौर उस पर बैठे सर्पधारी महादेव नहीं बनते। नदी के प्रवाह में पत्थर का घिसकर गोला होना ग्रौर बात है ग्रौर योजनापूर्वक उससे विशिष्ट ग्राकार प्रकार की वस्तु की रचना होना ग्रौर बात है। नर्मदा में ग्राज तक न नान्दी ही बना ग्रौर न पार्वती ही बनी ग्रौर न गणेश ही बने। यदि नर्मदा गोलमटोल महादेव बना सकती है तो क्या वह तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ भी बना सकती है? ग्रत: जड़ पदार्थों का ग्रपना ग्रद्भुत कार्य जगन्नियन्ता की रचना के नियम के ग्रन्तर्गत तो हो सकता है परन्तु वह जगद्रचना के कर्त्ता के कार्य को नहीं कर सकता है। नहीं तो घर ग्रादि बनाने की क्या ग्रावश्यकता थी। वह भी जड़ पदार्थ ग्रपने ग्राप बना देते। कुम्हार की मिट्टी जब बिना कुम्हार के ग्रपने ग्राप घड़े नहीं बन सकती है तो जड़ पदार्थ परमेश्वर के विना ग्रपने ग्राप जगत् के पदार्थ कैसे बन सकते हैं। पत्थरों के बीच में बहुत काल तक किसी वस्तु के पड़े रहने से कोई बेल बूटा यदि बन गया तो इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि जैनमन्दिरों की मूर्त्तियों की नकाशी भी ग्रपने ग्राप बन जावेगी। यदि यह नहीं बन सकती है तो फिर इस तर्क के ग्राधार पर परमात्मा के रचयिता होने का खण्डन किस प्रकार किया जा सकता है ?

(प) भोजन के बाद शरीर के कल पुर्जे रस, रक्त आदि को तभी तक नियमानुसार करते हैं जब तक कि शरीर में जीवात्मा है। बिना जीवात्मा के शरीर अर्थात् मुर्दा शरीर में भी कल पुर्जे ज्यों के त्यों पड़े हैं परन्तु इन चीजों को नियमानुसार नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार विश्व में परमात्मा के नियम में जड़ पदार्थ अपने कार्य निमयानुसार करते हैं अन्यथा नहीं कर सकते हैं। किसी के पेट में टट्टी का बँधा होना, तथा बकरी की टट्टी का गोली के रूप में होने का भी तो कोई निमित्त है। क्या यह कार्य विना किसी निमित्त के हो रहा है। यदि विना निमित्त के है तो फिर सब में एक समान होना चाहिए परन्तु ऐसा है नहीं। यदि निमित्त है तो इसी प्रकार जगत् की रचना में भी प्रत्येक कार्य का निमित्त है। और सब का महान् निमित्त परमेश्वर है। जीवात्मा से युक्त शरीर में ही किसी विषमता से रोग भी होता है। मुर्दा शरीर में दाद आदि रोग होता देखा नहीं जाता है। फिर जड़ पदार्थ ही यह कार्य करते हैं—यह किस प्रकार निश्चित कर लिया?

रही बात संयोग की। जड़ पदार्थ में मनुष्य के द्वारा संयोग पाने की बात उतनी सीमा तक प्रभाव कर सकती है जितनी तक वह सृष्टि के नियम के अन्तर्गत मानव की शक्ति से साध्य है। जहाँ तक मानव की शक्ति से असाध्य सीमा वाले प्रभाव को सिद्ध करने की बात है वह परमेश्वर के द्वारा दिये गए संयोग का प्रभाव है। एक मनुष्य प्रकाश का गोला बना सकता है लेकिन वह सूर्य का गोला नहीं बना सकता है। जड़ पदार्थ में संयोग अपने आप होने की बात सिद्धान्तभूत नहीं। वे अपने आप विना किसी दूसरे निमित्त के संयुक्त नहीं हो सकते हैं। यदि वे अपने आप संयुक्त होते रहते तो सदा ही ऐसे अद्भुत कार्य होते रहते कि जिसका कोई वारपार नहीं होता। परन्तु संसार में प्रत्येक कार्य नियमपूर्वक है और ज्ञानपूर्वक है।

(फ) सृष्टि में प्रयोजन है अतः वह प्रयोजन विना तो है नहीं।

महर्षि ने जो प्रयोजन सृष्टि के दिये हैं वे इतने पूर्ण और अकाट्य हैं कि उन पर कटाक्ष करना अपनी ही दार्शनिक अनभिज्ञता का प्रदर्शन करना होगा। ईश्वर सच्चिदानन्द है और उसमें किसी वस्तु की न्यूनता नहीं है परन्तु सृष्टि का बनाना, रक्षण करना और समय पर पुनः निर्माणार्थ संहार करना उसका अपना स्वभाव है। यदि आनन्द उसका स्वभाव है तो यह कार्य भी उसका स्वभाव है। अतः वह सृष्टि-रचना आदि कार्यों को करता है। स्वामी जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश में इस सम्बन्ध में जो हेतु दिये हैं वे पूर्णतः सन्तोष-जनक हैं। वे तर्कसिद्ध, युक्तिसिद्ध और बुद्धिसिद्ध हैं। ईश्वर को कृतकृत्य कहना भी एक शब्दाडम्बरमात्र है। यदि इसका अर्थ 'सफल' है तो ईश्वर अपने कार्य और गुणों में स्वभावतः सफल है। सृष्टि रचना आदि कार्य उसकी स्वाभाविक कृतकार्यता हैं। उसकी कृतकार्यता इसी में है कि इन कार्यों को संसार में उसके अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता है और उसके ये कार्य स्वयं में पर्याप्त एवं परिपूर्ण हैं। कृतकृत्यता का यदि अर्थ यह है कि कोई कार्य करने को जिसमें शेष रह ही न गया हो तो यह गलत है। ईश्वर ऐसा कृतकार्य वा कृतकृत्य नहीं है। क्योंकि सृष्टि करना आदि तो उसका स्वभाव है और सदा चलता रहता है। कहीं भी स्वामी जी महाराज ने इस प्रकार ईश्वर को कृतकृत्य नहीं कहा है। अपने शब्द गढ़ कर ईश्वर को उससे विशेषणयुक्त करना और उसे दूसरे का मन्तव्य बताना—सर्वथा ही ठीक नहीं है। जरा बताइये तो आपके माने अर्थों में कहाँ पर स्वामी जी ने ईश्वर को कृतकृत्य माना है? यदि कहीं नहीं तो आपने यह क्यों लाकर स्वामी जी का मन्तव्य बना दिया।

महर्षि ने जो प्रयोजन सृष्टि के दिये हैं उनका यहाँ क्रमशः वर्णन और उस पर किये गए आक्षेपों का निराकरण किया जाता है—

१—परमात्मा की अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। ईश्वर में जगत् की रचना करने की जो विज्ञान, बल और क्रिया हैं वे भी जगत् की रचना से सार्थक

हैं। यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया कि ईश्वर के स्वाभाविक सामर्थ्य में सृष्टि रचना आदि कार्य हैं। जब ये स्वाभाविक सामर्थ्य हैं तो फिर इनका न होना कैसे हो सकता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं हो सकता है। यदि ईश्वर सृष्टि की रचना आदि कार्यों को न करे तो क्या उस स्थिति में सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता महोदय ईश्वर की स्वाभाविक शक्तियों की सार्थकता मानेंगे ? आँख का काम देखना है। यह उसका स्वभाव है। यदि आँख कुछ भी कभी न देखे तो क्या यह उसकी देखना शक्ति की सार्थकता और सफलता समझी जावेगी। यदि नहीं तो फिर यही बात ईश्वर के लिए भी है। आँख का प्रयोजन भी देखना है। यदि आँख देखे ही नहीं तो क्या यह प्रयोजन सफल समझा जावेगा ? कर्त्ता में कर्त्तृत्व धर्म स्वाभाविक है। उसकी सफलता और सार्थकता इसी में है कि वह कर्त्तृत्व को सम्पन्न करे। यदि वह कुछ करता ही नहीं हो तो क्या उसे कर्त्ता कहा जा सकता है। क्या संसार की कोई भी शक्ति ऐसा कर्त्ता बता सकती है जिसमें कर्त्तृत्व न हो। जिस प्रकार कर्त्तृत्व कर्त्ता का स्वभाव है और उसकी सार्थकता और सफलता करने में है, न करने में नहीं, इसी प्रकार जगत् की रचना, धारण आदि परमात्मा का स्वभाव है और इसकी सार्थकता और सफलता इसी में है कि जगत् की रचना और धृति आदि का कार्य होवे।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता के 'कृतकृत्य' पद को ही ले लीजिए। इसका अर्थ है कि "किया है कृत्य को जिसने वह कृतकृत्य है।" इस में यह स्पष्ट है कि किसी में कोई कृत्य है तभी उसके करने पर वह कृतकृत्य कहा जा सकेगा। यदि कोई कृत्य ही किसी में न हो तो क्या कोई 'कृतकृत्य' कहा जा सकता है ? क्या विना कृत्य वाला भी कृतकृत्य हो सकता है ? सर्वथा ही नहीं। अतः कृतकृत्य के लिए भी कृत्य का होना आवश्यक है। जिसका कृत्य अल्प है वह उतने के करने से कृतकृत्य माना जाता है और जिसका अधिक है वह उतने के करने से कृतकृत्य कहा जाता है। जिसका कृत्य सदा रहने वाला

और स्वाभाविक है वह सदा ही अपने कृत्य को करता रहे इसी में उसकी कृतकृत्यता है। परमेश्वर का 'कृत्य' सृष्टि रचना आदि उसके स्वभाव में होने से सदा रहते हैं अतः वह सदा इस कृत्य को करता रहता है।

कुम्हार में घड़ा बनाने का सामर्थ्य है। परन्तु विना घड़े को बनाये यह सामर्थ्य जाना नहीं जा सकता है। इसकी सार्थकता और सफलता इसी में है कि वह घड़ा बनावे। क्या किसी कुम्हार की घड़ा बनाने की क्षमता एवं शक्ति को घड़ा विना बनाये हुये ही सार्थक एवं सफल कहा जा सकता है। यही स्थिति ईश्वर की शक्ति की सफलता एवं सार्थकता की है। संसार के बनाने, धारण करने आदि में ही उसकी इन स्वाभाविक शक्तियों की सार्थकता है। अतः सृष्टि का यह प्रथम प्रयोजन सर्वथा ही सिद्ध है।

(२) जीवों का उपकार करना भी परमेश्वर का सृष्टि रचना में प्रयोजन है। जीवों का संसार में दुःखी आदि होना उनके कर्मानुसार है अतः उससे ईश्वर की दया में कोई अन्तर नहीं आता है। ईश्वर किसी को दुःखी वा सुखी अपनी तरफ़ से नहीं बनाता है। वह जीवों के कर्मानुसार ही उनको दुःखी एवं सुखी बनाता है। सर्वशक्तिमान् का कार्य यह नहीं कि जीव के कर्म करने की स्वतन्त्रता को छीने। उसने वेद में उपदेश कर दिया है कि बुरे कर्म नहीं करना चाहिए। फिर भी जीव यदि करता है तो उसका दण्ड उसे ईश्वर की व्यवस्था में भोगना पड़ता है। कर्म का यथायोग्य फल देना न्याय है। न्याय को न दया हटा सकती है और न न्याय दया को हटा सकता है। ईश्वर न्यायी भी है और दयालु भी। जीवों के कर्म की अपेक्षा न्याय में हुआ करती है। दया में किसी दूसरे के कर्म की अपेक्षा नहीं होती। अतः न्याय कर्त्ता के कर्म की अपेक्षा रखता है जब कि दया में वह अपेक्षा नहीं है। न्याय भी तो ईश्वर इसी दृष्टि से करता है कि जिस पर न्याय किया जा रहा है उसका सुधार हो कि वह खराब कर्मों को पुनः न करे। अतः न्याय करने में भी ईश्वर जीवों

पर दया करता है। इस लिए सृष्टि की रचना में ईश्वर का उपकार भी प्रयोजन है—यह सिद्ध है।

(३) जीवों के विविध कर्मों का फल देने के लिए सृष्टि की रचना करना—यह प्रयोजन भी सर्वथा ही युक्तियुक्त और सप्रमाण है। यदि सृष्टि रचना न की जावे तो विभिन्न योनियों में विविध प्रकार के सुख दुःखों आदि को भोगने की व्यवस्था न हो सके। इससे जीवों के विविध भले बुरे कर्मों का फल भी न मिल सके। कोई मनुष्य बनाया गया कोई पशु बनाया गया, कोई धनी और कोई दरिद्र बनाया गया—यह भेद ही बतलाता है कि ईश्वर में न्याय-प्रियता है। उसका न्याय इस बात से ही प्रकट है कि उसने यह भेद उन जीवों के कर्मों के आधार पर किया, स्वयं अपनी तरफ से नहीं। सभी धान २४ सेर की व्यवस्था यदि बर्ती जाती और सभी को समान बनाया जाता तो ईश्वर का न्याय नहीं बल्कि अन्याय कहा जाता। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को यह ज्ञात होना चाहिए कि टके सेर भाजी टके सेर खाजा अन्धेर का सिद्धान्त है, न्याय का नहीं। न्याय में तो यथायोग्य और यथाकर्म व्यवस्था होती है। आप कहते हैं कि सृष्टि रचना से पहले प्रलय की सूरत थी——इसका क्या सबूत है? परन्तु यह ज्ञात होना चाहिए कि सृष्टि-रचना का होना ही सबूत है कि उसके पूर्व प्रलय था। कोई मकान बनने से पूर्व बनी हुई अवस्था में नहीं था—यह स्वयं सिद्ध है। इसी प्रकार सृष्टि-रचना कहने से ही सिद्ध है कि उससे पूर्व वह सृष्टि की अवस्था में नहीं थी——प्रलय था। यदि कोई पूछे कि दिन प्रारंभ होने से पूर्व रात्रि थी—इसका क्या सबूत है? तो उत्तर स्पष्ट मिलेगा कि दिन से पहले रात्रि का होना स्वयं सिद्ध है। कोई भी अविकृत-मस्तिष्क इसके विपरीत नहीं कह सकेगा। आश्चर्य तो होता है सत्यार्थदर्पण-कर्त्ता की बुद्धि पर कि उसके प्रश्न में ही उसका उत्तर होते हुए भी वह स्वयं नहीं समझ रहा है।

(४) जीवों को मुक्ति प्राप्त करने के साधन प्रस्तुत करना भी सृष्टि-रचना का प्रयोजन है। जीव संसार में आते हैं और मुक्ति

प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यदि संसार न बनाया जावे तो मुक्ति प्राप्त करने के साधन भी जीव को न प्राप्त हो सकें। अतः जीवों को मोक्ष प्राप्त करने का अवसर देने के लिए परमेश्वर सृष्टि-रचना करता है। यह भी एक प्रयोजन है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखे गए सृष्टि रचना के समस्त प्रयोजन युक्ति संगत हैं। तथा सन्तोषजनक ही नहीं अतीव सन्तोषजनक हैं।

(ब) प्रथम सृष्टि में लोग युवा उत्पन्न होते हैं और वे विना माता-पिता के परमेश्वर द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं--इस सिद्धान्त में कार्य-कारण-भाव की कोई भी क्षति नहीं है। गेहूं के बीज से गेहूँ और मनुष्य से मनुष्य पैदा होने का नियम इसमें भंग नहीं होता है। माता-पिता उपादान कारण नहीं हैं अतः सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता है। उपादान कारण के विषय में यह नियम है कि कार्य का अपने उपादान में ही लय होता है। कोई भी मनुष्य मरकर माता-पिता में लय होता नहीं देखा गया है। आत्मा उसका अमर है। शरीर पृथिवी आदि तत्त्वों में लीन होता है अतः पृथिवी आदि ही उपादान कारण हुए। अतः इन्हीं उपादानों से परमेश्वर अमैथुनी सृष्टि के शरीरों को बनाता है। इसमें उपादान के नियम की कोई हानि नहीं।

महर्षि दयानन्द ने जो तर्क दिये हैं उनका उत्तर ही भला सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता दे देते। माता-पिता बच्चे तो पैदा करते हैं परन्तु युवा नहीं। सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाले युवा ही उत्पन्न होने चाहिए। यदि बच्चे उत्पन्न हों तो उनकी रक्षा के लिए युवा माता-पिता उत्पन्न करने पड़ेंगे। यदि बूढ़े उत्पन्न किए जावें तो आगे अपनी सन्तति नहीं चला सकते हैं। अतः बच्चे बूढ़े दोनों ही न उत्पन्न करके परमेश्वर ने युवा उत्पन्न किये। यह अगस्त्य आदि की उत्पत्ति की तरह असंभव नहीं है। आज भी मेढक, केंचुवे तथा इन्द्रगोप आदि पृथिवी से उत्पन्न ही होते हैं। क्या यह असंभव है? नहीं! जिस प्रकार यह संभव है वैसे ही

अमैथुनी सृष्टि में मनुष्यादि की उत्पत्ति भी संभव है।

रुपये के सांचे टकसालों में रुपये ढालते हैं, ईंट के सांचे से ईंटें ढलती हैं। परन्तु ये सभो सांचे पहने बिना सांचे के ही बनते हैं। इन में बना रुपये और ईंट का आकार बिना रुपए और ईंट के सांचे के बनता है। जिस प्रकार यह वैज्ञानिक है और असंभव नहीं उसी प्रकार अमैथुनी सृष्टि के शरीर आदि की रचना भी वैज्ञानिक है और संभव है। कार्य का अपने कारण में लीन होने का नियम इस वैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत कर रहा है कि सृष्टि के समस्त भौतिक कार्य पदार्थों और चेतनों के शरीर आदि कार्य पंचभौतिक हैं और ये किसी समय पंचभूतों में अवश्य लय को प्राप्त होंगे। पंचभूत भी अपने कारणों में लीन होते हैं, उस अवस्था में कोई शरीर बिना लय को प्राप्त हुए रह ही नहीं सकता है। जब पंचभूतों का ही लय हो जावेगा तो शरीरस्थ पंचभूत बिना लय को प्राप्त हुए किसी भी प्रकार रह नहीं सकते हैं। सारे शरीरों का लय उस अवस्था में हो ही जावेगा। यह वैज्ञानिक तथ्य है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता जी बतावें कि फिर माता-पिता कहाँ से आवेंगे कि शरीरों को उत्पन्न करेंगे ?

स्वर्ण अग्नि का विकार है। विज्ञान की दृष्टि से वह एक निश्चित सीमा की ऊष्मा है। स्वर्ण से आभूषण बनाये गए। यदि सोने का उपादान कारण ऊष्मा में लय हो जावे तो क्या उन आभूषणों का लय अपने आप नहीं हो जावेगा ? यही स्थिति शरीरों की है। जब शरीरों का लय हो जावेगा तब सृष्टि के आदिम काल में जो शरीर बनेंगे वे विना माता-पिता के ही बनेंगे। परमात्मा उन्हें पांच भूतों से बनावेगा। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने केवल साइंस शब्द सुन रखे हैं। साइंस का उन्हें तनिक भी परिज्ञान नहीं है। तभी तो उन्हें इस साइंटिफिक सिद्धान्त में साइंस नहीं दिखाई पड़ रही है।

(भ) सांख्य दर्शन ईश्वर को नहीं मानता है और न उसे सृष्टिकर्त्ता मानता है—यह कथन सांख्य शास्त्र से लेखक की अनभिज्ञता

प्रकट करता है। सांख्य को जिसने पढ़ा और समझा होगा ऐसा समझदार दार्शनिक प्रज्ञा का धनी व्यक्ति यह नहीं स्वीकार कर सकता है कि सांख्य ईश्वर को नहीं मानता अथवा ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता नहीं मानता है। यहाँ पर प्रथम सांख्यसूत्रों से ईश्वर की सिद्धि की जाती है और ईश्वर का सृष्टिकर्त्ता होना बताया जाता है और तत्पश्चात् सत्यार्थदर्पण के लेखक ने जिन सूत्रों को उद्धृत किया है उनका वास्तविक अर्थ भी दे दिया जावेगा।

सांख्यदर्शन १/८७-८८ के अनुसार तीन प्रमाण स्वीकार करता है। उसका कथन है कि तीन प्रमाणों से ही सब पदार्थों की सिद्धि हो जाती है अतः अधिक प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण को सांख्य दर्शन ने वाह्य प्रत्यक्ष और आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भेद से दो प्रकार का माना है। आभ्यन्तर प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए लिखा गया है -- **यत्सम्बन्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्**, सां० १/८९--अर्थात् इन्द्रियों का वस्तु से सम्बन्ध होने पर उसके आकार का बताने वाला जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है।

इस पर पुनः कहा गया कि आत्म-प्रत्यक्ष में यह लक्षण नहीं घटता है। इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं--

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः--सां० १/९० अर्थात् योगियों का प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्ष नहीं आत्म-प्रत्यक्ष है। अतः लक्षण में दोष नहीं है। अर्थात् पूर्व लक्षण बाह्य प्रत्यक्ष का है और योगियों को अवाह्य प्रत्यक्ष होता है।

यह दोष क्यों नहीं है ?--इस पर पुनः लिखते हैं--

लीनवस्तु लब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः। सां० १/९१, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु के साथ योगावस्था में सम्बन्ध होने से प्रत्यक्ष लक्षण तो बना ही रहता है अतः अवाह्य प्रत्यक्ष में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

इस पर यह प्रश्न उठता है कि फिर अवाह्य प्रत्यक्ष जो योगियों को हुआ करता है उसे न स्वीकार किया जाये तो हानि। इसका इस

सूत्र में उत्तर देते हैं--

ईश्वरासिद्धेः । सां० १/९२

अर्थात् अवाह्य प्रत्यक्ष के न मानने पर ईश्वर की असिद्धि हो जावेगी । अतः अवाह्य प्रत्यक्ष अवश्य मानना चाहिए ।

क्योंकि --

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः, सांख्य १/९३--अर्थात् वह मुक्त और बद्ध में से किसी भी प्रकार का न होने से विना अवाह्य प्रत्यक्ष के सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

तथा--**उभयथाप्यसत्करत्वम्** । १/९५—अर्थात् यदि उसे मुक्त माना जावे तो सृष्टिरचना में उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी और यदि बद्ध माना जावे तो वह सृष्टि रचने में समर्थ नहीं हो सकेगा ।

परन्तु--

मुक्तात्मनः प्रशंसोपासा सिद्धस्य वा । १/९५, अर्थात् उस सिद्ध परमेश्वर की मुक्तात्मा के द्वारा प्रशंसा और उपासना पाई जाती है । अतः वह है ।

इस प्रकार यहाँ पर सांख्य-दर्शन के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है । सांख्य के जिस "ईश्वरासिद्धेः" सूत्र का हवाला सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने दिया है वह उसके पक्ष का पोषक नहीं-- बल्कि खण्डक है । यदि सूत्र "ईश्वरासिद्धिः" होता तब तो यह कहा जा सकता था कि यह ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करता है । परन्तु ऐसा है नहीं । सूत्र है "ईश्वरासिद्धेः" । यहाँ पंचमी विभक्ति है, अतः यह हेतुवाक्य है--प्रतिज्ञा वाक्य नहीं । इससे यह प्रकट है कि यह किसी प्रतिज्ञा का हेतु बन रहा है न कि स्वयं प्रतिज्ञा बन रहा है । प्रतिज्ञा पूर्व से योगज प्रत्यक्ष की चल रही है । अतः हेतु यह दिया गया कि योगज प्रत्यक्ष को मानने से ईश्वर की सिद्धि न हो सकेगी । परन्तु ईश्वर है अतः योगज प्रत्यक्ष को मानना आवश्यक है । सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को शास्त्र की इस गहन प्रक्रिया का परिज्ञान तो है नहीं । अतः कुछ भी अललटप्प मार देना

उसका कर्त्तव्य बन गया है।

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है—यह भी सांख्यदर्शन से दिखलाया जाता है :—

प्रश्न यह था कि अनादि और कारणभूत प्रकृति महदादि कार्य-वस्तुओं को पुरुष के लिए उत्पन्न ही क्यों करती है। इसका उत्तर सांख्यकार देते हैं——

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्। सां० ३/५५, अर्थात् प्रकृति कार्य नहीं है कारण है। फिर भी उसकी पुरुष के लिए महदादि कार्यों की उत्पत्ति में प्रवृत्ति परवशता के कारण है। फिर जब प्रकृति परवशता से ऐसा करती है तो वह किसके वश में होकर ऐसा करती है——इसका उत्तर देते हैं :——

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता। सां० ३/५६, अर्थात् वह परमेश्वर ही सर्ववित् है और सर्वकर्त्ता है जिसके वश में होकर प्रकृति पुरुष के लिए कार्य उत्पन्न करने में प्रवृत्त होती है। पुनः सांख्यकार स्थापित करते हैं कि——

ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा।३/५७, अर्थात् इस प्रकार उस सर्ववित् सर्वकर्त्ता परमेश्वर की सिद्धिः—सत्ता सिद्ध है। यहाँ सांख्यकर्त्ता के द्वारा ईश्वर सर्ववित् और सृष्टिकर्त्ता स्वीकार किया गया है। सांख्यकर्त्ता का ५/११६ सूत्र इस प्रकार है——

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता——अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है। यहां सूत्रकार ने ब्रह्म का गुण आनन्द है और इन अवस्थाओं में ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है इसका वर्णन करते हुए ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

अब सत्यार्थदर्पण-कर्त्ता के द्वारा दिये गए सूत्रों का वास्तविक अर्थ दिया जाता है।——

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धिः। सां० ५/२

अर्थ——ईश्वर के अधिष्ठाता होने मात्र अर्थात् केवल ईश्वर से विना कर्म की अपेक्षा जीवों को फलप्राप्ति नहीं होती है। कर्म से

ईश्वर के अधिष्ठातृत्व में जीवों के कर्म के फल की सिद्धि होती है। अर्थात् न केवल कर्म अपने-आप फल दे सकता है और न विना कर्म केवल ईश्वर अपनी तरफ से ही किसी जीव को फल देता है।

पुनः उस विषय को दृढ़ करते हैं--

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात्। सां० ५/६ विना कर्म की अपेक्षा ईश्वर का किसी जीव को फल देना राग के विना नहीं हो सकता है। क्योंकि राग इसका अनिवार्य कारण है। यदि ईश्वर में इस प्रकार का राग स्वीकार किया जावे तो क्या हानि। इस पर कहते हैं कि--

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः। सां० ५/७, ईश्वर में राग का योग मानने पर फिर वह नित्यमुक्त नहीं ठहरेगा।

ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं अपितु निमित्त कारण है:--इस पक्ष को दृढ़ करते हुए सांख्यसूत्रकार कहते हैं:--

प्रधानयोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः। सां० ५/८, अर्थात् यदि ईश्वर में प्रकृति का संयोग माना जावे अर्थात् ईश्वर को उपादान माना जावे तो उसमें सङ्गापत्ति होगी। तात्पर्य यह है कि ईश्वर को उपादान कारण मानने पर प्रकृति की भांति वह भी परिणामी हो जावेगा जो अभीष्ट नहीं।

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्। सां० ५/९, यदि परमेश्वर को उपादान मानकर उससे जगत् की उत्पत्ति मानी जावे तो जिस प्रकार परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वैश्वर्य आदि है उसी प्रकार जगत् को भी सर्वज्ञ और सर्वैश्वर्य मानना पड़ेगा, जो वास्तविक नहीं।

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः। सां० ५/१०, ईश्वर के उपादान कारण होने का प्रमाण न पाये जाने से भी यह पक्ष सिद्ध नहीं है।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्। सां० ५/११, अर्थात् व्याप्ति सम्बन्ध के न पाये जाने से ईश्वर के जगत् का उपादान कारण होने के विषय में अनुमान भी नहीं बन सकता है।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य। सां० ५/१२, अतः जगत् का उपादान

कारण परमेश्वर नहीं अपितु प्रकृति जगत् का उपादान कारण है—यही सिद्धान्त है।

यहाँ पर ऊपर के विवरण से यह सिद्ध है कि सांख्यकर्त्ता परमेश्वर के जगत् का उपादान कारण होने का खण्डन करता है, उसके अस्तित्व अथवा जगत् के निमित्त कारण होने का खण्डन वह नहीं कर रहा है।

'ईश्वरासिद्धेः' और '**उभयथाप्यसत् करत्वम्**' सूत्रों का अर्थ इसी प्रसंग में पूर्व कर दिया गया है।

इतना वर्णन करने के अनन्तर अन्ततोगत्वा यह निष्कर्ष निकलता है कि संसार में प्रत्यक्ष ही वस्तुओं का बनना-बिगड़ना देखकर सिद्ध है कि जगत् भी बनने-बिगड़ने वाला है। वह कार्य है और उसका उपादान कारण प्रकृति है। वह प्रकृति का कार्य होने से अनादि-अनन्त नहीं हो सकता है। जगत् के अनादि-अनन्त होने का कोई भी प्रमाण पाया नहीं जाता है। ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। वह ही इस जगत् को बनाता है। जीवों के कर्मों का फल देना, मुक्ति-प्राप्ति का साधन उपस्थित करना, ईश्वर का स्वभाव जगत् की रचना वाला होना और उसकी जीवों पर उपकार की भावना इस सृष्टि रचना के प्रयोजन हैं। ईश्वर जीवों के कर्मों की अपेक्षा से फल देता है। न कर्म स्वयं अपने आप फल देते हैं और न विना कर्म की अपेक्षा ईश्वर अपनी ओर से किसी को कोई फल देता है। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है—उपादान कारण नहीं। अतः जैनधर्म का सिद्धान्त यहाँ पर इस विषय में सर्वथा खण्डित है।

इसके अतिरिक्त इस प्रकरण में सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने निम्नलिखित विरोधी वचनों का प्रयोग किया है और ये उसके सिद्धान्त के खण्डक हैं—साधक नहीं।

(१) हाँ! कारणों के अनुसार उनकी हालतें अवश्य बदलती हैं।

(२) कारण का कारण नहीं होता है···यह नियम उपादान कारण के लिए है।

(३) पदार्थ अपने उपादान कारण से ही उत्पन्न होते हैं।

इन वचनों के स्वीकार करने पर जैनधर्म का सिद्धान्त अपने-आप खण्डित हो जाता है।

ईश्वर कर्मफल का दाता है

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने 'क्या ईश्वर कर्मफल देता है' शीर्षक से यह सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है कि कर्मफल अपने-आप फल देते हैं--ईश्वर कर्मों का फल नहीं देता है। इस विषय में उसकी युक्तियाँ कोई भी नहीं हैं--केवल युक्त्याभास का प्रयोग उसने किया है। उसकी लेखनी से उठाई गई शंकाओं का उत्तर यहाँ पर दिया जाता है। सब से प्रथम उसकी शंकाएं होंगी और पुनः उसी क्रम से उनका उत्तर होगा :--

(१) राग-द्वेषरहित निर्विकार पवित्र आनन्दस्वरूप ईश्वर को जीवों के कर्मों का फल देने से गर्ज क्या है? किस कारण के वश होकर उसे यह करना पड़ता है?

(२) ईश्वर जीवों को कर्म का फल किस प्रकार देता है? वह स्वयं साक्षात् तो दे नहीं सकता, क्योंकि निराकार है। यदि वह राजा आदि द्वारा जीवों को अपने कर्मफलों का दण्ड दिलाता है तो ईश्वर के लिए बड़ी आपत्तियाँ खड़ी होंगी।

(३) कर्मफल का देने वाला यदि कोई बुद्धिमान् होता है तो अपराधी को अपराध का फल देते समय वह दो बातें करता है। एक तो उसे उसका अपराध बतलाता है और दूसरे वह ऐसा प्रबन्ध रखता है कि जिससे वह फिर वैसा अपराध न कर सके। परन्तु ईश्वर ये दोनों बातें नहीं करता है।

(४) ईश्वर सर्वज्ञ और साथ ही सर्वशक्तिमान् होता हुआ स्वामीजी के लिखे अनुसार कर्मफलदाता भी है तो फिर वह जीवों से बुरे कर्म होने ही क्यों देता है?

(५) यह युक्ति बहुत कमज़ोर है कि जीव कर्मफल अपने-आप

नहीं भोग सकते, उनके लिए फलदाता ईश्वर अवश्य चाहिए।

(६) शराबी मनुष्य लोगों की मनाही करने पर भी शराब पी लेता है, किन्तु फिर उसे अचेत होकर दुःख भोगना पड़ता है।

समाधान

(१) न्याय करने वाले का राग-द्वेष से रहित होना ही अच्छा है। लोक में भी जो न्यायाधीश रागद्वेष से जितना ही दूर होता है उतना ही अधिक न्याय करता है। रागद्वेष से तो पक्षपात और अन्याय होने की ही अधिक संभावना रहती है—न्याय की नहीं। निर्विकार और पवित्र न्यायाधीश ही उत्तम न्याय कर सकता है। परन्तु सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की हालत बिल्कुल उल्टी है। वह रागद्वेष को न्याय के लिए आवश्यक समझता है। ईश्वर रागद्वेष-रहित, निर्विकार, पवित्र और आनन्दस्वरूप है अतः वह पूर्ण न्याय करने में क्षम है और तदनुरूप ही न्याय करता है। जीवों के कर्मों का फल देना ईश्वर का स्वभाव है और ऐसा करके वह महती दया करता है। न्याय करना और दया करना ईश्वर का स्वभाव है। ईश्वर स्वयं ही स्वतंत्र है और स्वतंत्रता से अपने समस्त कार्यों को करता है। अतः उसे अपने किसी कर्म में किसी अन्य के वश होकर अपना कार्य नहीं करना पड़ता है। वह स्वयं ही कारण है, अपने कार्यों के लिए उसे किसी कारण के वश होने की आवश्यकता नहीं। सत्यार्थदर्पण के रचयिता को अपनी अललटप्प तो मारनी ही हुई। चाहे वह जिधर भी पड़े।

(२) ईश्वर जीवों के कर्मों का फल, जाति, आयु और भोग के रूपमें देता है। संग्रहरूप में यही माध्यम ठीक भी है। ये फल ऐसे हैं कि न तो जीव इन्हें स्वयं ही बनाकर प्राप्त कर लेवे और न यह ही है कि स्वयं कर्म ही विना परमेश्वर के इन्हें बना देवें और न विना कर्म के परमेश्वर ही केवल अपनी तरफ से इन्हें जीव को प्रदान कर सकता है। ईश्वर जीवों के कर्मों के फल को साक्षात् ही देता है। न वह किसी राजा के द्वारा दिलाता है और न किसी चोर वा अपराधी के द्वारा

चारी वा अपराध कराकर। राजा वा कोई चोर ईश्वर द्वारा दिये जाने वाले जीवों के कर्मों के फलों के माध्यम नहीं हैं। राजा समाज में अपराध न फैले इसलिए अपराधी को जो दण्ड देता है वह समाज की रक्षार्थ देता है। वह उस अपराध का उतना ही प्रतीकार कर पाता है जितने से कि उस अपराध के करने की समाज में प्रवृत्ति न बढ़े। परन्तु उस अपराध की वासना को मिटाने और उसका पूरा दण्ड देने की व्यवस्था तो ईश्वर के ही न्याय से होगी। निराकार ईश्वर ही न्याय करता है। साकार तो जीव के कर्मों के फल को दे ही नहीं सकता है। जब निराकार ईश्वर सृष्टि बना सकता है तो फल क्यों नहीं दे सकता? पूर्व 'ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है' शीर्षक से यह बतलाया जा चुका है कि निराकार ईश्वर ही सृष्टिकर्त्ता है। अतः यहाँ पर पुनः उसे लिखने की आवश्यकता नहीं है। गर्भस्थ बालक की रचना कोई भी साकार नहीं कर सकता है, निराकार ईश्वर ही करता है। उसी प्रकार कर्मों के फल का दाता भी निराकार ईश्वर ही है। यह कहना कि निराकार ईश्वर कर्मफल नहीं दे सकता है--केवल अविवेक-मात्र है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का यह केवल कथनमात्र है। इसमें उसने कोई हेतु नहीं दिया। अतः यह सर्वथा उपेक्षणीय है।

राजा आदि के द्वारा वह अपने द्वारा दिये जाने वाले जीवों के कर्मों का फल दिलाता नहीं अतः सत्यार्थदर्पण के लेखक की सारी आपत्तियाँ अपने-आप निरर्थक और निर्मूल हो जाती हैं।

(३) कर्मफल का देने वाला अपराध को बतलावे--इससे क्या तात्पर्य आप का है। क्या अपराध का ज्ञान होने पर पुनः अपराधी वैसा अपराध नहीं करता है--यह सर्वथा ठीक है--कदापि नहीं। अपराधी भी दो प्रकार के पाये जाते हैं। एक बार अपराध करने वाले, और अभ्यस्त अपराधी। एक बार के अपराध वाले को यद्यपि यह मालूम है कि चोरी करना दण्डार्ह है फिर भी वह चोरी करता है। अभ्यस्त अपराधी एक बार अपराध का दण्ड भी भोग चुका है फिर भी वह पुनः अपराध करता है और जेल जाता है। वह अभ्यस्त

(Habitual) अपराधी कहा जाता है। जैनधर्म कर्म को स्वयं फलदाता मानकर यह उदाहरण देता है कि शराब पीने वाले को नशा होता है। शराब पीना रूप कर्म का यह फल उसे मिल रहा है। यहाँ पर शराब पीने का कर्म करने वाला यद्यपि यह जान चुका है कि शराब पीने पर नशा होता है फिर भी अभ्यस्त शराबी शराब पीता है। यदि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का यह कथन ठीक माना जावे कि अपराध और उससे मिलने वाले दण्ड का ज्ञान होने पर अपराधी अपराध नहीं करेगा तो फिर शराब का अभ्यासी पुनः शराब क्यों पीता है। यह तो सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता के अपने ही कथन से उसका खण्डन हो जाता है। अपराध के जानने से कोई अपराध नहीं करेगा--यह कथन हेतु नहीं बन सकता है।

ईश्वर ने वेद द्वारा ज्ञान दिया भी है कि अमुक कर्म नहीं करना चाहिए--फिर भी जीव करता है। बुरे कर्मों का बुरा फल होता है और अच्छे कर्मों का अच्छा फल होता है--यह ज्ञान परमेश्वर ने जीव को वेद द्वारा दिया है--फिर भी जीव अपनी स्वतंत्रता से पाप-कर्म करता है। जैनधर्म के उपदेश जो तीर्थङ्करों द्वारा दिये गए हैं क्या उन्हें जानते हुए सभी उसका पालन करते हैं अथवा उनके उल्टे करने के परिणामों को जानते हुए भी क्या वे उनसे उल्टा नहीं करते हैं--क्या ऐसा दावा कोई कर सकता है।

यह भी देखा गया है कि दण्ड मिलने से भी पता चल जाता है कि अमुक अपराध किया है। सज़ायाफ्ता कैदी यह जानता है कि अपराध करने के कारण जेल मिला है। इसी प्रकार जीव के कर्मफल में मिला जाति, आयु और भोग उसके अच्छे-बुरे कर्मों का स्वयं ज्ञान कराता है।

एक और भी बात यहाँ पर विचारणीय है कि क्या विना जाने अपराध किया जावे तो वह दण्ड्य नहीं होगा ? क्या चोर चोरी करने पर यह कह सकता है कि उसको मालूम नहीं था कि चोरी अपराध है अतः उसने चोरी की और इस आधार पर उसे दण्ड नहीं

मिलना चाहिए। कोई भी बुद्धिमान् इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए दण्ड देते समय अपराध का बतलाना आदि तर्क ईश्वर के कर्मफलदाता होने के सिद्धान्त का खण्डन करने में असमर्थ और असहाय है। कोई भी बुद्धिमान् आदमी ऐसा तर्क नहीं उठावेगा जो उसके अपने ही पक्ष का खण्डनकर्त्ता हो।

आज भी न्यायाधीश दण्ड देता है और दण्ड भोगने के बाद पुनः अपराधी वही अपराध करता है। अतः यह कहना कि न्यायाधीश ऐसा प्रबन्ध रखता है कि अपराधी फिर वैसा अपराध न कर सके—मिथ्या है। अपराधी जब तक अपराध का फल भोग रहा है तब तक तो स्वतंत्र नहीं है कि अपराध कर सके परन्तु जब वह स्वतंत्र हो जाता है तो कर्म की उसे स्वतंत्रता है। इसी प्रकार जीव को कर्म करने में स्वतंत्रता है और किये कर्म का फल भोगने में ईश्वराधीनता वा परतंत्रता है। कोई भी न्यायाधीश बिना किसी कारण इस स्वतन्त्रता को नहीं छीन सकता है। मनुष्य चूंकि कर्मयोनि और भोगयोनि दोनों में है अतः वह भोग भी करता है और कर्म भी करता है। परन्तु इसके अतिरिक्त योनियाँ भोगयोनियाँ हैं अतः उन में कर्म करने का अधिकार है ही नहीं। जब कर्माधिकार ही उनमें नहीं है तो फिर उन योनियों में रहने वाला तो ऐसे प्रबन्ध में है ही कि कोई कर्म न कर सके। परन्तु यदि अपराध के दण्ड का फल समाप्त करके वह पुनः मनुष्य योनि में आ जाता है तो वह कर्म करने में सर्वथा स्वतंत्र होगा। ईश्वर उस स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करता। यदि ऐसा न करे तो फिर न्याय और अन्याय, भले-बुरे और करणीय-अकरणीय की कोई व्यवस्था ही नहीं रह सकेगी। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता क्या यह कहना चाहते हैं कि भला-बुरा सब ईश्वर ही किया करे।

सत्यार्थप्रकाश के नवें समुल्लास में जिन वृक्ष आदि योनियों में जीवों का कर्मानुसार उत्पन्न होना लिखा है वह मनुस्मृति के श्लोक का अर्थमात्र है। ये सब भोग योनियाँ हैं अतः इनमें कर्म करने का तो जीव को अधिकार है ही नहीं। फिर ये और भी बुरे कर्म करने

के लिए सुविधा प्रदान किये गए हैं--ऐसा कहना समझ के साथ खिलवाड़ करना है। जिनको कर्म का अधिकार ही नहीं उन्हें अधिक पाप करने का अवसर दे दिया गया है--यह तो कोई बुद्धिमान् स्वीकार नहीं करेगा। इन विषयों को समझने की बुद्धि भी तो होनी चाहिए।

(४) ईश्वर सर्वशक्तिमान् भी है और सर्वज्ञ भी। वह जीवों के किये कर्मों का फलदाता है, जीवों द्वारा न किये गए अथवा अपनी तरफ से किये गए का नहीं। न्याय किया ही इस बात पर जाता है कि कर्म करने वाला कर्म करने में स्वतंत्र है और जिस भले-बुरे कर्म के आधार पर फल दिया जा रहा है वह उसका किया हुआ है। सत्यार्थदर्पण के लेखक को यह ज्ञात हो कि कर्म जीव को करना है ईश्वर को नहीं। ईश्वर यदि जीव को कर्म करने से रोकने लगे तो इसका तो यह तात्पर्य होगा कि कर्म ईश्वर को करना है। जो भले कर्म को करावे और बुरे कर्म को करने से रोके वह ही स्वयं इन कर्मों के प्रति उत्तरदाता होगा। जीव का फिर कोई उत्तरदायित्व नहीं रह जावेगा। अतः ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होते हुए जीव के कर्म करने की स्वतंत्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। यदि ईश्वर जीव को बुरे कर्मों से रोकने लगे तो अच्छे कर्मों को भी वही करावे। फिर ऐसी हालत में अच्छे कर्मों का भी फल जीव को न मिल सकेगा क्योंकि वह उसका स्वयं कर्त्ता नहीं है। अतः जीव जैसा स्वतंत्रता से करता है ईश्वर उसी प्रकार उसका फल देता है। माता-पिता अपनी सन्तानों को दण्ड भी देते हैं परन्तु यह उनके सुधार के लिए होता है। यही माता-पिता की उनके प्रति दया है। ईश्वर भी जीवों के कर्मों का फल देकर उन्हे सुधारना चाहता है। यह उसकी महती दया है।

(५) यह युक्ति कमजोर नहीं अत्यन्त बलवती है। जीव अपने-आप कर्मफल भोगना नहीं चाहेगा। अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा यह निश्चित सिद्धान्त है। बुरे फल को कौन जीव अपने-आप भोगना चाहेगा। अपराध का करने

वाला कोई भी जीव अपने-आप जेल और फांसी की सजा नहीं भोगने को तैयार होता है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को यह भी पता नहीं है कि कर्म क्या है और फल क्या है ? अतः उसने जो उदाहरण दिये हैं वे केवल उदाहरणाभास हैं।

इसी प्रकार कर्म अपने-आप भी फल नहीं दे सकते हैं। शराब पीने के नशे का उदाहरण ठीक नहीं। शराब पीने का जो आदी है उसे तो नशा चढ़ता ही नहीं अथवा नाम-मात्र का ही चढ़ता है। परन्तु जो उसके पीने का अभ्यासी नहीं है उसे नशा चढ़ता है। इसी प्रकार यदि कर्म फल अपने आप दें तो फिर जो बुरे कर्मों का अभ्यासी हैं उसे तो कोई भी फल मिलेगा नहीं। जो नवसिखिया है उसे फल मिलेगा। इससे तो फिर यह होगा कि बुरे कर्मों का जितना ही अभ्यासी होगा उतना ही वह फल से बच जावेगा। अभ्यस्त चोर को फिर कभी चोरी का दण्ड ही नहीं होगा। अतः कर्म अपने-आप फल देने वाला नहीं हो सकता है।

शराब पीना बुरा कर्म है। शराब पीने में प्रयुक्त की गई वस्तु है। पीने वाला शराबी आदमी है। पूछना यहाँ पर यह है कि नशा बुरे कर्म का फल है अथवा जीव ने अपने-आप इस नशे को उत्पन्न कर लिया है। अथवा शराब पीने वाले के उदर में मौजूद होकर नशा का कारण बन रही है। यदि इन बातों पर भली प्रकार विचार किया जावे तो पता चलेगा कि न कर्म वस्तुतः अपना फल अपने-आप देता है और न जीव स्वयं अपने-आप फल प्राप्त कर लेता है। शराब का नशा किये जाने वाले कर्म में सकर्मक क्रिया का परिणाम मात्र है और शराब पीना कर्म के अन्तर्गत है। यह कर्म ही है, कर्म का फल नहीं।

ईश्वर को विना कर्मफल का दाता माने संसार में कर्मफल की कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती है। एक जीव ने मान लीजिए कि बहुत अच्छे कर्म किये हैं। उनके फलस्वरूप उसे मनुष्य योनि में जाना है। तो यह मनुष्य योनि का शरीर कर्म स्वयं बनावेगा अथवा

उसका करने वाला जीव स्वयं बनावेगा। पता चला कि दोनों ही नहीं बना सकते हैं। अतः ईश्वर की आवश्यकता स्वयं पड़ गई। इसी प्रकार माना कि किसी जीव ने पाप अधिक किया है और उसे शूकर वा गधे का शरीर मिलना चाहिए। तो पुनः यही प्रश्न होगा कि यह जीव स्वयं बनावेगा वा उसका किया कर्म स्वयं बनावेगा। उत्तर होगा कि दोनों ही नहीं बना सकते। यह कार्य ईश्वर की व्यवस्था में ही हो सकता है। अतः यह आवश्यक है कि ईश्वर को कर्मफल का दाता स्वीकार किया जावे।

(६) शराबी मनुष्य शराब पीता है और उसको नशा होता है--इसका समाधान पांचवे समाधान में कर दिया गया है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने गीता का जो श्लोक पृष्ठ ५५ पर उद्धृत किया है वह प्रमाण-कोटि का नहीं है। उससे उक्त लेखक के पक्ष की पुष्टि नहीं होती है। बल्कि यह श्लोक उसके विचार के ही प्रतिकूल जाता है। इन श्लोकों का अर्थ निम्न प्रकार है--

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥
नादन्ते कस्यचित्पापं न कस्य सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥—गीता, अध्याय ५

अर्थ--परमेश्वर न लोगों के कर्म करने की भावना को ही बनाता है और न उनके कर्मों को ही स्वयं करता वा कराता है। वह कर्म और फल के संयोग अर्थात् कर्मफल को स्वयं अपनी तरफ से नहीं देता है बल्कि किये कर्म का स्वभाव उसकी व्यवस्था के अनुसार प्रवृत्त होता है। वह न किसी का पाप स्वयं लेता है वौर न किसी का सुकृत अर्थात् वह इनका कराने वाला नहीं। जीव अज्ञान में अपने आप इन सब को करते हैं। परमेश्वर न ऐसे कर्म करता है और न कराता है।

"नेश्वराधिष्ठिते०" का अर्थ 'ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है' शीर्षक में किया जा चुका है।

इस प्रकार सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता के सभी तर्काभासों का उत्तर दिया गया और यह सिद्ध किया गया कि ईश्वर जीवों के कर्मों का फल देने वाला है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परतंत्र है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है

सत्यार्थदर्पण के लेखक ने अपनी तरफ से सर्वशक्तिमान् का अर्थ गढ़कर महर्षि पर उसे थोपकर ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का अपनी पुस्तक के पृष्ठ ६३ पर खण्डन किया है। ऐसा करना सर्वथा ही अनुचित है। फिर भी यहाँ पर उसके द्वारा प्रस्तुत किये गए तर्काभासों पर विचार किया जाता है और उसका निराकरण किया जाता है। प्रथम उठने वाले प्रश्न लिखे जावेंगे और पुनः उनका उसी क्रम से उत्तर दिया जाता है :—

(१) स्वामीजी ने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् बतलाया है, जिसका कि अर्थ यह है कि ईश्वर में सब कुछ करने की शक्ति मौजूद है।

(२) क्या ईश्वर सब जीवों को दयालुतावश अपने सरीखा ईश्वर बना सकता है? क्या जीवों को वह अजर-अमर कर सकता है? क्या वह अपनी आज्ञा से सर्वथा विरुद्ध चलने वाले नागरिक को अपने राज्य से यानी अपनी सृष्टि से बाहर निकाल सकता है? क्या वह आकाश से फूल और पेड़ों से मनुष्य उत्पन्न कर सकता है? क्या वह कभी सारे संसार का निर्मूल नाश कर सकता है? और क्या वह ऐसा दूसरा जगत् भी बनाकर तैयार कर सकताहै? क्या वह अस्ति से नास्ति और नास्ति से अस्ति कर सकता है?

(३) ईश्वर अनन्त शक्ति वाला तो हो सकता है जैसा जैन धर्म भी मानता है किन्तु सर्वशक्तिमान् किसी भी तरह नहीं हो सकता।

समाधान

(२) स्वामी जी ने सर्वशक्तिमान् का जो अर्थ किया है उसको ही सर्वप्रथम यहाँ पर उद्धृत कर दिया जाता है। इससे सत्यार्थदर्पण के लेखक का खड़ा किया हुआ सारा जंजाल अपने आप धराशायी हो जावेगा।

"(पूर्व०) ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं ? (उत्तर०) है, परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जानते हो वैसा नहीं। किन्तु सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता। अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है। (पूर्व०) हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे, क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है। (उत्तर०) वह क्या चाहता है ? जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है तो हम तुमसे पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान्, चोरी, व्याभिचार आदि पापकर्म कर और दुःखी भी हो सकता है ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव से विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना है कि वह सब कुछ कर सकता है, यह कभी नहीं घट सकता। इसलिए सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जो हमने कहा, वही ठीक है।"

(सत्यार्थ प्रकाश, ७ समुल्लास)

महर्षि दयानन्द सरस्वती सर्वशक्तिमान् का क्या अर्थ लेते हैं— यह ऊपर के वर्णन से सर्वथा स्पष्ट है। परन्तु सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने महर्षि के अर्थ से विपरीत अर्थ लेकर महर्षि द्वारा जो तर्क किये गए है उन्हीं को उन पर कर दिया है। किसी के अभिप्राय और मन्तव्य के विपरीत अपना अभिप्राय उस पर ठोसना उचित नहीं। परन्तु जैनधर्मी सत्यार्थदर्पण के लेखक ने ऐसा करने में दोष नहीं माना और अपनी शक्ति इसी में लगा दी। अगर यही धर्म का रूप है तो

फिर अधर्म क्या है। क्या सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता यह दिखाने का साहस कर सकते हैं कि स्वामी जी महाराज ने उसके द्वारा दिखाया गया सर्वशक्तिमान् का अर्थ कहाँ पर माना है। स्वामी जी का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है फिर भी यहाँ पर स्पष्टीकरण कर दिया जाता है---

"सृष्टि की रचना, पालन और प्रलय आदि तथा जीवों के कर्मों के फल की व्यवस्था करने के अपने कार्य को ईश्वर बिना किसी की सहायता के स्वयं करता है अतः वह सर्वशक्तिमान् है।"

सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ कभी भी स्वामी जी ने नहीं माना है कि ईश्वर इसलिए सर्वशक्तिमान् है कि वह उल्टा-सीधा, असंभव और अनर्गल एवं नियमविरुद्ध आदि सभी कुछ कर सकता है। सर्व-शक्तिमान् को जो लोग यह कहते हैं कि वह उल्टा सीधा और असंभव आदि सब कुछ कर सकता है उन्हीं से तो स्वामी जी का प्रश्न है कि 'क्या वह दूसरा ईश्वर बना सकता है ? स्वामी जी ने ऊपर दिये गए उद्धरण में स्वयं स्पष्ट कर दिया है। "परन्तु जैसा तुम सर्वशक्ति-मान् शब्द का अर्थ जानते हो वैसा नहीं।" इससे दो-दो चार की भांति स्पष्ट है कि स्वामी जी सर्वशक्तिमान् शब्द का वह अर्थ नहीं मानते हैं जो सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने कल्पित किया है। जब स्वामी जी सर्वशक्तिमान् का वैसा अर्थ मानते ही नहीं तो वैसा मानकर उन पर किये गए प्रश्न लागू भी नहीं होते हैं।

(२) ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन समाधान संख्या १ में कर दिया गया। यहाँ पर उसी दृष्टि से अन्य प्रश्नों का उत्तर भी दे दिया जाता है। सर्वसाधारण उत्तर यह है कि ये प्रश्न हम पर लागू ही नहीं होते हैं क्योंकि जैसा सर्वशक्तिमान् का अर्थ समझकर ये प्रश्न किये गए हैं, हम परमेश्वर को वैसा सर्वशक्तिमान् मानते ही नहीं हैं। ईश्वर अपने स्वभाव से अद्वैत है। उसके समान कोई हो नहीं सकता है। अतः जो वस्तु जैसी स्वभाव और नियम से है उसको वैसा रखना और करना ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की सार्थकता है। सर्वशक्तिमान् की सर्वशक्ति की परिधि में अपने समान दूसरा ईश्वर

बनाना नहीं आता है अतः वह ऐसा न करने में ही सर्वशक्तिमान् है। दया करने की सीमा में भी दूसरा ईश्वर बनाना नहीं आता अतः वह ऐसा नहीं करने में ही दयालु है। ईश्वर सर्वव्यापक है अतः उसका स्वभाव भी सर्वव्यापक है। एकदेशी न होने से और सर्वव्यापक होने से एवं सर्वाधार होने से सभी वस्तुएँ उसके अन्दर हैं और वह सबके अन्दर एवं बाहर है। परमात्मा से बाहर कुछ है नहीं अतः किसी को भी बाहर न करने में ही उसकी सर्वशक्तिमत्ता है। संसार में कोई भी शक्ति उसके बाहर किसी को नहीं कर सकती है और न स्वयं कोई उससे बाहर जा सकता है अतः उसकी सर्वशक्तिमत्ता स्वीकार्य है।

आकाश कहते ही उसे हैं जिसमें फूल नहीं। यदि फूल हो जावे तो फिर वह आकाश नहीं कहलावेगा। अतः आकाश को आकाश ही रहने देना और उसमें फूल को न उत्पन्न होने के धर्म को बना रखना ही ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता है।

जीव तो अपने स्वभाव से अजर-अमर हैं ही। अतः उनके अजर-अमर करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि जीव से तात्पर्य शरीरों आदि से है तो ठीक नहीं। शरीर का धर्म ही जरा, मरण है, अतः उसे अजर-अमर बनाना ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता में नहीं आता है। नाश शब्द का अर्थ ही है कि वस्तु अपने मूलकारण में लय को प्राप्त हो अदृष्ट हो जावे। संसार की यह अवस्था ईश्वर करता ही है। वह संसार का नाश तो करता है परन्तु उसके मूल में ही करता है। कोई भी नाश होने वाला पदार्थ निर्मूल हो नहीं सकता है अतः ईश्वर भी उसे वैसा ही करता है। दूसरा जगत् बनाने का प्रश्न तो तब हो सकता था जब दूसरे जगत् के लिए कोई ऐसा स्थान सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने छोड़ रखा हो कि जिसमें जगत् न हो। जब ऐसा है ही नहीं तो फिर दूसरा जगत् बनाने का प्रश्न ही क्या उठता है। असंभव वस्तु का करना सर्वशक्तिमत्ता की सीमा में नहीं आता है अतः परमेश्वर के किसी असंभव वस्तु के बनाने का प्रश्न ही नहीं

उठता है। वह संभव को ही बना सकता है। संभव के संभव और असंभव के असंभव रहने में ही श्रेयस् है। अस्ति और नास्ति परस्पर विरोधी पद हैं। जब तक सत्यार्थदर्पण के लेखक यह न दिखा दें कि सर्वशक्तिमत्ता के अन्तर्गत अस्ति को नास्ति और नास्ति, को अस्ति करना भी आता है तब तक सर्वशक्तिमान् द्वारा ऐसा करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

जैनधर्म के अनुसार जीव ही सिद्धि आदि प्राप्त करके सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो जाता है। प्रश्न यह उठता है कि यह सर्वशक्तिमत्ता सिद्धिप्राप्त जीवों को कहाँ से मिली जब कोई और सर्वशक्तिमान् उनके अतिरिक्त है ही नहीं। जो पहले सर्वशक्तिमान् नहीं है वह सर्वशक्तिमान् बन ही कैसे सकेगा और यदि बना भी तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता नित्य नहीं हो सकती है। एक समय में कई सर्वशक्तिमान् भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि कई की सर्वशक्तिमत्ता का किसी एक ही कार्य में विरोध पड़ने पर जिसकी सिद्ध होगी वही मानी जावेगी, शेष सबकी सर्वशक्तिमत्ता स्वयं समाप्त हो जावेगी। कई सर्वशक्तिमान् परस्पर आपस में झगड़ते रहेंगे। जो उनमें शक्तिशाली होगा वही सर्वशक्तिमान् रह सकेगा। आदि-अन्तवाली सर्वशक्तिमत्ता का तात्पर्य ही क्या निकलेगा। क्या जैनियों का सर्वशक्तिमान् एक मक्खी की टूटी टाँग भी जोड़ने की शक्ति रखता है? जिसको अपने ही ऊपर कोई अधिकार नहीं वह सर्वशक्तिमान् बन बैठे--कितनी विचित्र बात है! मनुष्य की शक्ति कितनी भी बढ़े परन्तु वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। जैनधर्म के अनुसार सर्वशक्तिमान् का लक्षण क्या है?--यह सत्यार्थदर्पण के लेखक को बताना चाहिए था। परन्तु वह जानता है कि यह ठहर नहीं सकेगा अतः जान बचाकर भागने की कोशिश की है।

(३) ईश्वर अनन्त शक्तिवाला तो हो सकता है--इस कथन से सत्यार्थदर्पण के लेखक क्या कहना चाहते हैं? क्या उनका यह तात्पर्य है कि मनुष्यातिरिक्त जैनधर्मास्वीकृत ईश्वर अनन्त-

शक्तिवाला है ? यदि यह उनका तात्पर्य है तो फिर कहना पड़ेगा कि उन्होंने ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली और उसे अनन्तशक्ति-वाला भी स्वीकार कर लिया। यदि इसका तात्पर्य यह है कि जैनियों का माना हुआ सिद्ध जीव-रूप ईश्वर अनन्त शक्तिवाला है तो फिर और भी अनेक बाधायें खड़ी होंगी—क्योंकि कोई भी जीव कितनी भी सिद्धि प्राप्त करे वह अनन्तशक्तिवाला नहीं हो सकता है।

अनन्त शब्द के अर्थ पर विचार कीजिए। यह तीन प्रकार से विचारा जा सकता है। एक तो देश की अपेक्षा से, और दूसरा काल की अपेक्षा से। तीसरा विचार संख्या की अपेक्षा से हो सकता है। यदि देश की दृष्टि से अनन्त का विचार किया जावे तो कहना पड़ेगा कि 'अनन्त शक्तिवाला' का अर्थ यह होगा कि 'ऐसी शक्तियोंवाला जिसका स्थान की दृष्टि से कोई अन्त नहीं'--अर्थात् सर्वव्यापक शक्ति वाला। कोई भी एक देशी जीव जो कि स्वयं सर्वव्यापक नहीं है ऐसी सर्वव्यापक वा अनन्तशक्ति से युक्त नहीं हो सकता है। जैनधर्म में जीव का मध्यम परिमाण है। वह स्वयं तो संकोच-विकास वाला अनित्य एकदेशी है और शक्ति उसकी सर्वव्यापक एवं अनन्त--यह दोनों स्थितियाँ संभव नहीं। काल की दृष्टि से अनन्त शब्द पर विचार करने से 'अनन्तशक्तिवाला' का अर्थ यह होगा कि 'ऐसी शक्तिवाला जिसका कभी आदि-अन्त नहीं है'। जैनधर्म में कोई भी ऐसा जीव नहीं जो सदा से सिद्ध और अनाद्यनन्त सिद्ध हो। फिर वह अनाद्यनन्त शक्ति वाला किस प्रकार हो सकता है ? सिद्धि को प्राप्त जीव जो जैनधर्मानुसार सर्वशक्तिमान् बन जाता है वह सिद्धि से पूर्व ऐसा नहीं रहता है और इसी आधार पर वह आगे अनन्तकाल तक भी सर्वशक्तिमान् नहीं रह सकेगा। ऐसी अवस्था में यह कहना कि जीव से जो ईश्वर हुआ है वह अनाद्यनन्त शक्तिवाला है, सर्वथा मिथ्या है। संख्या की दृष्टि से विचार करने पर 'अनन्तशक्तिवाला' का अर्थ यह होगा कि 'ऐसी शक्तियों वाला जिनकी गणना नहीं हो सकती है'। जैनियों का माना ईश्वर इस प्रकार की शक्ति वाला भी नहीं हो

सकता है। अतः यह सुतराम् ग़लत है कि जैनधर्म का माना हुआ ईश्वर अनन्तशक्तिवाला हो सकता है। अनन्तशक्तिवाला और सर्व-शक्तिमान् में जो भेद दिखाने का प्रयत्न सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने किया है वह भी वास्तविक नहीं है। उक्त लेखक जब यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर अनन्तशक्तिवाला है तो उनसे भी तो पूछा जा सकता है कि क्या ऐसा अनन्तशक्तिवाला ईश्वर नीचे इन लिखे कार्यों को कर सकता है :--

(१) क्या वह मध्यम परिमाणी जीवों को अजर-अमर बना सकता है ?

(२) क्या वह कोई ऐसी वस्तु बना सकता है जो उठाने पर उससे स्वयं न उठे ?

(३) क्या वह अस्ति से नास्ति कर सकता है ?

(४) क्या वह आकाश में फूल खिला सकता है ?

इस प्रकार सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता के प्रश्नों का यहाँ भी निराकरण किया गया और महर्षि के सिद्धान्त की स्थापना की गई।

ईश्वर का स्वरूप

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने जैनधर्म में ईश्वर का क्या स्वरूप है-- इस बात को बताने के लिए इसी शीर्षक से अपनी पुस्तक में कुछ बातें लिखी हैं जो सर्वथा ही सारहीन हैं। इन पर भी विचार करना आवश्यक समझकर कुछ पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में लिखी जाती हैं। शीर्षक को हमने भी ज्यों का त्यों ही रखा है। उक्त लेखक के आशय को संक्षेप में यहाँ पर दिखाकर पुनः उसपर संक्षेप में विचार करना उपयुक्त प्रतीत होता है। अतः यहाँ पर सर्वप्रथम सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता द्वारा लिखित ईश्वर का स्वरूप दिखलाया जाता है :--

(१) संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं--एक जड़ और दूसरा चेतन (जीव)। ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणधारी चेतन यानी जीव

है और इन गुणों से शून्य जड़ पदार्थ है।

(२) जड़ पदार्थों में से पुद्गल नामक पदार्थ में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श––ये चार गुण अन्य पदार्थों से विशेष हैं। अतः संसार में हमें जो कुछ दीख पड़ता है वह पुद्गल पदार्थ है।

(३) जीव यद्यपि अमूर्तिक पदार्थ है, किन्तु अनादिकाल से वह पुद्गल के साथ मिला हुआ चला आ रहा है। कोई समय ऐसा नहीं था, जब कि यह जड़ पुद्गल से बिल्कुल अलग रहा हो, क्योंकि संसारी दशा में जीव विना शरीर के रह नहीं सकता है। शरीर पुद्गल यानी जड़ पदार्थ है।

(४) जीव कर्मबन्ध से बँधा हुआ है, जिसकी परतंत्रता से उसे अनेक योनियों में अनेक प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। इस प्रकार यह संसारी जीव राग, द्वेष आदि के कारण सदा से कर्माधीन रहता चला आया है, स्वामी जी ने जैनधर्म के इस सिद्धान्त को मानकर जीव को कर्म-बन्धन से बँधा हुआ माना है।

(५) उपदेश आदि कारणों को पाकर जीव अपनी असलियत तथा अपने अपराध को अच्छी तरह समझ लेता है। वह अपने आत्म-स्वरूप की ओर झुकता है, अन्य पदार्थों से राग-द्वेष करना छोड़ देता है। इससे आगामी के लिए कर्मबन्धन बंद हो जाता है। इसके सिवाय जीव तपस्या आदि साधनों से पीछे फल देनेवाले कर्मों को उसी प्रकार पहले ही अलग कर देता है जिस प्रकार कच्चे आम को पाल में रखकर शीघ्र पका लिया जाता है।

(६) जीव का यह प्रयत्न सदा चला रहने पर कोई ऐसा भी समय आ जाता है कि वह कर्मबन्ध से सर्वथा छूटकर बिल्कुल हल्का हो जाता है। इसी हल्केपन से जगत् के सबसे ऊँचे स्थान में जिसको जैनधर्म में सिद्धशिला से ऊपर बतलाया है जाकर ठहरता है। इस प्रकार कर्मबन्धन छूटने को मोक्ष कहते हैं। तपाये स्वर्ण की भांति राग-द्वेष से रहित आत्मा में कर्मफल बिल्कुल हटा देने पर अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि गुण प्रकट हो जाते हैं जिससे कि

वह आत्मा पूर्ण ज्ञाता, पूर्ण सुखी, कृतकृत्य, निर्विकार, पूर्ण सच्चिदानन्द, अनन्त शक्तिधारी, अविनाशी हो जाता है। जैसे सांचे के भीतर से चीज़ निकाल लेने पर साँचे का आकार रह जाता है उसी तरह यह कर्मजनित शरीर छोड़ देने पर मुक्त आत्मा शरीराकार में रह जाता है। इस प्रकार समस्त कर्मों से छूटे हुए आत्मा को सिद्ध परमात्मा यानी सिद्ध ईश्वर कहते हैं।

(७) परमात्मा से पूर्व अर्हन्त दशा होती है जिसको 'जीवन-मुक्त दशा' भी कहते हैं। यही तीर्थंकरों वा जैन अवतारों की भी अवस्था है। कुछ समय पीछे जब कि अर्हन्त परमात्मा के शेष चार कर्म भी नाश हो जाते हैं तब जीव सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

अब इनपर क्रमशः विचार किया जाता है और इस दृष्टिकोण की सारासारता का निश्चय किया जाता है। यहाँ क्रमशः विचार करने से पूर्व एक बात का स्पष्टीकरण कर देना भी परमावश्यक प्रतीत होता है। वह है जीव एवं ईश्वर-सम्बन्धी वाद। एक पक्ष यह है कि परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है। वह ही जब माया से युक्त होता है तब ईश्वर कहलाता है और जब अविद्या से युक्त होता है तो जीव कहलाता है। ब्रह्म वा परमेश्वर तथा जीव में कोई भेद नहीं, दोनों एक ही हैं। यह वाद शंकराचार्यजी का है। जैनधर्म इस वाद को क्यों नहीं मानता है--इसके लिए उसके पास कोई स्पष्ट हेतु नहीं दिखाई देते हैं। ब्रह्म ही जीव हो जाता है--इसमें जैनधर्म को स्यात् यह आपत्ति है कि ब्रह्म अविद्यावश जीव नहीं बन सकता है। वही तर्क जैनधर्म पर भी लागू होता है। यदि ब्रह्म का अविद्या से जीव बनना संभव नहीं है तो जीव का ज्ञान और सिद्धि से ब्रह्म वा परमेश्वर बनना भी संभव नहीं। दोनों ही सिद्धान्त एक-दूसरे के विपरीत होते हुए स्वयं कट जाते हैं। अतः दोनों ही पक्ष ठीक नहीं हैं--बल्कि यह तीसरा पक्ष ठीक और सिद्धान्तभूत है कि न ब्रह्म अविद्या से जीव बनता है, और न जीव सिद्धि आदि से ब्रह्म ही बन सकता है अपितु जीव और ब्रह्म दोनों ही पृथक् हैं। जैन-

धर्म का पक्ष इस प्रकार दर्शन के स्तर पर खड़ा ही नहीं हो सकता है।

(१) संसार में दो ही पदार्थ हैं, यह बात सिद्धान्त की दृष्टि से मान्य नहीं हो सकती है। पद का अर्थ पदार्थ है। प्रत्येक पद का कोई न कोई अर्थ है। अतः पदार्थ अनेक हो सकते हैं जब इस शब्द को उसके यौगिक अर्थ में लिया जाता है। यदि परिभाषा की दृष्टि से लिया जावे तो जड़ और चेतन भेद से दो प्रकार के पदार्थ होने पर भी चेतन के अन्तर्गत एक सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी एवं सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर पदार्थ को भी मानना पड़ेगा; इस प्रकार पदार्थ का विभाग जड़-चेतन भेद से करने पर प्रकृति, जीव और परमेश्वर तीन पदार्थ स्वीकार करने पड़ेंगे।

(२) जड़ पदार्थों में से पुद्गल नामक पदार्थ में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श--ये चार गुण अन्य पदार्थों से विशेष हैं—इन शब्दों से क्या तात्पर्य है? पुद्गल जड़ पदार्थों में से एक है--यह ही बात स्पष्ट होती है। ऐसी अवस्था में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की इस पुद्गल में विशेषता कहना भी यह प्रकट करता है कि शेष जड़ पदार्थों में ये चार गुण नहीं हैं। यदि शेष जड़ पदार्थों में भी ये चार गुण हैं तो पुद्गल में ये चार गुण-विशेष हैं--इसका कुछ भी तात्पर्य नहीं है। यदि जड़ पदार्थों में ये गुण नहीं, केवल पुद्गल में ही हैं, तो फिर शेष जड़ पदार्थों की इन्द्रियों से प्रतीति किस प्रकार होती है? जब तक इन्द्रियों के विषय पदार्थों में गुण रूप में विद्यमान न हों तब तक इन्द्रियाँ उनकी प्रतीति ही नहीं कर सकती हैं। ऐसी अवस्था में जड़ पदार्थों का प्रत्यक्ष आदि न हो सकेगा और प्रत्यक्ष प्रमाण का सर्वथा लोप होगा। यदि पुद्गल शरीर से अतिरिक्त कोई जड़ पदार्थ है तो यह भी जड़ पदार्थों में ही आता है और यदि इसका अर्थ केवल शरीर ही है तो फिर कहना पड़ेगा कि जैनधर्म केवल शरीर में ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श चार गुणों को मानता है--शेष जड़ पदार्थों में नहीं।

एक प्रश्न यह और भी यहां पर उठता है कि जैनधर्म जिस पुद्गल को स्वीकार करता है वह पृथिवी आदि जड़ पदार्थों का विकार है अथवा उनकी ही भाँति का कोई पृथक् तत्त्व है। यदि यह पृथिवी आदि का ही विकार है तो फिर पृथिवी आदि में भी इन चार गुणों को मानना पड़ेगा क्योंकि उपादान कारण में यदि ये गुण नहीं हैं तो फिर उसके कार्य में भी नहीं आ सकते हैं। यदि पुद्गल इन तत्त्वों का विकार नहीं है स्वयं एक इन जैसा ही तत्त्व है तो यह प्रत्यक्ष के सर्वथा विरुद्ध है। शरीर का इन तत्त्वों में विनष्ट होकर लय होना देखा जाता है।

इसके अतिरिक्त जड़ पदार्थ और उसमें से पुद्गल का विभाग कर लेने पर भी समस्या पूरी नहीं होती। प्रश्न यह बना रह जाता है कि इन्द्रियाँ इन जड़ पदार्थों और पुद्गल से पृथक् कोई वस्तु हैं अथवा इन्हीं में किसी में है ? यदि पृथक् हैं तो वे किस विभाग में आती हैं, जड़ में अथवा चेतन में ? यदि जड़ पुद्गल में आती हैं तो ठीक नहीं क्योंकि पुद्गल एक होने से उसमें परस्पर भिन्न-भिन्न विषयों का अनुभव करने वाली इन्द्रियाँ बिना किसी अन्य हेतु और कारण के आ नहीं सकती हैं। यदि ये पुद्गलातिरिक्त जड़ पदार्थों में आती हैं तो फिर इनका पुद्गल से सम्बन्ध किस प्रकार हुआ ? यदि ये जीव में आती हैं तो भी इन के विषयों में भेद का कारण बताना पड़ेगा और साथ ही अन्य भी समस्यायें खड़ी हो जावेंगी जिनका समाधान जैनधर्म कर नहीं सकेगा।

पुद्गल में चार ही गुण कैसे माने गए जब कि पांचवा गुण शब्द भी प्रत्यक्ष अनुभूत हो रहा है। कान शब्द को सुनता है––यह प्रत्यक्ष है। फिर रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ही पुद्गल में क्यों हैं और शब्द का उसमें अभाव क्यों है ?

संसार में हमें जो कुछ दीख पड़ता है वह पुद्गल पदार्थ है–– इससे पुद्गल की परिभाषा और भी गड़बड़ में पड़ जाती है। यदि केवल शरीर ही पुद्गल है तो यह कहना गलत है कि संसार में हमें जो कुछ दीख पड़ता है वह पुद्गल पदार्थ है। क्योंकि संसार में शरीर के

अतिरिक्त भी वस्तुएं हमें दीख पड़ती हैं। यदि पुद्गल का अर्थ कार्य-मात्र पदार्थ है तो फिर कार्य के स्वीकार करने पर कारण को स्वीकार करना पड़ेगा और संसार का अनादित्व नहीं बन सकेगा। साथ ही चार गुण का सिद्धान्त भी स्थापित नहीं हो सकेगा। इन्द्रियों की सत्ता भी अलग स्वीकार करनी पड़ेगी तथा पुद्गल की इस गड़बड़ परिभाषा को सुधारना पड़ेगा।

(३) इस कथन में भी विरोध पदे-पदे दिखाई पड़ता है कि जीव अमूर्तिक है किन्तु अनादिकाल से वह पुद्गल के साथ मिला हुआ चला आ रहा है तथा कोई समय ऐसा नहीं था जब कि वह जड़ पुद्गल से बिल्कुल अलग रहा हो क्योंकि संसारी दशा में जीव विना शरीर के रह नहीं सकता है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है और विरोध भी है कि जब संसारी दशा में जीव विना पुद्गल के नहीं रह सकता है तो फिर उसका पुद्गल के साथ अनादि सम्बन्ध कैसे ठहर सकता है क्योंकि ये शब्द यह प्रकट कर रहे हैं कि मोक्ष में पुद्गल का सम्बन्ध नहीं रहता है। यदि पुद्गल का सम्बन्ध जीव के के साथ अनादि है तो फिर मोक्ष में भी उसका बना रहना सिद्ध है। यदि मोक्ष में नहीं रहता और संसारी अवस्था में ही यह सम्बन्ध रहता है तो फिर अनादि कैसे हो सकता है। यदि सम्बन्ध वस्तुतः अनादि है तो फिर मोक्ष कभी हो ही नहीं सकेगा। इस कथन में परस्पर विरोध है।

यदि अनादि का अर्थ स्वभाव से अनादि है तो मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती है और यदि अनादि का अर्थ प्रवाह से अनादि है तो जैनधर्म के संसार की भी यही प्रवाह से अनादि अवस्था बनेगी। प्रवाह से अनादि का संयोग-वियोग और उत्पत्ति विनाश होता है। केवल चक्र अनादि होता है।

यहाँ पर 'मिला हुआ' शब्द भी भ्रामक है। जीव का पुद्गल के साथ संयोग सम्बन्ध है अथवा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। यदि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है तो जीव का परिमाण विभु है वा मध्यम वा अणुवत्

सूक्ष्म। यदि संयोग-सम्बन्ध है तो फिर जीव को अणुवत् सूक्ष्म एवं एकदेशी मानना पड़ेगा और ऐसी अवस्था में सूक्ष्म शरीर के विना एकदेशी जीव समस्त शरीर को चेतन नहीं कर सकेगा। यदि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है तो जीव को विभु मानना पड़ेगा और सुख-दुःख-भोग आदि की व्यवस्था नहीं बन सकेगी और एक समय में समस्त इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान मानना पड़ेगा जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। यदि जीव मध्यय परिमाण है और शरीर-भर में है तो फिर शरीर के बाहर होने में कौन-सा पदार्थ उसे रोकता है। यदि शरीर जितना बड़ा है उतना बड़ा व्यापक जीव है तो हाथी के शरीर में हाथी जैसा बड़ा होना पड़ेगा और वही जीव जब चींटी के शरीर में जावेगा तो चींटी जितना बड़ा सिमटकर बनना पड़ेगा। इस प्रकार यह संकोच और विकास वाला होने से विनाशी होगा और अमूर्त्तिक शब्द का भी फिर कोई विरुद्ध अर्थान्तर ढूंढ़ना पड़ जावेगा। इस प्रकार जैनधर्म का यह सिद्धान्त खड़ा ही नहीं हो सकता है।

(४) जीव कर्मबन्ध मे बंधा हुआ है और जिसकी परतंत्रता से उसे अनेक योनियों में अनेक प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं—यह उल्लेख भी जैनधर्म में पूर्णतः सार्थक्य को प्राप्त नहीं कर सका है। जैनधर्म में कर्म जब अपने-आप फल देते हैं तो इन अनेक योनियों के शरीरों की रचना कौन करेगा। न कर्म अपने-आप कर सकता है और न जीव स्वयं इन योनियों की रचना कर सकता है। ईश्वर जो इन की रचना करने में समर्थ है उसको जैनधर्म स्वीकार नहीं करता है। फिर यह व्यवस्था बन कैसे सकती है? जैनधर्म के सिद्धि-प्राप्त ईश्वर इन योनियों के शरीर की रचना कभी भी न कर सके और न कर सकते हैं। एक मच्छर की टांग भी तो वे जोड़ नहीं सकते—सारी योनियों की रचना तो दूर की बात है। जीव का भिन्न-भिन्न योनियों में जाना और शरीर धारण करना स्वीकार करने से यह भी स्वीकार करना पड़ेगा ही कि एक योनि से दूसरी योनि तक की प्राप्ति में मृत्यु भी होगी और कुछ समय का व्यवधान भी अवश्य

ही पड़ेगा । इस व्यवधान-काल में जीव द्वारा किये कर्म कहाँ रहते हैं । वे कर्म शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं अथवा जीव में रहते हैं । यदि शरीर के साथ समाप्त हो जाते हैं तब दूसरी योनि का फल किससे पैदा हो सकेगा ? यदि जीव के साथ रहते हैं तो किस प्रकार रहते हैं । जैनधर्म में इसको कोई व्यवस्था तो है नहीं । सूक्ष्म शरीर तो वैदिक धर्म मानता है--जैनधर्म नहीं । बिना सूक्ष्म शरीर के ये कर्म इस व्यवधान के समय में जीव के साथ किस प्रकार रहते हैं ।

स्वामी जी ने जैनधर्म प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त को कभी भी स्वीकार नहीं किया है । उन्होंने वेद प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त को माना है । सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का यह कथन सर्वथा ही असत्य है कि स्वामी जी महाराज ने जैनधर्म के इस सिद्धान्त को माना है । वैदिक दर्शन जैनधर्म से पूर्व के हैं । उन में कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन है । स्वामी जी का भी वही सिद्धान्त है ।

(५) जीव उपदेश आदि के श्रवण से और तपस्या आदि से अपने स्वरूप को समझ लेता है और इन कर्म-बन्धनों से दूर हो जाता है तथा कच्चे आम को जिस प्रकार पाल में रखकर पका लिया जाता है वैसे ही कर्मों को पहले ही अलग कर दिया जाता है--यह सब लेख तो तब कोई महत्त्व रख सकता है जब जैनधर्म के उपदेष्टाओं के उपदेशों में ऐसी कोई वस्तु हो । जैनधर्म में जो असंभव और अनर्गल बातें लिखी गई हैं क्या उनसे ऐसा होना कभी भी संभव हो सकता है। कदापि नहीं । जैन शास्त्रों की कुछ असंगत बातों का यहाँ पर दिग्दर्शन कराया जाता है । सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता बताने का कष्ट करें कि क्या ये हो उपदेश उसके बताये कर्मबन्धों को जीव से दूर कर देंगे ?

(१) जिस पृथ्वी पर हम आबाद हैं, उस पर प्रकाश देने वाले दो सूर्य बतलाना, जब कि एक ही सूर्य का होना प्रमाणित होता है ।

(२) पृथ्वी पर १८ मुहूर्त्त से बड़े दिन और रात का न होना बतलाना, जब कि २२/२३ मुहूर्त्त तक के रात-दिन तो जहाँ हम

लोग रहते हैं, वहाँ हो रहे हैं, और तीन-तीन, छः-छः महीनों के अन्यत्र होते देखे जा रहे हैं।

(३) सूर्य-ग्रहण का जघन्य अन्तरकाल ६ महीने से कम का न होने का बताना, जबकि एक ही वर्ष में ५ सूर्यग्रहण तक हो सकते हैं और एक महीने के अन्तर से भी हुए हैं।

(४) सूर्यग्रहण का उत्कृष्ट अन्तरकाल ४८ वर्ष बताना, जब कि १८ वर्ष २२८ दिन ६ घण्टे पश्चात् ग्रहण पहले के क्रम से होने लगते हैं।

(५) सम्वत्सरों के हिसाब से ९५ वर्ष में ३ अधिमास का अन्तर पड़ता है, जिससे कई शताब्दियाँ गुज़रने से ऋतुओं का सब क्रम बिगड़ जाता है।

(६) बुध और शुक्र में चन्द्रमा की तरह दिखाई देने वाली कलाओं का न बताना, जब कि वे साफ दिखाई दे रही हैं।

(७) रवि-बुध और रवि-शुक्र के होने वाले संक्रमणों का न बताना, जब यह भी साफ देखे जा रहे हैं।

(८) शनि के वलय (छल्ले) नहीं बताना जब कि वे साफ दिखाई दे रहे हैं।

(९) पृथ्वी पर एक ही समय में कहीं पर सख्त गर्मी और कहीं पर सख्त सर्दी का होना, जब कि सर्वज्ञों ने ऋतुओं के अनुसार सर्वभूमि पर एक-सा बर्ताव बताया है।

(१०) पृथ्वी को समतल (Flat) बतलाना, जब कि पृथ्वी नारंगी की तरह एक गोल पिण्ड के सदृश है।

(११) पृथ्वी को असंख्यात योजन लम्बी-चौड़ी बताना, जब कि पृथ्वी केवल २४८५६ मील की परिधि में स्थित है।

(१२) इस पृथ्वी पर कल्पनातीत बड़े-बड़े पर्वत, समुद्र, नद, नगर आदि बताना जो आप गत लेखों में देख चुके हैं, जब कि हमारे सामने जो है, वह मौजूद है।

(१३) सूर्य की गति १ मिनट में ४४२०८४·७५ मील की

बताना, जब कि हमारे यहाँ के हिसाब से $१७\frac{१}{५}$ मील की साबित होती है।

(१४) सूर्य का उदय होते समय १८९०५३३७७ मील की दूरी से दृष्टिगोचर होते बताना, जबकि १००–२०० मील की दूरी से भी दिखाई नहीं पड़ता है।

(१५) सूर्य-पिण्ड का $\frac{४८}{६१}$ योजन, यानी $३१४७\frac{३३}{६१}$ मील का व्यास बतलाना, जबकि उसका व्यास ८६६००० मील का है।

(१६) सूर्य को समभूमि से ३२००००० मील की ऊँचाई पर बताना, जब कि सूर्य हमसे ९२९६५००० मील की दूरी पर है।

(१७) चन्द्रमा को ३५२०००० मील की ऊँचाई पर बतलाना, जब कि चन्द्रमा केवल २२१६१० मील की दूरी पर ही है।

(१८) चन्द्रमा के विमान को $\frac{५६}{६१}$ योजन यानी $२६७२\frac{८}{६१}$ मील के व्यास का, सूर्य से भी बड़ा बताना, जब कि चन्द्रमा सूर्य से अत्यन्त छोटा है।

(१९) सूर्य-विमान को ३२०००० (तीन लाख बीस हज़ार) मील ऊपर बताना, जबकि इन दोनों में करोड़ों मील का फासला है और चन्द्रमा नीचा भी है।

(२०) सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के लिए राहु के पिण्ड की कल्पना करना, जब कि राहु का कोई पिण्ड है ही नहीं।

(२१) पर्व राहु के विमान को सूर्यविमान और चन्द्रविमान से ४ अंगुल नीचा बताना और साथ ही सूर्य और चन्द्र के विमान के बीच ३२०००० मील का अन्तर बताना।

(२२) नित्य राहु द्वारा चन्द्रमा की कलाओं की कल्पना बताना।

(२३) ग्रहों के उपग्रहों का नाम तक न बताना।

(२४) बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनि की ऊँचाई में तीन-तीन योजन का फासला बताना।

(२५) ग्रहों का अपनी-अपनी कक्षा और अपने-अपने अक्ष पर घूमने के बाबत कुछ नहीं कहना।

(२६) सब ग्रहों का व्यास एक समान बताना ।[१]

ये हैं जैनधर्म के सर्वज्ञों के उपदेश जिनके आधार पर कर्मबन्धन के टूटने का दावा किया जाता है । अगर ये ही कर्मबन्धन के भंजक हैं तो फिर कर्मबन्ध का स्थापक क्या होगा––यह सोचना पड़ेगा ।

(६) जैनधर्म की मोक्ष की व्यवस्था भी बड़ी ही विचित्र है । जीव कर्मबन्ध से सर्वथा छुटकर बहुत हल्का हो जाता है और सबसे ऊंचे स्थान सिद्धशिला से ऊपर जा ठहरता है । यह हल्कापन क्या है ? यह भी एक पहेली ही है । मालूम पड़ता है कि जैनधर्मी समस्त शरीर-भार को आत्मा में ही मानते हैं कि कर्मबन्ध की अवस्था में वह ऊपर नहीं चढ़ पाता । यह भार जिससे जीव ऊपर नहीं जा पाता शरीर में है, अथवा आत्मा में है अथवा कर्मबन्ध में है । यदि शरीर में है तो फिर चींटी आदि के शरीर में रहते समय अथवा पक्षी आदि के शरीर में रहते समय तो सिद्धशिला तक पहुँच ही सकता था । यदि आत्मा में ही यह भार है तो फिर हल्कापन आवेगा ही किस प्रकार । यदि कर्मबन्ध में यह भार है तो फिर उसको हल्का करने के साधन भी भारवाले ही ठहरेंगे । तपस्या आदि भी आखिरकार कर्म ही हैं अतः उनमें भी कुछ न कुछ भार होगा ही ।

यह सिद्धशिला क्या हैं ? इसकी भी आजकल विज्ञान कोई व्याख्या नहीं कर पाया है । यहाँ पर कुछ थोड़ा-सा विचार किया जाता है । जैनी लोग लोकाकाश और आलोकाकाश भेद से दो प्रकार का आकाश मानते हैं । लोकाकाश में बद्ध जीव रहते हैं और आलोकाकाश में मुक्त जीव । ऐसा इनका कहना है । यहाँ पर प्रष्टव्य है कि जैनधर्म आलोकाकाश को मुक्तात्माओं के रहने योग्य क्यों समझता है और लोकाकाश को क्यों नहीं ? यदि यह तर्क किया जावे कि लोकाकाश में वासना-तरङ्गों का संचय है और आलोकाकाश

---

१. यह १ से २६ संख्या तक का उद्धरण श्री वच्छराज सिंघी की पुस्तक 'जैन शास्त्रों की असंगत बातें' से लिया गया है । प्रथम संस्करण सन् १९४५ ।

में नहीं तो यह असंभव है क्योंकि तरंगें तो कहीं भी पहुँच सकती हैं। साथ ही इस बात का प्रमाण क्या है कि ग्रालोकाकाश में ये तरंगें नहीं पहुँचती हैं। जहाँ तक ग्राकाश है वहाँ तक तरंगों के पहुँचने की संभावना ग्रौर सिद्धि विज्ञान के ग्राधार से सिद्ध है। फिर लोकाकाश ग्रौर ग्रालोकाकाश की भेदक भित्ति क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर न बनते देखकर मालूम पड़ता है कि जैन-धर्म के तथाकथित सर्वज्ञों ने इस भेदक भित्ति को सिद्धशिला का नाम दिया। जैनधर्म ने दोनों ग्राकाशों के मध्य में इस सिद्धशिला की स्थिति मानी है। परन्तु सर्वज्ञों को ग्रपनी सर्वज्ञता से यह ज्ञात नहीं हो सका कि यह सिद्धशिला भी उनके प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकेगी।

पहले तो यही बतलाना कठिन होगा कि यह सिद्धशिला क्यों बनाई गई? इस मैगनेट लाइन की ग्रावश्यकता ही क्यों पड़ी ग्रौर यह दोनों ग्राकाशों के मध्य में स्थित किस प्रकार है। यदि इसलिए है कि ग्रालोकाकाश के मुक्त जीव लोकाकाश में न ग्रा सकें तो बड़ा ग्रनर्थ होगा। फिर जैनधर्म के नित्यसिद्ध ग्रर्हत् मुनि भी जैन भाइयों की पूजा स्वीकार करने के लिए, स्तुतियाँ सुनने के लिए ग्रौर सहायता करने के लिए लोकाकाश में न ग्रा सकेंगे। यदि वे ग्रा सकेंगे तो फिर ग्रन्य मुक्तों के ग्राने में क्या प्रतिबन्ध हो सकता है?

यह भी बतलाना चाहिए कि यह सिद्धशिला जीव की ग्रपेक्षा स्थूल तत्त्व से निर्माण की गई है या सूक्ष्म तत्त्व से। यदि स्थूल से तो सूक्ष्म का स्थूल में से पार जाना कोई कठिन नहीं। यदि सूक्ष्म-तत्त्व से तो फिर स्थूल की गति में सूक्ष्म प्रतिबन्धक होता ही नहीं।

यदि इस मैगनेट लाइन का प्रयोजन मुक्त जीवों को लोकाकाश में ग्राने से रोकना नहीं तो कृपया बतलायें कि इसका प्रयोजन ही क्या है।

कोई भी जीव कितना भी ग्रपने कर्ममल को हटा देवे परन्तु

वह किसी भी अवस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य एवं सच्चिदानन्द नहीं हो सकता है। वह अनन्तशक्ति भी नहीं हो सकता है। वह किसी भी अवस्था में ईश्वर वा परमात्मा नहीं हो सकता है।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को यह ज्ञात होना चाहिए कि पहले जो बन्धन में रह चुका है उसके लिए आगे भी मोक्ष के अनन्तर बन्धन की संभावना बनी हुई है। ईश्वर को न वह बन्धन कभी था और न होगा। अत: ऐश्वर्य को प्राप्त मुक्त जीव कभी भी ईश्वर नहीं हो सकता है।

इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठता है कि कई अनन्तशक्ति जीवों की यह शक्ति समान है वा भिन्न-भिन्न। यदि समान है तो कई ईश्वर ठहरेंगे। इस प्रकार एक कार्य में दोनों का विरोध होने पर वह कार्य होगा नहीं। यदि दो में किसी की शक्ति अपने से दूसरे पर शक्तिशालिनी होगी तो वही शक्तिवाला समझा जावेगा। दूसरा नहीं। उससे भी आगे भविष्य में मुक्त होने वाले अन्यों के साथ शक्ति संतुलन का झगड़ा बना रहेगा। अत: एक सर्वशक्तिमान् परमात्मा का मानना ही ठीक है। यदि इन प्रत्येक मुक्त जीवों की शक्ति भिन्न-भिन्न है तो फिर इनमें भी शक्ति के संतुलन का परस्पर झगड़ा बना रहेगा और वही पहले वाला दोष पुन: उपस्थित होगा।

साँचे का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। साँचे में से वस्तु को निकालने पर साँचा रह जाता है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि शरीर साँचा है वा जैनधर्म का माना हुआ जीव। यदि जीव सांचा है तो जीव में शरीर वस्तु रहेगा। यदि शरीर सांचा है तो उसमें जीव वस्तु रहेगा। परन्तु बताना तो यह पड़ेगा कि इनमें साँचा कौन है और वस्तु कौन है। यदि शरीर को साँचा न माना जावे तो फिर शरीर को जीव के अन्दर वस्तुरूप मानना पड़ेगा। परन्तु जीव को जैनधर्म शरीराकार मानता है शरीर को जीवाकार नहीं। यदि शरीर को साँचा माना जावे तो वस्तु जीव ठहरता है अत: वह साँचा नहीं रहता। यदि मुक्त जीव शरीर रूपी साँचे के

आकार का रह जाता है तो तीर्थङ्करों के जीव जो कि उनके शरीरों के आकार के थे किस प्रकार सिद्धशिला के ऊपर पहुँचे होंगे। इतना ही नहीं साँचे में ढली वस्तु में आकार-मात्र ही तो होता नहीं। उसमें वस्तुतत्त्व भी होता है और भार आदि भी। कितना भी हल्का होने पर रूई तो हो नहीं सकता। फिर सिद्धशिला के ऊपर कैसे पहुँचेगा ? यदि माना जावे कि केवल आकार ही मात्र जीव है तो फिर विना वस्तु के आकार ठहर नहीं सकता है।

(७) सिद्ध परमात्मा की कल्पना सर्वथा थोथी है। सिद्ध की पूर्व और बाद में असिद्ध कोटि है। परमात्मा की ऐसी कोई भी अवस्था नहीं। अर्हन्त वा अवतार की दशा में रहने वाले भी, उनके उपदेशों से स्पष्ट है कि अल्पज्ञ एवं अनभिज्ञ भी थे। उन्होंने अनेकों बातें ऐसी कही हैं जो तर्क और युक्ति से सर्वथा हीन हैं। यही कारण है कि जैनधर्मियों द्वारा उनके शास्त्रों की जो बातें सर्वज्ञ के उपदेश के रूप में मानी जाती हैं वे सर्वथा ही अनर्गल पाई जाती हैं। जीवों के शरीरों का वर्णन, उनकी आयु का वर्णन, भूगोल एवं खगोल का वर्णन, और काल का वर्णन आदि इसी प्रकार की बाते हैं।

इस प्रकार जैनधर्म द्वारा प्रदर्शित ईश्वर का स्वरूप किसी भी प्रकार स्थित नहीं होता है। न यह तर्कसम्मत है और न प्रमाण-संगत है।

मूर्तिपूजा पर विचार

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने पाषाणादि मूर्तिपूजा का खण्डन किया है। चेतन मूर्तियाँ जो माता-पिता, आचार्य आदि हैं उनका सत्कार करने का विधान किया है। पाषाणादि की मूर्तियाँ पूज्य नहीं हैं। परमात्मा की तो कोई मूर्ति हो ही नहीं सकती है। उन्होंने अपने सिद्धान्त को बहुत ही स्पष्ट रूप से अपने ग्रंथ सत्यार्थ-प्रकाश में रख दिया है। जैनधर्मानुयायी सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने

महर्षि की बात को विना समझे हुए व्यर्थ में 'प्रतिमापूजन पर विचार' शीर्षक से अपनी बात को रखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकरण में कोई भी ऐसा तर्क उसने नहीं प्रस्तुत किया है जिससे जैन-धर्मियों की नग्नमूर्त्तियों आदि की पूजा सिद्ध हो सके फिर भी यहाँ पर कुछ विचार उसकी बातों को और भी अधिक निस्सार सिद्ध कर देने के लिए किया जाता है। पूर्व-प्रकरणों की भांति उसके कुतर्कों को क्रमशः यहाँ देकर पुनः उसी प्रकार उत्तर भी दिया जाता है।

सत्यार्थदर्पण-कर्त्ता के तर्क :

(१) उन्हों (स्वामी जी) ने जैनधर्म के ऊपर उसके मूर्तिपूजक होने के कारण अनुचित तौर से भी आक्षेप किए हैं। मूर्तिपूजा का विषय ऐसा महत्त्वशाली है, कि जिसको विना माने संसार का कार्य चलना मुश्किल ही नहीं किन्तु असंभव है।

(२) इससे मतलब यह निकलता है कि जो पदार्थ जड़ समझे जाते है उन्हीं अन्न, रुपया, पैसा, वस्त्र आदि जड़ पदार्थों से हमारा चेतन जीव कायम रह सकता है। जड़ पदार्थ चेतन जीव पर बहुत भारी असर डालता है। बिजली, भाप, गैस आदि पदार्थों की ओर देखने से तो जड़ पदार्थ के द्वारा जीव पर होने वाले असर के विषय में सन्देह कपूर के समान बिल्कुल उड़ जाता है।

(३) मूर्त्ति शब्द के अभिप्राय को कहनेवाले प्रतिमा, चित्र, तसवीर, शक्ल, सूरत, फोटो आदि अनेक शब्द हैं। विलासिनी वेश्या की तसवीर हृदय पर खराब रागभाव पैदा कर देती है और भीम, महाराणा प्रतापसिंह आदि का चित्र देखकर वीरता का भाव हृदय में तुरन्त उत्पन्न हो जाता है।

(४) ऋतुकाल के पीछे स्नान की हुई स्त्री के सामने जिस पुरुष की मूर्त्ति आती है, गर्भ रह जाने पर गर्भ वाले बालक की सूरत भी वैसी ही हो जाती है। मूर्त्ति अपना प्रभाव गर्भ पर डालती है और वह भी इतना भारी कि उसके उदरवर्त्ती गर्भ की सूरत अपने सरीखी

कर देती है।

(५) मूर्त्ति दो प्रकार की होती हैं, एक तदाकार और दूसरी अतदाकार। असली पदार्थ के आकार की मूर्त्ति तदाकार है जैसे मनुष्य, हाथी, घोड़े आदि। क, ख, ग आदि का जो उच्चारण होता है उस उच्चारण का तो फोटो हो नहीं सकता अतः क, ख, ग, ए, बी, आदि के शक्लों के चिह्न मानने पड़े हैं। इन अतदाकार मूर्त्तियों का भी जीव पर प्रभाव पड़ता है। इससे पढ़ने आदि का सारा व्यवहार चलता है।

(६) पत्थर यद्यपि एक-से हैं, किन्तु उनमें पत्थर की मूर्त्ति ही पूज्य हो सकती है; जैसे कि कागज़ के टुकड़े तो यद्यपि सभी कागज़-मात्र होते हैं, किन्तु हुण्डी, नोट आदि का कागज हज़ारों-लाखों रुपये क्यों देता है। वेद की पुस्तक के कागज़ क्यों कीमती और पूज्य समझे जाते हैं, अन्य कागज़ के टुकड़े उतने कीमती क्यों नहीं ?

(७) नहीं, मूर्त्ति भी अपनी चेष्टा के द्वारा हमें पर्याप्त उपदेश देती है। कांग्रेस के नेता लोग जो भाषण देते हैं वह तो यद्यपि छपकर दो पैसे के अखबार से मालूम हो सकता है फिर भी लोग कांग्रेस में सैकड़ों रुपये खर्च कर के क्यों जाते हैं ? केवल इसलिए कि जो शिक्षा उनकी मूर्त्ति देखकर मिल सकती है, वह अखबार से नहीं।

(८) यदि अर्हन्त देव की अल्पवयस्क निर्विकार बालक के समान नग्नमूर्त्ति को देखा जाय तो उससे बिना बोले भी यही उपदेश मिलता है, कि संसार में कोई भी पदार्थ आत्मा का नहीं है, जीव पैदा होते समय जैसे अपने साथ कुछ नहीं लाता है उसी प्रकार वह मरते समय भी अपने साथ कुछ नहीं ले जायगा। मूर्त्ति के दर्शन करने तक पहुँचने के लिए मन्दिर और उसकी सजावट कारण है, जैसे कि कुनैन खाने के लिए बताशा। अतः जैनियों की अपनी अर्हन्त मूर्त्ति के लिए सुन्दर मन्दिरों की आवश्यकता है। जैनी लोग पाषाण-मूर्त्ति की पूजा नहीं करते हैं, किन्तु उस मूर्त्ति वाले अर्हन्त की पूजा करते हैं। निराकार ईश्वर का ध्यान भी तभी हो सकता है, जब कि

कम से कम हृदय पर कुछ न कुछ उसका आकार खिंच जाय। "ईश्वर के सर्वव्यापक होने से उसकी मूर्त्ति बनाना अयोग्य है"—स्वामी जी का यह अभिप्राय निर्मूल है, क्योंकि ईश्वर के सर्वव्यापक होने में कोई भी प्रमाण नहीं है।

समाधान

ऊपर दिये गए आक्षेपों का उसी क्रम से समाधान किया जाता है। सत्यार्थदर्पण के लेखक ने जो कुछ भी लिखा है उसका मूर्त्तिपूजा की सिद्धि से कितना सम्बन्ध है—यह तो वे स्वयं ही जानें। यदि वस्तुतः कुछ बल था तो उन्हें चाहिए था कि वे यह सिद्ध करते कि मूर्त्तिपूजा जैनियों से नहीं चली और जैनियों की नग्नमूर्त्तियाँ एवं उनकी पूजा का प्रकार कोई भी वास्तविकता रखता है—परन्तु इस में वे न कुछ लिख सके और न सफल ही हो सके। इधर-उधर की बातें ही लिखकर रह गए और मूर्त्तिपूजा पर किया जाने वाला आक्षेप ज्यों का त्यों बना ही हुआ है।

(१) स्वामी जी महाराज ने जैनधर्म के ऊपर मूर्त्तिपूजक होने का जो विचार प्रकट किया है उसमें किसी प्रकार की अनौचिती नहीं। विवेचक का कार्य ही है कि वह तथ्य को प्रकट करे, निराकरणीय का निराकरण करे। उन्होंने जो आक्षेप किये हैं आज तक उसका कोई भी समाधान जैनधर्मानुयायियों से नहीं बन सका है और न बन सकता है। मूर्त्तिपूजा का विषय इतना महत्वशाली है कि जिसको माने बिना संसार का कार्य चलना असंभव है—यह एक ऐसा ऊट-पटांग अनुसंधान सत्यार्थदर्पण के लेखक का है कि जिस पर संसार के विचारकों को चकित होना पड़ेगा। इसको स्यात् विश्व के आश्चर्यों में परिगणित करना पड़ेगा। इन लेखक महोदय से पूछना चाहिए कि जब मूर्त्तिपूजा के विना संसार का कार्य चलना असंभव है तो फिर मूर्त्तिपूजा का खण्डन करने वाले आर्य लोगों, इस्लाम-धर्मियों और नास्तिकजनों तथा जो मूर्तिपूजा को मानते हैं उनका कार्य

क्यों चल रहा है, और कैसे चल रहा है ? जिन लोगों ने मूर्त्तियों को तोड़ दिया उनका कार्य कैसे चला ? इस प्रकार के अनर्गल आधारों पर पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा नहीं सिद्ध की जा सकती है। सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता के तर्क से ही मूर्त्तिपूजा का खण्डन हो जाता है। क्योंकि संसार का कार्य विना मूर्त्तिपूजा के चल रहा है और न मुश्किल ही हुआ और न असंभव ही ठहरा।

(२) अन्न, रुपया, पैसा आदि पाषाणादि मूर्त्ति नहीं है। अतः उसका तर्क उपस्थित करना समझ को भी तिरस्कृत करना है। अन्न खाया जाता है और पचाया जाता है, तथा अन्न अपने समान बीज को खेती करने पर उत्पन्न करता है। पाषाणादि मूर्त्तियों में इन दोनो धर्मों को कोई दिखा ही नहीं सकता है। अन्न की धूप, दीप, और घण्टा-घड़ियाल से पूजा नहीं की जाती है। क्या कोई भी जैनधर्मी भाई अन्न को खाने और प्रयोग करने के अतिरिक्त उसकी मूर्त्ति की भाँति पूजा करता है। रुपया-पैसा विनिमय का शासनमान्य माध्यम है। क्या किसी भी पाषाण की मूर्त्ति को यह स्थिति प्राप्त है ? वस्त्र पहनने की वस्तु है--धूप-दीप करके पूजा करने की वस्तु नहीं। अन्न, रुपया-पैसा और वस्त्र जड़ होते हुए प्रयोग की वस्तु हैं, पूजा के योग्य नहीं। जड़ वस्तुओं के यथावत् प्रयोग का नाम मूर्त्ति-पूजा नहीं है, और न इसका खण्डन ही किया गया है। खण्डन तो पाषाण और धातु आदि की बनी इन मूर्त्तिओं की पूजा का किया जाता है जो जैनधर्मी और दूसरे मूर्त्तिपूजक करते हैं। मूर्तियों से मूर्तिपूजक अपना मनोरथ सिद्ध करने की याचना करते हैं। धन माँगते हैं, बच्चे मांगते हैं, आदि-आदि। परन्तु क्या अन्न, वस्त्र और रुपये-पैसे आदि से भी कोई ऐसी प्रार्थना करता है ? कदापि नहीं।

बिजली, वाष्प और गैस आदि जड़ पदार्थ चेतनों पर अपने गुणों और कार्यों का प्रभाव जिस रूप में डालते हैं, क्या जैन मन्दिरों में पड़ी कोई भी मूर्त्ति इनमें से किसी एक के प्रभाव स्वयं किसी चेतन पर डाल सकती है ? यदि हाँ, तो करके ही दिखा दें और

यदि नहीं, तो फिर यह तर्क व्यर्थ का है। साथ ही बिजली, वाष्प और गैस के प्रभाव अच्छे भी होते हैं, और उल्टे भी। क्या जैनधर्म की मूर्त्तियों के भी इसी प्रकार के प्रभाव हैं? यदि प्रभाव हैं तो फिर वे पूज्य वस्तु किस प्रकार बन सकती हैं। बिजली प्रकाश भी देती है, अन्य उपयोगी कार्यों में आती है, यंत्र आदि भी इससे चलाये जाते हैं, मुर्दे आदि भी इससे जलाये जाते हैं और इससे फाँसी आदि भी दी जाती है। इन कार्यों को क्या जैनधर्म की मूर्त्तियाँ भी करती हैं? क्या कभी ऐसा कार्य किसी मूर्त्ति ने किया? कोई भी जड़ पदार्थ जिस गुण-धर्म वाला है और जिस प्रकार के प्रयोग में आने वाला है उसी गुण-धर्म के अनुसार और उसी प्रकार से अपना प्रभाव डालता है। परन्तु मूर्त्तियों से तो मूर्त्तिपूजक सभी गुणधर्मों और सभी प्रकार के प्रयोग से होने वाले समस्त प्रभावों को स्वीकार करते हैं जो सर्वथा असंभव है।

(३) मूर्ति शब्द से फोटो का ग्रहण करना एक प्रकार की विडम्बना है। सत्यार्थदर्पण के लेखक जब यह स्वयं स्वीकार कर रहे हैं कि विलासिनी वेश्या की तस्वीर हृदय पर खराब रागभाव पैदा कर देती है तो फिर जैनियों की नग्नमूर्तियाँ वैराग्य का भाव कैसे पैदा करेंगी। उनसे भी तो रागभाव ही उत्पन्न होगा। नग्न स्त्री-पुरुष की मूर्त्ति देखकर वैराग्य पैदा होगा—-यह सर्वथा ही ग़लत है। इसके देखने से तो विकार ही उत्पन्न होगा। महापुरुषों के गुणों से वीरता आदि का भाव पैदा होता है उनकी कल्पित प्रतिमावों से नहीं। इसके अतिरिक्त धूप, दीप, नैवेद्य आदि जो किये जाते हैं वे क्या इसी वीरता के भाव पैदा करने के लिए किये जाते हैं। क्या राणा प्रताप आदि वीरों की मूर्तियों का धूप-दीप करने से वीरता के भाव पैदा हो सकेंगे। बात की वास्तविकता को न छूकर केवल ऊपर की हाँकने से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं हो सकती है। जब कोई पुरुष वा स्त्री नग्न खड़ी हो तो उसे देखकर वैराग्य-भाव नहीं पैदा होता है तो फिर उसकी पाषाण आदि की प्रतिमा बनाकर खड़ी कर देने में वैराग्य-

भाव किस प्रकार पैदा होगा। यह सब व्यर्थ की कल्पना है।

(४) ऋतुकाल के पीछे स्नान की हुई स्त्री के सामने जिस पुरुष की मूर्ति आती है, गर्भ रह जाने पर गर्भ वाले बालक की सूरत भी वैसी ही हो जाती है--यह कथन भी सत्य नहीं है। वस्तुतः बात ऐसी है कि गर्भ धारण करने के क्षण में यदि स्त्री अपने मन में किसी पुरुष वा किसी सर्प आदि चेतन व्यक्तियों का चिन्तन करती है तो गर्भ उसी प्रकार का बन जाता है। यह नियम चेतन के विषय में है जड़ मूर्तियों के विषय में नहीं। किसी अचेतनमूर्ति का ऐसा प्रभाव गर्भ पर नहीं पड़ा करता है। शिवलिङ्ग, चतुर्भुज विष्णु, मकान, ईंट, पत्थर, वृक्ष, पहाड़ आदि का चिन्तन करने पर गर्भ वैसे आकार का कभी भी नहीं बन सकता है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को ज्ञात होना चाहिए कि ऋतुकाल के पीछे स्नान की हुई स्त्रियाँ अपने मकान आदि को सदा देखती हैं, चारपाई और आभूषण एवं वस्त्र आदि को भी देखती हैं परन्तु उन आकारों के गर्भ आज तक किसीके भी क्यों नहीं बनते ? इसी प्रकार पत्थर की मूर्तियाँ देखकर उस आकार का भी गर्भ नहीं बन सकता है। अतः यह युक्ति भी जैनियों की मूर्तिपूजा को सिद्ध नहीं कर सकती है। इन नंगी जैनमूर्तियों को देखने वाली स्त्रियाँ भी तो इनके पूजकों में होंगी। क्या इन आकारों की कोई सन्तति आज तक उत्पन्न हुई ?

(५) आपकी परिभाषा में जो तदाकार मूर्तियाँ हैं उनका तो पर्याप्त खण्डन किया जा चुका है। इन तदाकार मूर्तियों की व्यर्थता तो बतलाई गई, अब थोड़ा-सा आपकी मानी अतदाकार मूर्तियों का भी विचार किया जाता है। वस्तुतः क, ख, ग आदि वर्ण हैं, मूर्ति नहीं। शब्द दो प्रकार का होता है। ध्वन्यात्मक और दूसरा वर्णात्मक। इस दृष्टि से वर्ण शब्द की मूर्ति नहीं है, बल्कि शब्द का एक भेद ही है। यदि शब्द दो प्रकार का न होता तो कभी भी इन वर्णों से किसी प्रकार का बोध नहीं हो सकता था। परन्तु वर्ण भी शब्द के प्रकार हैं अतः इनसे शब्द का बोध होता है और पठन-पाठन

आदि व्यवहार चलता है। जितने वर्ण हैं, मुख में उनके उच्चारण का का स्थान है, और प्रयत्न भी निश्चित हैं। उनकी मूर्ति के रूप में कोई भी स्थिति मुख में नहीं हैं। अतः उन्हें मूर्ति कहना भ्रम है। इसके अतिरिक्त इन वर्णों की कोई भी व्यक्ति धूप, दीप आदि से मूर्तियों की भांति पूजा नहीं करता है। यदि करे तो उससे इनके व्यवहार का कार्य चल भी नहीं सकता है। इसलिए सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की यह युक्ति भी उसकी मूर्तिपूजा की सिद्धि करने में सर्वथा ही असमर्थ है।

(६) कागज़ यद्यपि एक-से हैं परन्तु नोट और हुण्डी आदि के पीछे एक सरकारी अथवा व्यक्ति-विशेष की शक्ति का मूल्य लगा है। चेक का कागज़-मात्र नहीं भुना करता है बल्कि जिस व्यक्ति का रुपया जमा है उसके हस्ताक्षर और आज्ञा का मूल्य भुना करता है। वही चेक यदि विना हस्ताक्षर का हो और जिसने दिया है उसका यदि बैंक में पैसा न हो तो कभी भी नहीं भुनेगा। यदि हस्ताक्षर न मिले तब भी चेक नहीं भुनता। यदि बैंक के खाते में चेक देनेवाले का रुपया न हो तब भी नहीं भुनता है। खाते में पैसा न होने पर चेक देनेवाले के चेक का भुनना तो दूर रहा, धोखा देने का अभियोग भी उसपर चल सकता है। यही हाल हुण्डी का भी है। नोट पर सरकार की शक्ति का मूल एवं टेण्डर है। यह पहले ही मान लिया गया है कि जितने नोट वितरित हुए हैं उनका रुपया रिज़र्व बैंक में जमा है, और नोट पर गारण्टी है। तभी वह नोट चलता है। नहीं तो नक़ली नोट भी चल जाते। नोट, हुण्डी और चेक के पीछे जो बल एवं गारंटी है वह इन पाषाण आदि की मूर्त्तियों के पीछे नहीं है। तीर्थङ्करों की जो मूर्त्तियाँ पूजी जाती हैं उनके पीछे क्या गारण्टी है—यह तो सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को बताना चाहिए था। इन मूर्त्तियों के पीछे न तो उनकी कोई गारण्टी हो सकती है, जिनकी कि ये मूर्त्तियाँ हैं और न जैनधर्म की ही कोई गारण्टी बन सकती है। अतः उनकी स्थिति वही है जो एक साधारण पत्थर की है। अजायबघरों में भी

तो ये मूर्त्तियाँ पड़ी हैं। वहाँ पर जैनधर्मी किस-किस की पूजा करते हैं। वहाँ पर क्यों धूप-दीप नहीं करते। यदि वहाँ पर ऐसा करना मूर्खता है तो फिर यही हाल अन्य मूर्त्तियों की पूजा का भी है। नोट के विनिमय को न मानने पर दण्ड का भागी बनना पड़ सकता है परन्तु इन मूर्त्तियों के न मानने और पूजने वाले के लिए कोई दण्ड नहीं हो सकता है।

वेद के पुस्तक की क़ीमत उसके ज्ञान की दृष्टि से है, काग़ज़ और छापे की दृष्टि से नहीं। वेद कोई धूप-दीप करने की वस्तु नहीं है। अतः यह युक्ति भी पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा के समर्थन में नहीं है।

(७) चेष्टा दो प्रकार की होती है। स्वेच्छापूर्वक चेष्टा और निरिच्छापूर्वक चेष्टा। यह चेतनों में तो देखी जाती हैं, जड़ मूर्त्ति में नहीं। जब पाषाण आदि की बनी मूर्त्तियों में चेष्टा का सर्वथा ही अभाव है तो फिर उन्हें उपदेश देने वाला बताना नितान्त ज्ञान-शून्यता की बात है। जड़ मूर्त्तियाँ आज तक उपदेश देती हुई कहीं भी नहीं देखी गई है। क्या सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता किसी भी पाषाण आदि की बनी मूर्त्ति से यह उपदेश देने का कार्य सम्पन्न करा सकते हैं।

काँग्रेस के नेताओं के भाषण सुनने के लिए लोग इसलिए नहीं जाते हैं कि वहाँ पर इन नेताओं की पाषाणमयी मूर्त्तियाँ उपदेश करती हैं। बल्कि नेताओं के मुख से ही भाषण सुनने जाते हैं। वहाँ पर मूर्त्तियों का भाषण सुनने कोई नहीं जाता है। यदि मूर्त्तियाँ भाषण कर सकती होतीं तो फिर नेताओं के फोटो और प्रतिमायें ही इन भाषणों को सुना देतीं और कांग्रेस में जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को यह सोचना चाहिए था कि वह कैसा तर्क कर रहे हैं। उनका तर्क तो उन्हीं को काट रहा है।

यदि मूर्त्तियाँ नेताओं का कार्य कर सकतीं तो आज मृत नेताओं की प्रतिमायें और स्टेच्यू उनका कार्य करते रहने चाहिए थे। परन्तु ऐसा नहीं है। मृत नेताओं के ये स्टेच्यू और फोटो लोकसभा में

भाषण करते रहते और मंत्रित्व भो संभालते रहते। इसी प्रकार जैन तीर्थङ्करों की मूर्त्तियाँ जैनधर्म का उपदेश करती रहतीं और अपनी सिद्धि स्वयं कर लेतीं और दूसरे को उनकी सिद्धि करने का व्यर्थ प्रयास करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परन्तु सारी स्थिति विपरीत है। कोई भी मूर्त्ति न उपदेश करती है और न कर सकती है, सत्यार्थदर्पण के लेखक कितना ही एड़ी-चोटी का बल लगा लें। कांग्रेस में जड़ मूर्त्तियों का भाषण सुनने के लिए लोग नहीं जाते हैं—बल्कि चेतन मूर्त्तियों का भाषण सुनने जाते हैं।

(८) अर्हन्त की अल्पवयस्क मूर्त्ति का प्रश्न ही क्या जब कि उनकी वयस्क नग्नमूर्त्तियां बनी हुई हैं। आप पहले कह चुके हैं कि वेश्या की मूर्त्ति के दर्शन से राग-भाव उत्पन्न होता है तो फिर नग्नमूर्त्ति देखने से विकार क्यों नहीं पैदा होगा? इसका कोई भी कारण बताना चाहिए। अर्हन्त की नग्नमूर्त्ति को देखकर यह उपदेश तो किसी भी अवस्था में नहीं मिल सकता है कि संसार में कोई भी पदार्थ आत्मा का नहीं है, जीव जिस प्रकार पैदा होते समय अपने साथ कुछ नहीं लाता है उसी प्रकार वह मरते समय भी कुछ नहीं ले जायगा। जैनधर्म में एक सम्प्रदाय ही दिगम्बरों का है। उनको देखकर जब जीव को यह उपदेश नहीं मिलता तो फिर नग्न मूर्त्ति को देखकर यह उपदेश किस प्रकार संभव है।

एक प्रश्न यहाँ पर यह भी उठता है कि अर्हन्त की नग्नमूर्त्ति को देखकर यह उपदेश विरक्त ज्ञानी को मिलता है वा मूर्ख को। यदि विरक्त ज्ञानी को मिलता है तो मूर्त्तिपूजा उसके लिए उपयोगी नहीं क्योंकि वह तो पूर्व ही विना मूर्त्तिपूजा के वह ज्ञान प्राप्त कर चुका है। साथ ही फिर मूर्तिपूजा इस ज्ञान का साधन है, यह भी ग़लत है। और इसी आधार पर फिर मूर्तिपूजा मूर्ख के लिए तो रह ही नहीं जावेगी—क्योंकि आप ज्ञानी के लिए उसका उपयोग मानते हैं। यदि मूर्ख को नग्नमूर्त्ति से यह उपदेश मिलता है तो मूर्त्तिपूजा ज्ञानी के लिए न होकर मूर्ख के लिए है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार

की मूर्त्तिपूजा करनेवालों की गणना आप स्वयं मूर्ख में कर देंगे। मूर्ख का भी लक्षण करना आवश्यक होगा। मूर्ख है ही वह जो वस्तु को याथातथ्य और यथार्थता से न समझे। ऐसी अवस्था में उसके द्वारा स्वीकार किया हुआ यह मूर्त्ति-पूजन यथार्थ और याथातथ्ययुक्त नहीं है। फिर इसे किसी धर्म का सिद्धान्त किस प्रकार बनाया जा सकता है।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि फिर अविद्या वा अज्ञान का लक्षण क्या होगा? "अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्या" अर्थात् जो वस्तु जैसी न हो उसको वैसी मानना और उसके गुणों के विपरीत उससे लाभ लेने का प्रयत्न करना अविद्या है। इस लक्षण के अनुसार जड़ पाषाण आदि मूर्त्ति की पूजा करना भी अविद्या एवं अज्ञान है।

कुनैन और बताशे का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। न मूर्ति कुनैन की भांति है और न मन्दिर बताशे की भांति ही है। जैनी लोग पाषाण मूर्त्ति की पूजा नहीं करते हैं किन्तु उस मूर्त्ति वाले अर्हन्त की पूजा करते हैं--यह भी एक कथन-मात्र की बात है। अर्हन्त मूर्त्ति में न बैठे हैं और न जीवित ही हैं। उनकी पूजा यदि जैनी लोग करते हैं तो फिर मूर्ति की आवश्यकता नहीं। यदि मूर्त्ति की पूजा करते हैं तो वे अर्हन्त की पूजा नहीं कर रहे हैं। प्रश्न यह उठता है कि जैनी जिस पाषाण मूर्ति को अर्हन्त की मूर्ति कहते हैं उसे देखने के समय ही पहले मूर्त्ति से अर्हन्त का ज्ञान होता है अथवा अर्हन्त का ज्ञान होकर पुनः उनकी यह मूर्त्ति है--ऐसा ज्ञान होता है। यदि मूर्त्ति का ही प्रथम ज्ञान होता है तो फिर अर्हन्त की पूजा जैनी करते हैं मूर्त्ति की नहीं, यह कहना ठीक नहीं है। और यदि अर्हन्त का ज्ञान पहले होता है और बाद में यह उनकी मूर्ति है--इस प्रकार का ज्ञान होता है तो फिर मूर्ति अर्हन्त के ज्ञान का साधन नहीं बन सकती। अर्हन्त भी एक मनुष्य थे। उनके मरने के बाद मूर्ति में वे किसी भी प्रकार हो ही नहीं सकते हैं। अतः अर्हन्त की पूजा की बात ही सर्वथा मिथ्या है। यह तो पाषाण-मूर्ति की ही पूजा है।

सत्यार्थदर्पण के लेखक महोदय जैनधर्मियों की मूर्त्तिपूजा की वकालत में तो फेल रहे। उन्होंने परमात्मा को न मानते हुए भी अब निराकार ईश्वर की मूर्त्ति की वकालत भी प्रारम्भ कर दी। यह कितनी विचित्र सी बात है। इस पर यहाँ पर तनिक विचार किया जाता है। आप कहते हैं कि "निराकार ईश्वर का ध्यान भी तभी हो सकता है जब कि कम से कम हृदय पर कुछ न कुछ उसका आकार खिंच जाय"। यह कैसी बेतुकी और स्वयं को काटने वाली उक्ति है। अगर ऐसे ही कमज़ोर वकील मिल जावें तो मुकदमे में हार निश्चित है। इन लेखक महोदय से पूछा जाना चाहिए कि जब ईश्वर निराकार है तो फिर उसका कुछ न कुछ आकार किस प्रकार खिंच सकता है। यदि आकार खिंचे तो फिर वह निराकार क्योंकर हो सकता है। अतः यह एक प्रकार का वदतोव्याघात है। यह अपने-आपका खण्डन है।

यह भी कहना ठीक नहीं कि निराकार का ध्यान नहीं हो सकता है। जो वस्तु जिस प्रकार की है उसको वैसा ही मानकर उसका ध्यान हो सकता है। निराकार को साकार मानकर ध्यान करना तो अविद्या है। यह फिर ध्यान किस प्रकार कहा जा सकता है? ध्यान का अर्थ भी तो लेखक को ज्ञात होना चाहिए था। मन का निर्विषय होना ध्यान है। दूसरा लक्षण यह है कि जिस का ध्यान किया जा रहा है उसकी मन में एकतानता होना ध्यान है। ये दोनों लक्षण यह नहीं बताते हैं कि निराकार को साकार मानकर ध्यान हो सकता है। परमात्मा निराकार है अतः उसे निराकार ही समझकर ध्यान किया जाता है। साकार पाषाणादि मूर्त्ति उसके ध्यान का साधन नहीं है।

यह सर्वथा ही ठीक है कि ईश्वर सर्वव्यापक है। उसकी सिद्धि पूर्व इसी प्रकरण में की चुकी है। अतः यह सर्वथा ही सत्य एवं युक्ति-युक्त है कि निराकार एवं सर्वव्यापक ईश्वर की मूर्त्ति नहीं बनाई जा सकती है। लेखक ने स्वयं ईश्वर की सर्वव्यापकता के खण्डन में

कोई ऐसा प्रमाण नहीं दिया है कि जिसका खण्डन न हो सके अतः उसका यह कथन नितराम् निराधार है कि ईश्वर के सर्वव्यापक होने में कोई प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार संक्षेप में जैनधर्म की मूर्त्तिपूजा पर विचार किया गया और वास्तविकता को प्रकट किया गया।

ईश्वर की सर्वव्यापकता

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की ईश्वरके सम्बन्ध में उठाई गई आपत्तियों का उत्तर पूर्व दिया गया। अब इस शीर्षक के अन्तर्गत श्री छुल्लक निजानन्द (पूर्व स्वामी कर्मानन्द) की पुस्तक ईश्वर मीमांसा पृष्ठ ३३८-३४० तथा पृष्ठ ७९७-८१३ में उठाये गए आक्षेपों का समाधान किया जाता है। जैनधर्मी मानवेश्वर के मानने वाले हैं अतः सर्वव्यापक और सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् अमानवेश्वर के विषय में अपनी आस्था के अनुसार अनेक आक्षेप करते हैं। यद्यपि ये आक्षेप निराधार और असंगत हैं फिर भी येन-केन-प्रकारेण अपनी बात उन्हें कहनी ही हुई। यहाँ पर भी पूर्व की भांति 'ईश्वर मीमांसा' के उठने वाले आक्षेपों को क्रमशः लिखकर पुनः उसी क्रम से उनका निराकरण किया जावेगा।

छुल्लकजी के आक्षेप :

(१) श्री पं० सातवलेकर-कृत ईश्वर साक्षात्कार के आधार पर ये सभी (वैदिक) ऋषि 'ईश्वर विश्वरूप है' ऐसा ही कह रहे हैं। अतः जो विश्वरूप दीख रहा है, या अनुभव में आ रहा है वही प्रत्यक्ष ईश्वर का स्वरूप है। आज ईश्वर को अदृश्य माना जाता है, पर विश्वरूप दृश्य होने से वैदिक ईश्वर भी दृश्य ही है।

(२) ईश्वर बहुत दूर है, ईश्वर हरएक वस्तु में है; ईश्वर अन्दर है और बाहर भी है; ईश्वर सब में है और सब ईश्वर में हैं; और ईश्वर ही सब कुछ है। इन में अन्तिम धारणा वैदिक है।

(३) एक ईश्वर की सार्वभौमसत्ता मानने पर तथा ईश्वर को सर्वव्यापक मानने पर दूसरी सृष्टि की सत्ता मानना कठिन है। क्योंकि एक ही स्थान में दो वस्तुओं का रहना असंभव है। जहाँ सृष्टि है वहाँ ईश्वर नहीं, और जहाँ ईश्वर होगा वहाँ सृष्टि नहीं। भूतों में ईश्वर है ऐसा मानने पर सब भूतों को खोखला मानना पड़ेगा और ऐसा मानना पड़ेगा कि खोखलेपन में ईश्वर रहा है।

(४) इसी प्रकार ईश्वर में सब भूत हैं ऐसा कहने पर मानना पड़ेगा कि ईश्वर में ऐसा स्थान है जहाँ सब भूत रह सकते हैं। दो या तीन पदार्थ ईश्वर के अतिरिक्त हैं और उनके साथ ईश्वर भी सर्वव्यापक है--इस कथन का तर्क-दृष्टि से कुछ भी मूल्य नहीं है। ये ईश्वर, प्रकृति और जीव को अनादि मानते हैं और वैसा मानते हुए ईश्वर को सर्वव्यापक भी मानते हैं।

(५) घातक, चोर, डाकू, लुटेरे, ठगनेवाले, धोखेबाज़, फरेबी, नियमों का उल्लंघन करने वाला, और रात्रि के समय दुष्ट इच्छा से भ्रमण करनेवाला--निःसन्देह ये दुष्ट भाव वाले मानवों के वाचक शब्द हैं। परन्तु ये भी रुद्र के ही रूप हैं। चार वर्णों के मानवों का जीव जैसे परमात्मा का अंश है वैसे ही इन चोर आदि का जीव भी परमात्मा का अंश है। इस प्रकार चोर आदि सब ईश्वर हैं।

(६) ईश्वर को सर्वव्यापक मानने पर उसे निमित्त कारण नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह नियम है कि निमित्त कारण हमेशा एकदेशीय होता है और वह कार्य आदि में व्यापक नहीं होता। कार्य में जो व्यापक रहता है वह समवायिकारण है। जैसा कि लिखा है--**स्वसमवेत-कार्योत्पादकं समवायिकारणम्।** यह सार्वतंत्रिक सिद्धान्त है कि उपादान कारण वह है जो कार्य में व्यापक रहे और निमित्त कारण वह है जो कार्य में व्यापक न रहे।

(७) घड़ी का बनाने वाला घड़ी में व्यापक नहीं होता, जिस पुस्तक को मैं लिख रहा हूँ उसमें मैं व्यापक नहीं हूँ। इंजन का बनाने वाला इंजन में व्यापक नहीं और कुम्हार घड़े में व्यापक नहीं।

जब ये पदार्थ अपने कर्त्ता के इनमें विना व्यापक हुए काम देते हैं तो अपार ज्ञान और शक्ति वाले ईश्वर को सृष्टि के अन्दर व्यापक रहने के लिए क्यों बाधित किया जावे। बहुत-से वेदान्ती इसीलिए ईश्वर को निमित्त कारण न मानकर उपादान कारण मानते हैं।

(८) जिस प्रकार सूर्य एक स्थान पर है परन्तु उसका प्रकाश समस्त भूमण्डल पर जाता है उसी प्रकार ईश्वर एक स्थान पर है परन्तु उसका प्रकाश समस्त सृष्टि में उपस्थित है। ईश्वर स्वतः व्यापक नहीं है किन्तु प्रकाशरूप से व्यापक है।

(९) "क्रिया उसी समय तक होती है जब कि निमित्त कारण उपस्थित होता है" ऐसे तर्कहीन लेख की आपसे (जे० एस० मिल) संभावना नहीं थी। हम देखते हैं कि कुम्हार की अनुपस्थिति में भी चाक में क्रिया होती है। घड़ी में एक बार चाबी देने पर चाबी देने वाले की अनुपस्थिति में भी उसमें क्रिया होती है। यदि निमित्त कारण को भी कार्य में व्यापक मान लिया जावे तो इसमें और उपादान कारण में भेद ही क्या रहेगा।

(१०) ईश्वर को व्यापक मानने पर जीव और प्रकृति की सत्ता ही नहीं रह सकेगी। ईश्वर ने जीव-मात्र को पाप और पुण्य का स्पष्ट शब्दों में ज्ञान क्यों नहीं कराया, तथा पुण्यात्मा बनने के लिए प्राणियों को साधन-सम्पन्न क्यों नहीं बनाया। प्राणियों को स्वतंत्र क्यों नहीं बनाया। सब कुछ अपने कारणों द्वारा नियंत्रित या निर्धारित है, जीवों के व्यापार भी स्वतंत्रतापूर्वक नहीं हैं। हस्तरेखा विज्ञान ने तथा शारीरिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि जो मनुष्य चोरी आदि करते हैं उनके शरीर की रचना ही ऐसी होती है। जिससे उनका स्वभाव ही वैसा हो जाता है।

आक्षेपों का निराकरण

(१) श्री छुल्लक जी भी पहले आर्यसमाज में श्री स्वामी कर्मानन्द के नाम से रह चुके हैं और श्री पं० सातवलेकर जी भी उसी

प्रकार के आर्यसमाज के विद्वान् हैं। श्री छुल्लकजी को जब और कोई युक्ति न मिली तो श्री पं० सातवलेकर जी का सहारा लिया। परन्तु यह नहीं देखा कि उस सहारे में कितनी शक्ति है--कहीं वह मध्य में ही न गिरा देवे। श्री पं० सातवलेकर जी भी श्री छुल्लक जी की ही तरह उन्हीं की भाषा में लिखने और बोलने के स्वभाव वाले हैं। इस भाषा में 'हाँ' और 'नहीं' की स्पष्टता कभी नहीं होती है। ये दोनों क्या मानते हैं और क्या नहीं इसका निर्णय न कोई कर सकता है और न ये स्वयं ही कर सकते हैं। श्री पं० जी के वेद की भी अभी तक परिभाषा न किसी को मालूम हुई और न उन्हें स्वयं स्पष्ट मालूम है। यही कारण है कि श्री छुल्लकजी भी पंडित जी की भाषा नहीं समझ सके। सन्देह तो यह होता है कि ये दोनों ही सन्दिग्धभाषा-विचक्षण अपने लिखे और बोले हुए को स्वयं भी समझते हैं, वा नहीं। छुल्लकजी ने उक्त पंडित जी के 'ईश्वर साक्षात्कार' पुस्तक से जो उद्धरण दिया है उसमें 'विश्वरूप' और 'अदृश्य' दो ऐसे शब्द पड़े हैं कि उनका कोई अपने अनुसार कुछ भी अर्थ कर लेवे। छुल्लक जी ने भी ऐसा ही किया। परन्तु आर्यसमाज के ईश्वर सम्बन्धी मंतव्य को काटने के लिए उन्होंने उसे जो तलवार बनाया वह उनकी ही गर्दन पर जा पड़ती है। 'विश्व' शब्द का अर्थ समस्त वा कुल हुआ करता है। ऐसी अवस्था में 'विश्वरूप' का अर्थ समस्त रूप वा सर्वरूप होगा। छुल्लकजी बतावें कि क्या संसार का कोई भी एकदेशीय पदार्थ समस्तरूप वा सर्वरूप हो सकता है। ऐसा तो सर्वव्यापक ही हो सकता है। 'विश्वरूप' से यह भी भाव निकलता है कि जिसका कोई एक विशेष रूप न हो। ऐसा अर्थ लेने पर भी निराकार और सर्वव्यापक ईश्वर का ही ग्रहण होगा। यदि छुल्लक जी की धारणा को थोड़ी देर के लिए मानकर विश्वरूप का अर्थ 'दृश्य जगत् के रूप वाला' किया जावे तो भी उनका पक्ष नहीं बनता। संसार की प्रत्येक दृश्य वस्तु अपना कोई न कोई रूप रखती है। जो वस्तु किसी भी एकरूप की न हो उसे दृश्य रूप वाली कैसे कहा जा सकता

है। इससे भी ईश्वर की नीरूपता, निराकारता और सर्वव्यापकता ही जानी जाती है।

दूसरा शब्द 'अदृश्य' है। कोई वस्तु चक्षु आदि इन्द्रियों से भी दृश्य होती है और ज्ञान वा आत्मा से भी। ईश्वर को जब दृश्य माना जावेगा तो ज्ञान और आत्मा के द्वारा ही दृश्य माना जावेगा। नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा नहीं। इसी प्रकार जब ईश्वर को अदृश्य कहा जावेगा तो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ही अदृश्य कहा जावेगा—ज्ञान और आत्मा द्वारा अदृश्य नहीं कहा जावेगा। यह भी भाव तो पंडित जी के वाक्य का निकल सकता है कि विश्वरूप होने से ईश्वर का ज्ञान जगत् के द्वारा हो सकता है। अर्थात् दृश्य जगत् को देखकर उसके कर्त्ता ईश्वर को भी जाना जा सकता है। इसमें भी सन्देह नहीं कि जगत् को देखकर दार्शनिक प्रक्रिया में ईश्वर की सत्ता का अनुमान एवं ज्ञान किया जाता है। छुल्लक जी को पंडित जी की भाषा समझ में नहीं आई और व्यर्थ की यह उलझन उन्होंने मोल ले ली।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार छुल्लकजी भी आर्यसमाज में रह चुके हैं परन्तु वे किसी आर्यसमाज के सिद्धान्त के विषय में प्रमाण नहीं हैं उसी प्रकार श्री पं० सातवलेकर भी आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विषय में प्रमाण नहीं है। वस्तु और पक्ष की सिद्धि लक्षण एवं प्रमाण से होती है, किसी अप्रामाणिक व्यक्ति के कथन-मात्र से नहीं। दर्शन आदि सच्छास्त्रों में ईश्वर को जो अदृश्य कहा गया है उसका यह तात्पर्य है कि ईश्वर निराकार होने और रूपादि वाला न होने से इन्द्रियों से दृश्य नहीं है। श्री पंडित सातवलेकर जी के कथन का यह अर्थ क्यों न लगाया जावे कि जैनधर्म के मनुष्यरूप ईश्वर अर्हन्त आदि वस्तुतः ईश्वर नहीं हैं क्योंकि एकदेशीय होने से न वे 'विश्वरूप' हो सकते हैं और सिद्धशिला के ऊपर रहने से वे दृश्य भी नहीं हो सकते हैं। अतः वे ईश्वर नहीं हैं।

(२) यहां पर भी श्री छुल्लकजी श्री पंडितजी की बात नहीं समझ

पाये हैं। "ईश्वर बहुत दूर है" का तात्पर्य यह है कि कुछ धर्म वाले यह मानते हैं कि ईश्वर सातवें अथवा चौथे आसमान पर है। यहाँ दूर शब्द उन्हींके अभिप्राय को लेकर लिखा गया है। इसीमें जैन-धर्म के मनुष्येश्वर भी आ जाते हैं क्योंकि वे भी तो सिद्धशिला की जो 'मैगनेट-लाइन' बनी है उसके ऊपर रहते हैं। छुल्लकजी को चाहिए था कि वे कुछ उत्तर देते। परन्तु वे मौन ही साध गए। इसमें हमारे उत्तर देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। "ईश्वर हर-एक वस्तु में है" इस कथन से संकेत उन लोगों के मंतव्य की ओर ज्ञात होता है जो ईश्वर को मूर्त्ति आदि पदार्थों के अन्दर तो मानते हैं परन्तु बाहर नहीं। परन्तु यह सर्वथा असंभव है कि कोई भी सर्व-व्यापक वस्तु किन्हीं वस्तुओं में हो और उनके बाहर न हो। इससे तो सर्वव्यापकता में ही परिच्छेद उत्पन्न होता है। कोई भी संसार की ऐसी वस्तु नहीं है जो ईश्वर की सर्वव्यापकता में ऐसा परिच्छेद उत्पन्न कर सके कि वह वस्तुओं में तो हो परन्तु उसके बाहर न हो। जैनी लोग जीवात्मा को शरीर-परिमाण में व्यापक मानते हैं। उन पर भी यह तर्क लागू होता है कि शरीर के बाहर व्यापकता में परिच्छेद क्या है? आर्यसमाज सर्वव्यापक ईश्वर को इस रूप में मानता ही नहीं अतः इसका उत्तर देने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

"ईश्वर (प्रत्येक वस्तु के) अन्दर (भी) है" और बाहर भी है" तथा "ईश्वर सब में है और सब ईश्वर में हैं" इन दोनों धारणाओं में कोई आपत्ति नहीं है। सर्वव्यापक का अर्थ ही यह है कि वह प्रत्येक वस्तु के बाहर और भीतर भी हो, अन्यथा वह सर्वव्यापक हो ही नहीं सकता है। व्यापक वस्तुओं में रहते हुए उनकी सत्ता को नहीं मिटाता है। अन्यथा व्यापक ही किनमें होगा? यदि व्यापक की व्यापकता से व्याप्य की सत्ता ही न रहे तो फिर व्यापक किस में रहने से व्यापक होगा? अतः व्यापक और व्याप्य की सत्ता दोनों ही रहती हैं और इसी आधार पर व्याप्य और व्यापक की प्रक्रिया स्थिर है। यदि व्यापक न हो तो व्याप्य का तात्पर्य क्या होगा? यदि

व्याप्य न हो तो किसमें वह व्यापक होगा ? अतः व्यापकता व्याप्य की सत्ता को नहीं मिटाती है। जैनधर्मियों की माना शरीरपर्यन्त व्यापक आत्मा क्या शरीर-रूपी व्याप्य को हटाकर या मिटाकर व्यापक होता है ? इसलिए न जैनधर्म की व्यापकता की परिभाषा ही ठीक है, और न यह ही कि व्यापक व्याप्य की सत्ता को मिटाकर व्यापक होता है। दर्शनशास्त्र का यही सिद्धान्त है कि व्याप्य और व्यापक दोनों ही सत्तावान् हैं और इनमें से कोई भी किसी की सत्ता को मिटाता नहीं। यह एक साधारण समझ की बात है कि आकाश समस्त मूर्तद्रव्यों में व्यापक है परन्तु आकाश भी है, और मूर्त्तद्रव्य भी हैं। इनमें से कोई भी मिट नहीं जाता है। विद्युत् पदार्थों मे व्यापक है परन्तु पदार्थों की सत्ता मिटाकर नहीं। लोहे का गोला लाल हुआ हुआ अग्नि से व्याप्त है परन्तु अग्नि की व्यापकता से लोहा मिट नहीं जाता है। जब यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है तो फिर उसका विरोध किस प्रकार हो सकता है।

ईश्वर व्यापक होने से सबमें है ही––इसमें कोई सन्देह नहीं। यह ऊपर की पंक्तियों में लिखा जा चुका है। ईश्वर में सब हैं––यह भी उसी आधार पर सिद्ध है। व्यापक जब वस्तुओं में है और उनके बाहर भी है तो फिर यह तो सिद्ध ही है कि व्यापक से बाहर कोई वस्तु रहेगी नहीं। सभी व्यापक में ही रहेंगी। व्यापक व्याप्य में व्यापक होकर रहता है और व्याप्य उसमें रहता है। व्याप्य व्यापक की परिधि से कभी बाहर जा ही नहीं सकता है। साथ ही एक बात यह भी है कि ईश्वर जहाँ सर्वव्यापक है वहाँ सर्वाधार भी है। अतः उसके सर्वाधार होने से समस्त वस्तुवें उसमें ही आधार भी पाती हैं। अतः ईश्वर सबमें व्यापक है और सब वस्तुएं उसमें स्थित हैं—इसमें किसी प्रकार विरोध नहीं है।

'ईश्वर ही सब कुछ है''–यह गोलमाल भाषा का प्रयोग है। यदि इसका अर्थ यह है कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है और मानव जीवन के लिए प्राप्ति के उद्देश्य से सब कुछ है, तब तो इससे कुछ तात्पर्य है अन्यथा

कोई मतलब ठीक नहीं हैं। यदि इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर के अतिरिक्त जीव और जगत् की कोई सत्ता नहीं है तो यह सिद्धान्त दर्शन की भित्ति पर खड़ा नहीं हो सकता है। केवल ब्रह्म को ही एक-मात्र तत्त्व मानने पर जड़ जगत् की उत्पत्ति का उससे होना सर्वथा असंभव है। उपादान कारण के गुण कार्य में किसी न किसी रूप में अवश्य आते हैं परन्तु ब्रह्म के गुण जगत् में नहीं हैं। जगत् न चेतन है और न सर्वज्ञ है, न आनन्दमय है। यदि यह माना जावे कि ब्रह्म ही एक-मात्र तत्त्व है और निमित्त कारण है तो भी ठीक नहीं क्योंकि फिर निमित्त के अतिरिक्त कोई उपादान भी मानना पड़ेगा। उपादान अलग स्वीकार करने पर फिर यह कहना गलत होगा कि एकमात्र ब्रह्म ही सब कुछ है। यदि उपादान और निमित्त दोनों ही उसे माना जावे तो यह असंभव एवं परस्पर-विरुद्ध है। उपादान कारण परिणामी होता है और जड़ होता है, जब कि निमित्त कारण चेतन और अपरिणामी होता है।

वेद में ऐसा सिद्धान्त कहीं भी नहीं माना है कि केवल ब्रह्म ही एकमात्र जगत् का मूल तत्त्व है। वेद ने जगत् के मूल में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन सत्ताओं को स्वीकार किया है। ये तीनों अनादि हैं। श्री छुल्लकजी को क्या मालूम कि वेद में क्या लिखा है! रहे पंडित सातवलेकर जी, उनका तो कहना ही क्या? उनके वेद की आज तक परिभाषा ही नहीं निश्चित हो पाई, और न पंडित जी क्या मानते हैं और क्या नहीं—यह ही निश्चित हो पाया।

(३) एक ईश्वर की सार्वभौम सत्ता मानने तथा ईश्वर को सर्वव्यापक मानने पर दूसरी सृष्टि की सत्ता मानना कठिन है--यह भी केवल प्रलाप-मात्र है। सार्वभौम सत्ता का सृष्टि से विरोध किस प्रकार समझ लिया गया? हाँ! यह हो सकता है कि इस शब्द का अर्थ ही स्वयं पंडितजी ने न समझा हो। वे अपनी पैंतरेबाज़ी में रहे, और श्री छुल्लकजी अपनी! दोनों ने ही अपना-अपना अर्थ बना लिया। सार्वभौम सत्ता का अर्थ जातीय-विजातीय, स्वगत-भेदशून्य

केवल एकमात्र सत्ता नहीं है। इसका अर्थ यही है कि जीव और प्रकृति की सत्ता होते हुए भी ईश्वर की सत्ता सर्वोपरि है--अर्थात् वह सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् है।

ईश्वर को सर्वव्यापक मानने पर सृष्टि की सत्ता मानने में क्या कठिनाई है? यदि आप का दिया हेतु ही इसमें कठिनाई है तो फिर यह कठिनाई कोई कठिनाई नहीं। इसको सरलता से यहाँ पर सुलझा दिया जाता है। दो स्थूल एवं मूर्त्त वस्तुएँ एक ही स्थान में नहीं रह सकती हैं। अथवा दो समान परिमाण वाली वस्तुएँ एक स्थान में नहीं रह सकती हैं। परन्तु सूक्ष्म वस्तु के लिए यह नियम नहीं। वह विना स्थान घेरे हुए स्थूल में व्यापक हो सकता है। ईश्वर अत्यन्त सूक्ष्म है, और सर्वव्यापक है, और सृष्टि उसकी अपेक्षा अत्यन्त स्थूल है, अतः उसके समस्त पदार्थों में वह विना स्थान घेरे हुए व्यापक है। अतः ईश्वर की व्यापकता से सृष्टि की सत्ता में कोई कठिनाई नहीं पड़ती है।

संसार में देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तु में आकाश व्यापक है। आकाश भी है, और वस्तु भी है। साथ ही साथ आकाश और वस्तु दोनों एक ही स्थान में हैं। अग्नि से सन्तप्त लोहे के गोले में अग्नि, तथा विद्युत् पदार्थों में व्यापक है, परन्तु वे पदार्थ भी हैं, और ये व्यापक पदार्थ भी है। यहाँ पर एक ही स्थान में इनके रहने में कोई कठिनाई नहीं है। ईश्वर तो इनसे भी सूक्ष्मतम है अतः सृष्टि के पदार्थों में उसके व्यापक होने से न सृष्टि की सत्ता में ही कोई कठिनाई आती है और न एक स्थान में दो वस्तुओं के रहने सम्बन्धी ही कोई कठिनाई आती है। जहाँ ईश्वर है वहां सृष्टि नहीं, और जहाँ सृष्टि है वहाँ ईश्वर नहीं—यह बात भी नितराम् ही असंगत है। एक लोहे के एक पाँच सेर के लम्बे-चौड़े गोले को अग्नि में लाल कर देने पर क्या यह कहा जा सकता है कि जहाँ लोहा है वहाँ अग्नि नहीं, और जहाँ अग्नि है वहाँ लोहा नहीं? विद्युत् और आकाश समस्त स्थूल पदार्थों में व्यापक हैं। क्या आपका यह नियम वहाँ पर लग सकता है? जब

भौतिक सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों की यह स्थिति है तो ईश्वर तो अत्यन्त सूक्ष्म, और सृष्टि स्थूल है, अतः उसमें यह तर्क किस प्रकार लग सकता है? यहाँ पर यह भी ज्ञात रहे कि पंडितजी के ये शब्द भी बड़े गोल-मटोल हैं। ईश्वर और सृष्टि में समान परिमाण नहीं है। सृष्टि जहां भी और जितनी भी है उसमें तो ईश्वर व्यापक हो सकता है परन्तु जहाँ-जहाँ और जितनी जगह पर ईश्वर है वहाँ पर सर्वत्र सृष्टि के पदार्थ भी पाये जावें--यह नहीं है। ईश्वर सर्वव्यापक है, और ये पदार्थ एकदेशीय हैं। अतः ईश्वर के समान ये सर्वत्र नहीं हो सकते हैं।

भूतों में ईश्वर के मानने से भूतों को खोखला मानने की आवश्यकता नहीं है। और न ऐसा ही मानने की आवश्यकता है कि ईश्वर खोखलेपन में रहता है। विद्युत् भूतों में भी है और प्राणियों में भी, परन्तु उसके लिए इनको खोखला मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म ईश्वर के व्यापक होने से भूतों में खोखला-पन मानने की आवश्यकता नहीं।

(४) जब यह कहा जाता है कि समस्त भूत अथवा प्राणी ईश्वर में हैं तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ईश्वर में कोई ऐसा स्थान है। ईश्वर सर्वव्यापक है और सर्वाधार है। वह भूतों में व्यापक होकर उनको अपने में धारण कर रहा है। आकाश में भी सब भूत हैं और आकाश उनके अन्दर है। स्थान का अर्थ आकाश वा अवकाश है। जिस प्रकार आकाश में भूत रह रहे हैं उसी प्रकार ईश्वर में भी रह सकते हैं ईश्वर आकाशवत् सूक्ष्म और व्यापक है अतः ईश्वर में रहने वाले भूतों के लिए स्थान की कल्पना का प्रश्न ही क्या उठता है।

दो या तीन पदार्थ ईश्वर के अतिरिक्त हैं--कहकर जो आपत्ति उठाई गई है वह भी गड़बड़ भाषा का प्रयोग है। ईश्वर के अतिरिक्त दो अर्थात् जीव और प्रकृति भी पदार्थ हैं--यह तो आर्यसमाज मानता है। परन्तु ईश्वर के अतिरिक्त तीन पदार्थ वह नहीं स्वीकार करता है। वह ईश्वर को लेकर तीन पदार्थ जगत् के मूल में मानता

है--अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि मानता है। इन पदार्थों को मानने से ईश्वर की सर्वव्यापकता में न कोई अन्तर आता है और न ईश्वर की सर्वव्यापकता से इनको सत्ता में कोई अन्तर पड़ता है। तर्क के वास्तविक कार्य और क्षेत्र एवं उसके अर्थ को जो जानता है वह यही कहेगा कि इस सिद्धान्त का तर्क की दृष्टि से अधिक मूल्य है। परन्तु पंडित सातवलेकर जी और श्री छुल्लकजी जिन से कि तर्क कोसों दूर भागता है उनके लिए तो तर्क का ही कोई मूल्य नहीं। फिर तर्क की दृष्टि से उनके लिए किसी वस्तु का मूल्य हो ही क्या सकता है? ईश्वर जीव और प्रकृति से भी सूक्ष्म है। प्रकृति परिणामी है अतः जगत् के कार्य पदार्थों की सूक्ष्मता की पराकाष्ठा प्रकृति में है। कोई भी परिणामी पदार्थ प्रकृति से अधिक सूक्ष्म नहीं हो सकता है। जीव अपरिणामी नित्य एवं कूटस्थ नित्य है। वह परिच्छिन्न है और प्रकृति से भी सूक्ष्म है। ईश्वर सर्वव्यापक है और नित्य कूटस्थ है तथा सर्वव्यापक है। ईश्वर जीव से भी सूक्ष्म है। अतः ईश्वर के इनमें व्यापक होने से इनकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक पदार्थ अपने से स्थूल में व्यापक हो सकता है। वैदिक सिद्धान्त यही है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि हैं और ईश्वर इन जीव और प्रकृति में भी व्यापक है।

(५) 'रुद्र' पद यौगिक है, उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि वे सभी अर्थ ईश्वर ही हैं। ईश्वर अर्थ भी रुद्र शब्द का है, और दूसरे अर्थ भी। परन्तु इतने-मात्र से ईश्वर के अतिरिक्त सारे अर्थ ईश्वर हो जावें ऐसा नहीं। चोर, डाकू आदि अर्थ यदि रुद्र शब्द से निकलते हैं तो इससे यह कैसे मान लिया गया कि ये ईश्वर हैं अथवा ईश्वर चोर, डाकू है। श्री पंडितजी और छुल्लकजी दोनों ही ऐसी कल्पना करते हैं जिसमें स्वयं ही फंस जावें। तीर्थङ्कर, नेमि और अर्हत् पद के भी तो अर्थान्तर हो सकते हैं। क्या उन सबको जैनधर्म के तीर्थङ्कर कहा जा सकता है?

परमात्मा का कोई भी अंश हो ही नहीं सकता है। उसके अंशाशी भाव की कल्पना ही निराधार है। जब उसका कोई अंश ही नहीं तो फिर जीव को अथवा चोर आदि को परमात्मा का अंश कहना और परमात्मा को चोर आदि कहना बुद्धि के साथ उपहास करना है। परमात्मा सर्वव्यापक होने से समस्त पदार्थों में व्यापक है। न उसके गुण इन पदार्थों में जाते हैं और न इन पदार्थों के गुण परमेश्वर में ही आते हैं। वह सर्वथा निर्लेप होकर व्यापक है। चोर आदि अपने कर्मों के अनुरूप चोर आदि कहे जाते हैं। परमात्मा की व्यापकता से न चोर परमात्मा बन जाते हैं और न परमात्मा चोर बन जाता है।

(६) ईश्वर को सर्वव्यापक मानने पर उसे निमित्त कारण नहीं कहा जा सकता है—यह भी छुल्लकजी की अपनी ही सूझ है। कोई नियम ऐसा नहीं देखा जाता है जो इस बात को सिद्ध कर सके कि निमित्त कारण व्यापक नहीं हो सकता है। दोनों प्रकार के निमित्त कारण हैं। एक निमित्त कारण कुम्हार, जुलाहा, घड़ी बनाने वाला और इंजन बनाने वाला आदि हैं जो एकदेशीय हैं और अपनी निमित्तता एक सीमित कार्य तक सीमित रखते हैं। वे ऐसे कार्य के निमित्त कारण नहीं बन सकते हैं जो उनके कार्यक्षेत्र के बाहर हो, उससे बड़ा हो अथवा उनकी शक्ति से असंभव हो। जैसे सूर्य आदि लोकों का निर्माण आदि कार्य। दूसरा निमित्त कारण परमेश्वर है जो सर्वदेशीय है और व्यापक है। निमित्त कारण हमेशा एकदेशीय होता है और वह कार्य आदि में व्यापक नहीं होता है—यह भी अनर्गल कल्पना है। सूर्य आदि लोकों, मनुष्य आदि प्राणियों की रचना का कोई भी एक निमित्त कारण छुल्लक जी बतावें जो व्यापक न हो और निमित्त हो। निमित्त कारण का अपना कोई अन्वयी कार्य नहीं होता है। अतः कार्य की उत्पत्ति उसके अपने अन्वयी उपादान में निमित्त कारण की क्रिया और कर्तृत्व के अनुसार होती है। छुल्लक-जी को यह पता नहीं कि कोई भी कार्य अपने उपादान की अपेक्षा से कार्य कहलाता है, निमित्त कारण की अपेक्षा से नहीं। निमित्त

कारण तो समस्त कार्य-जगत् का एक ही है। अतः प्रकृतिरूपी उपादान कारण से उत्पन्न प्रत्येक कार्य में ईश्वर की व्यापकता है। उपादान अथवा समवायिकारण उपादान-रूप से अपने कार्य में व्यापक रहता है और उसका अपने कार्य के साथ अन्वयी वा समवाय संबन्ध है। परन्तु निमित्त कारण प्रत्येक कार्य में विना अन्वयी हुए और विना समवाय सम्बन्ध रखे हुए व्यापक होता है। उपादान की व्यापकता अपने कार्यमात्र में है और कार्य न होने की अवस्था में अर्थात् जब उपादान-कारण-मात्र ही रहता है तब उसकी व्यापकता का का कोई संकेत नहीं होता। परन्तु सर्वव्यापक निमित्त कारण प्रत्येक कार्य और उसके उपादान में भी व्यापक होता है। उपादान कारण परिणामी है, अतः अपने कार्य में वह परिणामी रूप से व्यापक रहता है। उपादान कारण अपने कार्य से अतिरिक्त होकर अपने कार्य में व्यापक नहीं रहता है जब कि सर्वव्यापक निमित्त कारण अपरिणामी रूप से प्रत्येक कार्य में उनसे अतिरिक्त होकर व्यापक रहता है। उपादान की अपने कार्य में व्यापकता कार्य में कारण के गुण भी लाती है। परन्तु सर्वव्यापक निमित्त कारण अपनी व्यापकता से अपने गुणों को कार्य में नहीं लाता।

छुल्लक जी ने एक संस्कृत का वाक्य प्रमाण रूप में उद्धृत किया जिसका अर्थ भी पता नहीं उनकी समझ में आया वा नहीं। देखने से तो यही ज्ञात होता है उनकी समझ में वह वाक्य नहीं आया। वाक्य इस प्रकार है--**स्वसमवेतकार्योत्पादकं समवायिकारणम्** इसका अर्थ छुल्लक जी निम्न प्रकार करते हैं—

'जिस कार्य में कारण समवेत रहता है उसे समवायी (उपादान) कारण कहते हैं। जैसे घट का मृत्तिका के साथ समवाय सम्बन्ध है। घट मृत्तिका से कभी पृथक् नहीं रह सकता।"

छुल्लक जी की विद्या और ज्ञान का बस इस प्रमाण और उसके अर्थ से ही पता चल जावेगा। अतः थोड़ा-सा विचार यहाँ पर किया जाता है। वैशेषिक दर्शन में समवायिकारण का लक्षण करते

हुए लिखा गया है कि "**इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः** (वै० ७।२।२६) अर्थात् 'इस में यह है इस प्रकार का कार्य कारण का नित्य सम्बन्ध जिससे प्रतीत हो वह समवाय कहाता है।" तर्क संग्रह में लिखा है कि "**यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्**" अर्थात् जिसमें समवेत हुआ कार्य उत्पन्न होता है वह समवायि कारण है। न्याय-बोधिनी कारने इसका स्पष्टीकरण करते हुये लिखा है कि "यत्सम-**वेतमित्यस्यार्थश्च यस्मिन् समवायेन सम्बद्धं सत् कार्यमुत्पद्यते तत्**" अर्थात् 'यत्ससमवेतम्' का अर्थ यह है कि जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न होता है वह समवायिकारण है। न्याय बोधिनीकार ने पुनः १/६ पृ० पर लिखा है कि "**तथा हि तन्तुषु समवायेन सम्बद्धं सत् पटात्मकं कार्यमुत्पद्यते अतः तन्तुः पटस्य सम-वायिकारणं भवति**" अर्थात् "तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ पटात्मक कार्य उत्पन्न होता है अतः तन्तु पट का समवायिकारण है।" लक्षणावलीकार का स्पष्टीकरण यह है कि "**समवायिकारणत्वं च समवाय-सम्बन्धेन कार्याधिकरणत्वम्**" अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से कार्य का अधिकरण होना ही समवायिकारणता है।"

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया कि समवाय सम्बन्ध इस सम्बन्ध को प्रकट करता है कि 'अमुक कारण में अमुक कार्य है।" कार्य जिस कारण में समवेत होकर अर्थात् समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होता हुआ उत्पन्न होता है वह समवायि कारण है। घट का मृत्तिका और पट का तन्तु समवायि कारण है। परन्तु क्षुल्लक जी का संसार निराला है। वे कहते हैं कि "स्वसमवेत कार्य का उत्पादक समवायिकारण है। 'स्वसमवेत' का अर्थ वे लेते हैं "अपने कार्य में समवेत।" इस दृष्टि से यह भाव निकलता है कि" जिस कार्य में कारण समवेत रहता है उसे समवायिकारण कहा जाता है। इन-का आशय यह है कि कार्य में कारण जहाँ समवेत रहता है वह सम-वायिकारण है। तथा शास्त्र का कथन है कि जिस कारण में कार्य रहता हुआ उत्पन्न होता है वह समवायि कारण है। क्षुल्लक जी कार्य

को कारण कह रहे हैं और शास्त्र कारण को कारण कहता है। छुल्लक जी के अनुसार घट समवायि-कारण होगा और शास्त्र के अनुसार मृत्तिका समवायिकारण होगी। शास्त्र के अनुसार मृत्तिका में घट और तन्तु में पट समवाय सम्बन्ध से रहते हैं परन्तु छुल्लक जी के अनुसार घट में मृत्तिका और पट में तन्तु समवाय सम्बन्ध से रहता है। यह तो है श्रीमान् जी की बुद्धि का हाल।

यदि छुल्लक जी का लक्षण थोड़ी देर के लिए स्वीकार करके कोई चले तो महान् कठिनाइयां खड़ी हो जाएंगी। पहली तो यह कि 'समवायिकारण' शब्द ही बतलाता है कि वह कारण है--कार्य नहीं। परन्तु छुल्लक जी की परिभाषा में 'कार्य' को कारण कहना पड़ेगा।

दूसरी कठिनाई यह खड़ी होगी कि कारण में तो कार्य के समवेत होने का नियम है क्योंकि उसकी विद्यमानता कार्य से पूर्व होती है, वह अपने कार्य का अधिकरण होता है। परन्तु कार्य में कारण का समवेत होने का नियम नहीं और कार्य कारण का अधिकरण नहीं बन सकता है।

छुल्लक जी की विशेष बुद्धि का परिचय और भी देखिये। लक्षण तो आप कर रहे हैं कि मृत्तिका अपने कार्य घड़े में समवेत रहती है और आप उदाहरण दे रहे हैं कि घट कभी मृत्तिका से पृथक् नहीं हो सकता है। इनसे पूछना चाहिए कि क्या जहाँ मिट्टी होगी वहाँ घड़ा अवश्य ही होगा ? फिर जब घड़ा नहीं बना होता है तब क्या अवस्था रहती है ? इसी प्रकार लक्षण तो कर रहे हैं कि मृत्तिकारूपी कारण घटरूपी कार्य में समवेत रहता है और उदाहरण दे रहे हैं कि मृत्तिका घट का सयवायिकारण है। इनके अनुसार तो यह बनेगा कि घट मृत्तिका का समयायिकारण है। जो सर्वथा ही अनर्गल है।

एक बात और भी यहाँ पर उठ खड़ी होती है और वह यह कि जब छुल्लक जी समवायिकारण को स्वीकार कर रहे हैं, कार्य

ग्रौर कारण की उत्पत्ति की प्रक्रिया को स्वीकार कर हैं तो फिर उनकी मानी हुई जैनधर्म की यह कल्पना किस प्रकार सिद्ध बनी रह गई कि यह सृष्टि ग्रनाद्यनन्त है।

समवायिकारण का लक्षण यदि यह किया जाता कि "**यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्**" ग्रर्थात् जिसमें समवेत हुग्रा कार्य उत्पन्न होता है वह समवायिकारण है---तो ठीक था। परन्तु '**स्वसमवेतकार्योत्पादकं समवायिकारणम्**" ग्रर्थात् ग्रपने में समवेत कार्य का उत्पादक (उत्पन्न करनेवाला) समवायिकारण है--यह लक्षण तो ठीक नहीं क्योंकि यह निमित्त लक्षण को भी ग्रपने गर्भ में थोड़ा-सा लिए हुए है। समवायिकारण तो उत्पन्न होने वाला है। उत्पादक तो विना निमित्त के सहयोग से कोई भी समवायिकारण वा उपादानकारण स्वयं नहीं हो सकता है। यह छुल्लक जी का किया हुग्रा लक्षण उन्हें पता नहीं कि नवीन वेदान्तियों का सम्मत लक्षण है जो ग्रभिन्ननिमित्तोपादानकारण के हामी हैं। इनसे छुल्लक जी का क्या तात्पर्य सिद्ध हुग्रा ?

इस प्रकार यह सिद्ध हुग्रा कि छुल्लक जी का यह मन्तव्य ग्रस्तव्यस्त ग्रौर ग्रसिद्ध है कि उपादान कारण वह है जो कार्य में व्यापक रहे ग्रौर निमित्त कारण वह है जो कार्य में व्यापक न रहे।

(७) घड़ी का बनाने वाला घड़ी में व्यापक नहीं है तभी तो उसे दूसरे के द्वारा चाभी देनी पड़ती है ग्रौर घड़ी ग्रागे-पीछे ग्रौर ग्रनियमित भी होती है। तथा उसे दुरुस्त करने की ग्रावश्यकता पड़ती है। ग्रापकी पुस्तक में ग्राप व्यापक नहीं तभी तो ग्राप को उसका परिज्ञान नहीं ग्रौर ग्रनेकों ग्रशुद्धियाँ उसमें रह जाती हैं। इंजन बनाने वाले इंजन में व्यापक नहीं ग्रतः उसको दूसरे चालक के द्वारा चलाने की ग्रावश्यकता पड़ती है ग्रौर उसमें गड़बड़ी भी पैदा होती है। इन वस्तुग्रों में इनका कर्त्ता व्यापक नहीं ग्रतः इनमें उलटफेर ग्रौर कमी तथा दोष ग्राते रहते हैं। परन्तु जगत् में सूर्य, चन्द्र ग्रादि जो पदार्थ बने हुए हैं उनमें यह कमी नहीं पाई जाती है

क्योंकि उनका बनाने वाला ईश्वर उनमें व्यापक है। यदि ईश्वर को व्यापक कर्त्ता न माना जावे तो गर्भ में बालक की रचना आदि कार्यों को क्या आपके ये घड़ी, इंजन और पुस्तक बनाने वाले करेंगे? मच्छर और चींटी की आँखों, अन्य अङ्गों आदि की रचना श्री छुल्लक जी करेंगे? सूर्य, चन्द्र, आदि लोकान्तरों की रचना कौन अव्यापक कर्त्ता कर सकेगा? ईश्वर को सृष्टि के अन्दर व्यापक होने के लिए कोई बाधित न करता है और न कर सकता है बल्कि उसके स्वभावतः सर्वव्यापक होने से उसकी व्यापकता में रहने को समस्त जगत् के पदार्थ बाधित हैं।

यह आपका भ्रम है कि बहुत-से वेदान्ती इसीलिए ईश्वर को निमित्त कारण न मानकर उपादान कारण मानते हैं। नवीन वेदान्ती ईश्वर को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं, केवल उपादान कारण नहीं।

(८) सूर्य का प्रकाश भी तो केवल समस्त भूमण्डल पर ही पड़ता है——समस्त विश्व पर नहीं। समस्त विश्व केवल समस्त भूमण्डल को ही तो नहीं कहा जा सकता है। सूर्य-प्रकाश समस्त भूमण्डल पर पड़ते हुए भी तो सीमित ही रहा। अतः उसके उदाहरण को लेकर ईश्वर को व्यापक नहीं कहा जा सकता है। जो वस्तु एक-देशी है उसका गुण सर्वव्यापक नहीं हो सकता है। एकदेशी वस्तु के गुण सर्वव्यापक कभी हो ही नहीं सकते हैं। अतः यह कल्पना भी छुल्लक जी के मत को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है।

(९) श्री जे० एस० मिल के लेख को लेकर उन्हें छुल्लक जी का कोसना ठीक नहीं। ऐसा उन्होंने इसलिए किया है कि श्री-महाशय मिल के तर्क का उनके पास कोई समाधान नहीं था। जैन-धर्म में वस्तुतः इस का कोई समाधान बन भी नहीं सकता है। श्री मिल का कहना यह है कि कर्त्ता जहां पर है वहीं पर क्रिया कर सकता है। जहां पर उसकी पहुंच नहीं है वहां पर वह क्रिया नहीं कर सकता है। किसी एकदेशीय निमित्त कारण की क्रिया उतनी ही सीमा में

हो सकती है जितनी सीमा में उस कारण की पहुंच है। विश्व इतना विस्तृत है कि उसका अन्दाजा लगाना भी कठिन है। क्रिया सर्वत्र विश्व में पाई जाती है। अतः एकदेशीय कर्त्ता इस क्रिया का कर्त्ता नहीं हो सकता है। पृथिवी पर एक स्थान पर बैठा मानव सारी पृथिवी पर ही क्रिया नहीं कर सकता है तो समस्त विश्व पर क्रिया करने की बात तो असंभव है। अतः सर्व व्यापक कर्त्ता ही समस्त विश्व में क्रिया दे सकता है--एकदेशीय कर्त्ता नहीं। परमात्मा सर्वव्यापक कर्त्ता है और वह समस्त विश्व और उसके कारणभूत समस्त प्रकृति में क्रिया उत्पन्न करता है। एकदेशीय और असर्वव्यापक निमित्त कारण सर्वत्र इस कार्य को नहीं कर सकता है अतः ईश्वर सर्वव्यापक निमित्त कारण है। सिद्धशिला के ऊपर एक देश में रहने वाले जैन धर्म के मनुष्येश्वर इस पृथवी पर एक तृण भी जब नहीं बना बिगाड़ सकते हैं तब भी छुल्लक जी की समझ में यह बात न आवे बड़े ही आश्चर्य का विषय है।

विना कुम्हार के भी चाक में क्रिया होती है--यह उदाहरण तो स्यात् सिद्धशिला के ऊपर ही देखा गया होगा। संसार में तो विना कुम्हार वा किसी के चलाये चाक नहीं चलती दीखती है। चाक चलाने पर संस्कार के वेग से कुछ देर चल जाती है परन्तु बन्द भी तो होती है। बन्द होने पर पुनः चलाना पड़ता है। जगत् में तो निरन्तर क्रिया चल रही है। उसको सदा कौन कर रहा है? विना सर्वव्यापक निमित्त के वह संभव कैसे हो सकती है—किसी भी प्रकार नहीं। घड़ी में चाबी देने पर वह नियत समय तक चलती है। कभी अधिक चाबी देने पर भी नहीं चलती। चाबी नियत समय की होने से घड़ी बन्द भी हो जाती है। सूर्य आदि लोकों की चाबी दूसरा दे ही कौन सकता है। यदि ऐसी चाबी दी जा सकती होती तो वह नियत समय पर बन्द भी हो जाती। सूर्य आदि का चलना भी बन्द हो जाता और सब कुछ बेकार पड़ जाता। अतः यह चाक और चाबी का दृष्टान्त भी इस पहेली को नहीं सुलझा सकता है। विना सर्व-

व्यापक परमेश्वर को जगत् का निमित्त कारण स्वीकार किये यह पहेली सुलझाई ही नहीं जा सकती है।

जैसा पहले इसी प्रकरण में कहा जा चुका है कि निमित्त कारण एकदेशीय और व्यापक दोनों प्रकार के हैं। कुम्हार घड़े का अव्यापक एक देशीय निमित्त कारण है। परमात्मा जगत् का सर्वव्यापक निमित्त कारण है। एकदेशीय निमित्त कारण कार्य में व्यापक हो ही नहीं सकता है। रही सर्वव्यापक ईश्वर रूपी निमित्त कारण की। वह सर्वव्यापक है ही। उसकी कार्यपदार्थ में सर्वव्यापकता से उसमें और उपादान कारण में भेद नहीं रह जाता--यह सर्वथा ही मिथ्या है। उपादान अपने कार्य में सलेप होकर व्यापक होता है और व्यापक निमित्त कारण समस्त कार्य पदार्थों में निर्लेप होकर व्यापक होता है। यह भेद अपने आप ही स्पष्ट है।

(१०) ईश्वर को व्यापक मानने पर जीव और प्रकृति की सत्ता ही नहीं रह सकेगी--यह किस प्रकार मान लिया। व्यापक के मानने पर क्या व्याप्य की सत्ता नहीं रहती? क्या विना व्याप्य के कोई वस्तु व्यापक हो सकती है और कही जा सकती है? कभी भी नहीं। आकाश पदार्थों में व्यापक है परन्तु पदार्थों की सत्ता बनी हुई है। जब आकाश की व्यापकता से उसके व्याप्यों की सत्ता बनी है तो ईश्वर के व्यापक मानने पर जीव, प्रकृति की सत्ता क्यों मिट जावेगी? वैदिकधर्मीन जीव को मध्यम परिमाण मानते हैं और शरीर भर में व्यापक ही मानते हैं। परन्तु जैनधर्मी जीव को शरीर पर्यन्त व्यापक वा यावच्छरीर व्यापक मानते हैं। छुल्लक जी बतावें कि क्या उनके जीव के इस प्रकार शरीर में व्यापक होने पर शरीर की सत्ता समाप्त हो जाती है? अतः छुल्लक जी का कथन व्यर्थ का है। ईश्वर के व्यापक मानने पर जीव और प्रकृति की सत्ता में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता है।

"स्पष्ट शब्दों में ज्ञान नहीं कराया" का क्या तात्पर्य है। ज्ञान तो ईश्वर की तरफ से अस्पष्ट शब्दों में है नहीं। स्पष्ट शब्दों में ही है।

शब्दों की स्पष्टता केवल ज्ञान देने वाले पर ही निर्भर करती है कि ज्ञान लेने वाले पर भी ? यदि दोनों पर तो फिर ईश्वर पर दोष देने का क्या प्रयोजन ? ईश्वर ने जीवमात्र को ज्ञान दिया है परन्तु जिसकी अपनी शक्ति और ग्राह्यता के अनुसार जितनी ग्रहणशक्ति है वह उतनी ग्रहण करता है । पाप और पुण्य का यदि ज्ञान करा दिया जावे तो क्या पापी पाप न करके पुण्य ही करेगा--ऐसी कोई गारण्टी श्री छुल्लक जी दे सकते हैं ? नहीं तो फिर व्यर्थ की बातों का क्या लाभ । चोर जानता है कि चोरी पाप है और दण्ड्य है तब भी चोरी करता है । घातक जानता है कि वध करना पाप है फिर भी करता है । इनका यह ज्ञान इन्हें क्यों ऐसा करने से नहीं रोकता ? पुण्य कर्मों की शक्ति, साधन और ज्ञान परमेश्वर ने दिए हैं । परन्तु जीव अपनी स्वतंत्रतावश उल्टा भी कर लेता है और वही पाप बन जाता है । इन्द्रियों से नियमतः ज्ञानतः दमनतः कर्म करना पुण्य है परन्तु उससे उल्टा कर देना पाप है । पाप ईश्वर का दिया नहीं है--पाप स्वयं मनुष्य उत्पन्न करता है, अपनी उल्टी चालों से । अतः पाप की जानकारी देने का प्रश्न ही क्या उठता है ? कुछ भी नहीं ।

प्राणियों को जो इन्द्रियादिक साधन परमेश्वर ने दिए हैं वे उत्तमकर्मा और पुण्यात्मा बनने के लिए ही दिए हैं । परन्तु पुण्यकर्म करने के लिए कोई और इन्द्रिय-साधन होता है और पाप करने के लिए कोई और--ऐसा होता नहीं । साधन तो एक ही है । तलवार से अच्छा कार्य भी हो सकता है बुरा भी । इसी प्रकार इन्द्रियों से अच्छा भी कार्य होता है और उल्टा प्रयोग करने पर बुरा भी । परमेश्वर ने तो मनुष्य को पुण्यात्मा बनने का ही साधन दिया है । परन्तु अपनी स्वतंत्रता से मनुष्य उसे उल्टा प्रयोग कर के बुरा पाप भी कर डालता है । क्या छुल्लक जी बतावेगें कि सत्य बोलने के लिए तो वाणी को साधन बनाया जावे और झूठ के लिए कोई और साधनान्तर ? जिस प्रकार वाणी ही सत्य बोलने का साधन है उसी प्रकार

वही विपरीत एवं वितथ बोलकर झूठ भी बोलने का साधन है। बोलना मात्र वाणी का काम है। झूठ और सत्य दोनों में बोलना पाया जाता है अतः वाणी ही दोनों का साधन है। यदि छुल्लक जी वा उनके सिद्धेश्वर कोई दूसरा साधन बना सकें तो बतावें। आज तक तो बना नहीं सके। अतः कथन यह है कि परमात्मा ने साधन तो पुण्यात्मा बनने के ही जीव को दिए हैं परन्तु जीव कर्म करने में स्वतंत्र होने से उल्टा प्रयोग कर पाप भी कर बैठता है। रही बात मनुष्यों से इतर प्राणियों की। वे सब भोग योनि है अतः वहां पर यह प्रश्न उठता ही नहीं।

जीव कर्म करने में स्वतंत्र है और किये कर्मों का फल भोगने में --परतंत्र है। अतः यहकहना किप्राणियों को स्वतंत्र क्यों नहीं बनाया व्यर्थ है। मनुष्येतर प्राणियों के विषय में यह प्रश्न इसलिए भी नहीं उठता है कि वे भोगयोनि हैं--कर्मयोनि नहीं। वे अपने किये कर्मों का फल भोग रहे हैं।

सब कुछ अपने कारणों द्वारा नियंत्रित वा निर्धारित है, जीवों के व्यापार भी स्वतंत्र नहीं--यह एक निरी अनभिज्ञता का द्योतक है।। 'स्वतंत्रः कर्त्ता' अर्थात् कर्त्ता करने न करने में स्वतंत्र हुआ करता है। अतः जिन कारणों द्वारा व्यापार नियंत्रित और निर्धारित है उन कारणों में कर्त्ता और उसकी स्वतंत्रता भी है इसलिए छुल्लक जी का उठाया आक्षेप निराधार है।

यदि छुल्लक जी की यह बात सही है कि हस्तरेखा-विज्ञान और शरीरविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि जो मनुष्य चोरी आदि करते हैं उनके शरीर की रचना ही ऐसी होती है, तो फिर पापी से पापी का सुधार क्यों होता है। तथा जैनधर्म की सब शिक्षायें व्यर्थ होंगी। जब पापी की शरीर रचना ही ऐसी है तो फिर उसका सुधार हो ही नहीं सकेगा। ऐसी अवस्था में उसके लिए उपदेश आदि का लाभ ही क्या है? फिर तो न कोई सिद्ध बन सकेगा और न अर्हन्त। सिद्धशिला के ऊपर शून्यता ही नजर में आवेगी। ऐसी बेसिर पैर

की बातें लिखने में श्री छुल्लक जी ही सिद्ध हैं। भला आज तक हस्त-रेखा वा शरीरविज्ञान ने ऐसा सिद्ध कहाँ किया है। हस्तरेखा कोई विज्ञान नहीं। शरीर-विज्ञान में ऐसी कोई बात लिखी नहीं गई कि चोर आदि के अङ्गों की रचना ही वैसी होती है।

यदि हस्तरेखा-विज्ञान और शरीर-विज्ञान के आधार पर यह छुल्लक जी की मानी बात सिद्ध है तो फिर ऐसी रेखा और ऐसे अंगों वालों को गिरफ्तार करना चाहिए तथा जेल में डाल देना चाहिए जिससे कि वे चोरी आदि कर ही न सकें। कत्ल करने वाले के अङ्ग की रचना और हस्तरेखा उसी प्रकार की होगी, अतः उसे फाँसी पर चढ़ा देना चाहिए जिससे वह कत्ल न कर सके।

श्री छुल्लक जी के नुसखे से सरकार का भी सारा करोबार विना गुप्तचरों के चल जाना चाहिए। क्योंकि हस्तरेखा और शरीर-विज्ञान से ही अपराधी पकड़े जा सकेंगे।

प्रश्न तो यह है कि छुल्लक जी, क्या कोई आदमी विना चोरी, कत्ल आदि अपराधों को किये दण्ड दिया जा सकता है? क्योंकि आपका हस्तरेखा और शरीर-विज्ञान तो उन्हें अपराधी बता ही रहा है।

ये हस्तरेखायें और शरीर-रचना पूर्वकर्मों पर हैं या भविष्य की गारण्टी हैं। यदि पूर्वकर्मों पर हैं तब तो पापी सदा के लिए पापी ही रहेगा। क्योंकि इस जन्म की रेखायें और अंग रचना पूर्व-कर्मों पर हैं। पहले जन्म में भी ऐसी ही रही होंगी और आगे तोऐ सी ही रहेंगी ही। फिर पापी को तो कभी पाप से निपटारा नहीं मिलेगा। वह आपके माने अनुसार धर्म तो कभी कर ही नहीं सकेगा। क्योंकि––उसकी रेखायें और अंग-रचना ही ऐसी हैं। कितनी अव्यवस्था फैल जावेगी? यह लालबुझक्कड़पना कभी भी क्या ईश्वर का खण्डन कर सकेगा? कभी नहीं।

स्वभाव अभ्यास की अपेक्षा रखता है। हस्तरेखा और अंगरचना के आधार पर स्वभाव नहीं बना करता है। पहले आर्यसमाजी श्री

स्वामी कर्मानन्द बनना और बाद में छुल्लक निजानन्द दिगम्बर बनना किस हस्तरेखा वा अङ्ग रचना का स्वभाव है ?

इस प्रकार श्री छुल्लक जी के उठाये गए आक्षेपों का यहाँ पर निराकरण किया गया और सिद्ध किया गया कि ईश्वर सर्वव्यापक है। वह निमित्तकारण भी जगत् का है और जगत् में सर्वव्यापक भी है।

कुछ विशेष

यद्यपि 'सत्यार्थदर्पण' और ईश्वर मीमांसा में उठाये गए आक्षेपों के समाधान कर दिये गए हैं तथापि कुछ फुटकर प्रश्न और भी थे जिनका उत्तर यहां दिया जावेगा। ईश्वर मीमांसा के लेखक श्री छुल्लक जी ने जो प्रश्न उठाये हैं वही प्रश्न 'सत्यार्थदर्पण' में भी हैं। दोनों में कोई विशेषता इस विषय में नहीं है। किन्तु श्री छुल्लक जी ने इस विषय में अपने विचार पर बल डालने के लिए कुछ प्रश्न किये हैं जो इतस्ततः उनकी पुस्तक में हैं अतः उनका भी उत्तर आवश्यक है। श्री छुल्लक जी ने अपनी पुस्तक में बहुत सी-बाहर की बातें भी पुस्तक के आकार को बढ़ाने की दृष्टि से की हैं उनको अप्रासांगिक समझ कर यहां पर उत्तर नहीं दिया गया है। संक्षेप में केवल उन्हीं आक्षेपों का उत्तर दिया जा रहा है जिनको श्री छुल्लक जी ने बहुत प्रबल समझा है। प्रथम आक्षेप हैं और तदनन्तर उसी क्रम से समाधान है।

आक्षेप

(१) श्री जिनसेनाचार्य के श्लोकों के प्रमाण से यह पूछा गया है कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर कृतार्थ अथवा अकृतार्थ है ? यदि कृतार्थ है अर्थात् उसे कुछ करना बाकी नहीं, रहा चारों पुरुषार्थों का साधन कर चुका है तो उसका कर्त्तापन कैसे बनेगा ? वह सृष्टि क्यों बनावेगा

श्रौर यदि श्रकृतार्थ है श्रपूर्ण है उसे कुछ करना बाकी है तो कुंभकार के समान वह भी सृष्टि को नहीं बना सकेगा।

(२) श्रमूर्त्त निष्क्रिय सर्वव्यापक ईश्वर सृष्टि नहीं बना सकता है क्योंकि जो श्रमूर्त्त है उससे मूर्त्तिक संसार की रचना नहीं हो सकती है, जो क्रिया-रहित है वह सृष्टि-रचनारूप क्रिया नहीं कर सकता है। ईश्वर में सृष्टि रचने की इच्छा नहीं हो सकती है। क्योंकि वह निर्विकार है।

(३) यदि शरीर श्रादि की रचना किये हुए पूर्वकर्मों के श्रनुसार करता है तो कर्मों की परतंत्रता के कारण वह ईश्वर नहीं हो सकता है। जैसे कि जुलाहा।

(४) श्लोक वार्त्तिककार का कथन है कि जगत् के पूर्व जब यह सब कुछ नहीं था तो वह ईश्वर किस जगह रहता था? यदि निराकार मानकर उसका श्राधार न माना जावे तो उसमें इच्छा श्रौर प्रयत्न किस प्रकार सिद्ध होगा? क्योंकि सर्वव्यापक निराकार में श्राकाशवत् क्रिया होना श्रसंभव है। यदि ईश्वर ने जगत् को बनाया तो उसको बनाते किस ने देखा? श्राद्य क्रिया किस प्रकार प्रारंभ हुई श्रौर किस स्थान से प्रारंभ हुई। यदि किसी स्थान-विशेष से तो इस विशेषता का क्या कारण है? यदि सर्वत्र क्रिया एकसाथ हुई तो सृष्टि का क्रम न रहा।

(५) ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु सकर्त्तृक होती है। साध्यसम है सूर्यचन्द्रमा सकर्त्तृक हैं इसका क्या प्रमाण है? समुद्र श्रौर पहाड़ को बनाये जाते किसने देखा है? पुनः इस जगत् का उपादान क्या था? यदि उपादान श्रकर्त्तृक है तो जगत् को श्रकर्त्तृक मानने में क्या श्रापत्ति है? कर्त्तृत्व का व्यपदेश वहीं हो सकता है जहाँ संकल्प की स्वतंत्रता हो यह काम करूं या न करूं। स्वभाव से इस प्रकार की स्वतंत्रता के लिए स्थान नहीं रहता।

(६) ईश्वर की सिद्धि में केवल श्रनुमान प्रमाण रह जाता है। इस में यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई

रचयिता होता है । इसलिए जगत् का भी कोई रचयिता होना चाहिए। यदि ऐसा है तो वस्तु होने से फिर ईश्वर का भी कोई कर्त्ता होना चाहिए। यदि ईश्वर को किसी कर्त्ता की अपेक्षा नहीं है तो विश्व के लिए भी कर्त्ता की अपेक्षा नहीं है।

समाधान

इन सब आक्षेपों पर विचार करने पर यह दिखाई पड़ता है कि वही प्रश्न बार बार दुहराये गए हैं। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने भी वही प्रश्न रखे हैं। उन्हीं को छुल्लक जी ने पता नहीं कितनी बार दोहराया है। श्लोक वार्त्तिक में भी वही प्रश्न उठाये गए हैं और श्री सम्पूर्णानन्द जी आदि के नाम से भी उन्हीं को उद्धृत किया गया है। ये हेत्वाभासों से भरे पड़े हैं। फिर भी इनका उत्तर यहां पर दिया जाता है।

(१) कृतार्थ और अकृतार्थ की बात का उत्तर पहले दिया गया है 'सत्यार्थदर्पण' के उत्तर के प्रसंग में। उसे भी देखना चाहिए। यहां पर यह एक बड़ी भारी त्रुटि है कि आक्षेप करनेवालों को भी कृतार्थ और अकृतार्थ का कोई निश्चित अर्थ ज्ञात एवं स्पष्ट नहीं है। यदि इसका अर्थ सफलप्रयोजन है तो ईश्वर का सृष्टिरचना में कोई प्रयोजन असफल है ही नहीं। सभी प्रयोजन उसके सफल हैं और प्रत्येक सृष्टि में वे सफल ही रहते हैं। सृष्टि प्रवाह रूप से अनादि है अतः प्रयोजनाधीन यह चक्र सफलता के साथ चलता रहता है। यदि कृतार्थ का अर्थ आप यह समझते हैं कि अब उसे कुछ करना ही नहीं है तो ऐसा कृतार्थ ईश्वर नहीं है। उसने अब सृष्टि को बनाया है, उसका प्रलय करेगा और पुनः सृष्टि रचना करेगा। पुरुषार्थ-चतुष्ठय की बात बद्ध जीवों के लिए है। ईश्वर न कभी बद्ध था, न बद्ध है और न होगा। अतः उसके लिए पुरुषार्थ-चतुष्ठय का प्रश्न ही नहीं उठता। वह सदा एवं स्वाभाविक मुक्त है और सदा तथा स्वभाव से ईश्वर है। वह आपकी मानी कृतार्थता वा अकृतार्थता के कारण

सृष्टि नहीं बनाता है बल्कि स्वभाव, दया, जीवों के कार्यों का फल देने तथा जीवों के लिए मुक्ति प्राप्त करने का साधन उपस्थित करने के प्रयोजन से सृष्टि बनाता है। इसी प्रकार अकृतार्थ का अर्थ अपूर्ण किया है--इससे ही सिद्ध होता है कि कृतार्थ अकृतार्थ के अर्थ को प्रश्नकर्त्ता लोग भी नहीं निश्चित कर पाये हैं। यदि अकृतार्थ का अर्थ अपूर्ण है तो फिर ईश्वर में किसी प्रकार की अपूर्णता है ही नहीं, अतः उसे अकृतार्थ मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। ईश्वर पूर्ण है अतः कुम्भकार की तरह उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है कि वह सृष्टि न बना सके। यहां यह स्मरण रहे कि ईश्वर के विषय में यह कृतार्थ और अकृतार्थ का पचड़ा उठता ही नहीं है। जैसे ईश्वर रागी वा विरागी नहीं है उसी प्रकार वह कृतार्थ और अकृतार्थ भी नहीं है। ऐसे प्रश्न जीवों के विषय में ही उठाये जा सकते हैं, परमात्मा के विषय में नहीं। जीव कभी बद्ध कभी मुक्त होते हैं अतः उन के विषय में यह प्रश्न उठ सकता है। ईश्वर तो सदा मुक्त, पूर्ण है अतः उसमें यह प्रश्न नहीं हो सकता है। वह न कभी बन्धन में आया और न आ सकता है।

(२) ईश्वर अमूर्त्त तो है परन्तु उसमें क्रिया नहीं है--यह आपने कहाँ से जोड़ लिया। जो चेतन पदार्थ है और कर्त्ता है उसमें सृष्टि-रचना की क्रिया है ही। वह जड़ नहीं है कि निष्क्रिय हो। यह कोई नियम नहीं कि जो अमूर्त हो वह निष्क्रिय हो। यदि अमूर्त्त जीवात्मा और अमूर्त्त मन मूर्त्त हाथ आदि और शरीर को उठा सकते हैं तो फिर अमूर्त्त ईश्वर मूर्त्त पदार्थों की रचना क्यों नहीं कर सकता है। गर्भ में जीव के शरीर को कौन मूर्त्त पदार्थ बनाता है? कभी कोई मूर्त्त इस कार्य को कर भी नहीं सकता है। जब अमूर्त्त ईश्वर इस मूर्त्त शरीर को बनाता है तो सृष्टि के मूर्त्त पदार्थों के बनाने में क्या आपत्ति हो सकती है? इस विषय में पूर्व भी इसी प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। सर्वव्यापक ईश्वर सृष्टि नहीं बना सकता है तो क्या एकदेशीय कोई सृष्टि बना सकेगा?

संसार में कौन एकदेशीय कर्त्ता है जो पृथ्वी और सूर्य आदि को बना देवे ? जब यह सिद्ध है कि सृष्टि में ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें एकदेशीय कर्त्ता नहीं बना सकता है तो फिर सर्वव्यापक ही उन्हें बना सकता है—यह स्वतः सिद्ध है।

'ईश्वर क्रिया-रहित है' यह कल्पना आप लोगों ने अपने-आप कर ली है। ईश्वर को मानने वाला कोई भी ऐसा नहीं मानता है। चेतन है अतः उसमें क्रिया का अभाव कैसे हो सकता है। अपने माने आधारों पर ईश्वर का खण्डन करना कोई तात्पर्य नहीं रखता है। ईश्वर के मानने वालों द्वारा माने गए आधारों का खण्डन करना चाहिए था। वह हो नहीं सकता। अतः ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

ईश्वर में इच्छा नहीं—ईक्षण है। वह ईक्षण करता है और सृष्टि को बनाता है। अतः आपका आक्षेप ही व्यर्थ ठहरता है।

३—ईश्वर न्यायकारी भी है। अतः वह शरीरादि की रचना करते समय उस न्याय को आधार बनाकर शरीर आदि के भेद करता है। न्याय होता ही वह है जो न्याय चाहने वाले के कर्म की अपेक्षा रखे। न्याय कोई न्यायाधीश विना कर्म की अपेक्षा के अपनी ओर से नहीं देता है। यदि वह विना कर्म की अपेक्षा के न्याय करे और उसका फल दे तो फिर अन्याय होगा। जीव के पूर्वकर्मानुसार शरीर आदि फलों के देने में ईश्वर की कोई भी परतन्त्रता नहीं। किये कर्मों की परतंत्रता करने वाले जीवों को है—ईश्वर को नहीं। कर्म जीव के तंत्र में है और उनका फल ईश्वर के तंत्र में है। फिर ईश्वर को परतन्त्रता कैसे हो सकती है। आपको स्वतन्त्रता की व्याख्या करनी चाहिए थी। स्वतन्त्रता का अर्थ यही तो है कि अपने तंत्र में होना। ईश्वर अपने तंत्र के अनुसार ही जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करता है, अन्य के तंत्र में रहकर नहीं। ईश्वर सदा स्वतंत्र है—उसपर किसी और का तंत्र नहीं है। अतः वह स्वतंत्र है। वह जगत् का कर्त्ता है अतः कर्त्ता होने से भी वह स्वतंत्र है। जुलाहे का उदाहरण भी पक्ष का पोषक नहीं है।

(४) जगत् के पूर्व यह सब कुछ नहीं था का तात्पर्य क्या है? यही तात्पर्य हो सकता है कि 'यह सब कुछ' कार्य जगत् नहीं था। परन्तु इसका कारण तो था ही। यह मान कैसे लिया गया कि यह कुछ का अर्थ इसके कारण का भी अभाव है। जब कारण मौजूद था तो कुछ नहीं था--यह कहना ही त्रुटिपूर्ण एवं असंगत है। ईश्वर भी कारणों में एक है। वह निराकार और सर्वव्यापक है। वह उससे अतिरिक्त अन्य कारणों अर्थात् जीव और प्रकृति में व्यापक रहता है। ईश्वर निराकार और सूक्ष्म है, उसके रहने के लिए स्थान की आवश्यकता नहीं। चूंकि जैनियों के एकदेशीय जीव-रूपी ईश्वर के रहने का स्थान उन्होंने सिद्धशिला के ऊपर माना है और पौराणिक लोग ईश्वर को साकार मानते हैं अतः वे सदा उसी आधार पर चलते हैं। अरे मेरे भाई! निराकार सर्वव्यापक ईश्वर के लिए स्थान की आवश्यकता नहीं है।

निराकार में इच्छा और प्रयत्न नहीं होते हैं—इसका कोई भी प्रमाण प्रस्तुत कीजिए। आप जन्मजन्मान्तर में भी ऐसा नहीं कर सकेंगे। मन भी निराकार और जीव भी निराकार परन्तु इन दोनों में इच्छा और प्रयत्न पाये जाते हैं। फिर यह आपका तर्क अपने-आप उड़ गया। हाथ आदि में जो प्रयत्न हो रहा है, यह निराकार जीव के द्वारा होता है। इच्छा भी वही करता है।

यह कहा जा चुका है कि ईश्वर चेतन है अतः उसमें क्रिया और प्रयत्न का अभाव हो ही नहीं सकता है। उसमें इच्छा नहीं, ईक्षण है। अतः इच्छा का प्रश्न ही क्या उठता है? आकाश तो जड़ है अतः उसका दृष्टान्त ईश्वर में नहीं घट सकता है। जड़ में क्रिया अपने-आप हो ही नहीं सकती है। परमेश्वर आकाश की भांति सर्वव्यापक होने पर भी चेतन है और जगत् का कर्त्ता है अतः उसमें कर्त्तृत्व एवं क्रिया है। चेतन कर्त्ता में क्रिया का अभाव कहना समझ को ही धोखा देना है।

प्रत्येक वस्तु का निर्णय देखकर ही नहीं होता है। अनुमान

आदि प्रमाणों से भी निर्णय किया जाता है। जगत् के पदार्थ सावयव हैं अतः वे बनाये हुए हैं---जैसे घड़ा। इसी प्रकार सृष्टि के पदार्थ भी सावयव हैं अतः वे भी बनाये हुये हैं। जो जिस वस्तु का बनाने वाला होता है वह उसका ज्ञाता भी होता है। जैसे पट, घट आदि के कर्त्ता इनके ज्ञाता हैं। परन्तु सूर्य, चन्द्र आदि तथा शरीर आदि का ज्ञान मानव को नहीं है अतः उसका कर्त्ता भी मानव नहीं। कोई सर्वज्ञ ही उनका कर्त्ता हो सकता है। वह ईश्वर है।

ईश्वर ने जगत् को नहीं बनाया--यह किसने देखा ? यदि किसी ने देखा है तो बताइये। आप ऐसा कभी भी नहीं बता सकेंगे। यदि नहीं देखा है तो फिर आपका पक्ष सिद्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में यदि आप अनुमान की शरण लें तो फिर उसी अनुमान के आधार पर जगत् का न बनना न सिद्ध होकर बनना ही सिद्ध होता है। आपका तात्पर्य तो देखने से है। देखा किसीने है नहीं अतः आपका पक्ष ग़लत है। जब आपका आक्षेप ही ग़लत हो जाता है तो हमारा पक्ष अपने-आप सिद्ध है।

ईश्वर के स्थान आदि की कल्पना ही व्यर्थ है। ईश्वर चेतन तथा स्वतंत्र कर्त्ता है अतः जितने स्थान वा जितने देश में क्रिया करना चाहता है और करने की आवश्यकता समझता है, उतने देश वा स्थान में क्रिया करता है। प्रकृति-रूपी उपादान कारण में क्रिया सर्वत्र पैदा करने पर भी वस्तुओं की रचना ईश्वर की योजना और उद्देश्य के अनुसार एवं निश्चित की हुई डिज़ाइन के अनुसार ही होगी। अतः क्रम का अभाव कैसे ? ईश्वर सर्वव्यापक है। अतः प्रकृति में क्रिया देकर वह वस्तुओं को याथातथ्य से बनाता है। इसलिए क्रम अपने-आप ही बना रहता है। यह कोई जड़ की गति तो नहीं है। चेतन की क्रिया है। वह चेतन ही तो क्रम भी निर्धारित करता है। इंजन को चलाने वाला भी तो क्रिया देता है परन्तु उसको भी वह क्रम में रखता है। मिल में बनाये जाने वाले कपड़ों में भी क्रिया सर्वत्र देता है पर क्रम बना ही रहता है। अतः ईश्वर स्वतंत्र कर्त्ता

और चेतन होने से जहाँ जितनी और जैसी क्रिया करना आवश्यक समझता है करता है। एक इंजन को चलाने वाला आगे भी इंजन को ले जाता है और पीछे भी लाता है। क्योंकि वह चेतन है और ज्ञान-पूर्वक क्रिया का संचालन करता है। ऐसे ही ईश्वर भी जितनी और जैसी क्रिया की आवश्यकता समझता है उतनी और वैसी क्रिया करता है।

(५) यहाँ पर हेत्वाभास का एवं छल प्रयोग किया गया है। क्योंकि कोई भी ईश्वरवादी यह नहीं मानता कि प्रत्येक वस्तु सकर्तृक है। प्रत्येक कार्य वस्तु सकर्तृक है--ऐसा मान कर तर्क किया जाता है। प्रत्येक वस्तु सकर्तृक है ऐसा मानकर नहीं। अतः यहाँ पर छल का प्रयोग किया गया है और हेत्वाभास है--हेतु नहीं। प्रत्येक कार्य वस्तु सकर्तृक होती है--इस कथन से ही सिद्ध है कि अकार्य एवं नित्य वस्तु अकर्तृक एवं अनादि है। प्रत्येक कार्य वस्तु सावयव होती है। पृथ्वी सूर्य, चन्द्र आदि में सावयवत्व है अतः वे भी कार्य हैं। जब वे कार्य हैं तो वे भी सकर्तृक हैं ही। समुद्र और पहाड़ सावयव हैं यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। यदि किसीने इनको बनाये जाते नहीं देखा है और इसलिए ये कार्य नहीं तो इन्हें न बनाये जाते किसने देखा। यदि किसी ने देखा तो बताइये जो आप कभी भी नहीं बता सकेंगे। यदि किसी ने बनाना नहीं देखा है तो फिर ये समुद्र पहाड़ नहीं बनाये गए हैं--यह कैसे मान लिया।

'समुद्र और पहाड़ को किसने बनाते देखा'--ऐसा पूछने वालों से बड़े नम्र शब्दों में पूछा जाना चाहिए कि आप अपनी माता से उत्पन्न हुए हैं, और उत्पन्न भी हुए हैं वा नहीं—यह आपने कब देखा और कैसे देखा। यदि देखा है तो यह आपका कथन असंभव है क्योंकि स्वयं का जन्म और स्वयं की मृत्यु का देखना अपने-आप होता नहीं। परन्तु मृत्यु अवश्य है--इससे यह भी सिद्ध है कि आप उत्पन्न भी अवश्य हुये हैं। इस प्रकार आपने अपना जन्म स्वयं नहीं देखा परन्तु मृत्यु होगी अवश्य अतः अनुमान से जन्म भी अवश्य

हुआ है यह मानते हैं। अथवा दूसरों को उत्पन्न होता और मरता देखकर अपने भी उत्पन्न होने और मरने का अनुमान करते हैं। अथवा जिसने देखा है उससे सुनकर आप विश्वास करते हैं कि आपका भी जन्म हुआ है। जब यहाँ पर प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमान आदि के बल पर अपना जन्म होने पर विश्वास आपको है तो फिर समुद्र पहाड़ को यदि किसी ने बनाते नहीं देखा है तब भी अनुमान आदि प्रमाणों से उनका कार्य होना सिद्ध है। सब वस्तुओं की प्रत्यक्ष ही से सिद्धि हो––यह आवश्यक नहीं।

उपादान कारण को मूल कारण कहा जाता है। मूलकारण का कोई मूलकारण नहीं होता है। जब उसका कोई कारण ही नहीं तो वह कार्य नहीं कहा जा सकता है। जब कार्य नहीं तो फिर वह सकर्तृक नहीं हो सकता है। यदि उपादान अकर्तृक है तो जगत् को अकर्तृक मानने में क्या आपत्ति है? यह आपका प्रश्न वैसा ही है कि जब गाय गाय है तो घोड़ा गाय क्यों नहीं। अरे मेरे भाई! उपादान अकर्तृक होने से घड़ा अकर्तृक तो नहीं हो जावेगा। जगत् कार्य है अतः वह अकर्तृक किसी प्रकार नहीं हो सकता है। जगत् का उपादान प्रकृति है और वह अकर्तृक एवं नित्य है। ईश्वर चेतन सत्ता है और वह जगत् का कर्त्ता है। कर्त्ता स्वतंत्र होता है। अतः ईश्वर स्वतंत्र तो है ही। जो कर्त्ता स्वतंत्र है उसका स्वभाव भी स्वतंत्र है, अतः स्वभाव स्वतंत्रता का बाधक नहीं है। स्वभाव का अर्थ अपना भाव है। अतः ईश्वर जैसा है वैसा ही उसका अपना भाव भी है। वह कर्त्ता है, स्वतंत्र है, सर्वव्यापक है, निराकार है अतः उसका स्वभाव भी वैसा ही है। जब वह स्वतंत्र है तो स्वभाव उसका परतंत्र किस प्रकार हो सकता है?

(६) ईश्वर की सिद्धि में अनुमान प्रमाण पाया जाता है इसमें कोई आपत्ति नहीं। परन्तु अनुमान का जो प्रकार आप दिखला रहे हैं वह सदोष है। अनुमान का प्रकार यह नहीं है कि "प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई रचयिता हुआ करता है" बल्कि यह है कि "प्रत्येक

कार्य वस्तु वा रचित वस्तु का कोई न कोई रचयिता हुआ करता है"। जगत् भी कार्य वस्तु है और रचित है अतः उसका भी कोई रचयिता होना चाहिए और वह रचयिता ईश्वर है। ईश्वर चूंकि कार्य वस्तु वा रचित वस्तु नहीं है अतः उसका कोई रचयिता हो ही नहीं सकता है। यह ग़लत है कि चूंकि अनादि नित्य ईश्वर को किसी रचयिता की अपेक्षा नहीं अतः घड़े को भी किसी बनाने वाले की अपेक्षा नहीं। जिस प्रकार घड़े को उसके बनाने वाले की अपेक्षा है उसी प्रकार जगत् को उसके बनाने वाले ईश्वर की अपेक्षा है। ईश्वर अकार्य, नित्य है, अतः उसके स्वयं के लिए किसी रचयिता की अपेक्षा नहीं है। जगत् कार्य है, अनित्य है, अतः उसके लिए रचयिता की आवश्यकता है।

द्वितीय खण्ड

जीव

इस खण्ड में जीव-सम्बन्धी आक्षेपों का समाधान किया जावेगा। कर्मसिद्धान्त, अल्पज्ञ की सर्वज्ञता नहीं हो सकती है और मुक्ति आदि से सम्बद्ध विषयों का विवेचन इस खण्ड का विषय होगा। सत्यार्थ-दर्पण के अनुसार ही यहां पर क्रम रखा जावेगा। अतः उसके अनुसार 'जनधर्म का कर्मसिद्धान्त' विषय को सर्वप्रथम यहां पर उपस्थित कर उसका विवेचन किया जाता है।

जैनधर्म के कर्मसिद्धान्त पर विचार

यद्यपि इस सम्बन्ध के बहुत से आक्षेप प्रथम खण्ड में समाहित किये गए हैं। परन्तु सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने इसको पुनः शीर्षक बनाकर कुछ आक्षेप किये हैं। उनका भी उत्तर यहां पर दिया जाता है। 'सत्यार्थदर्पण' और 'ईश्वर मीमांसा' दोनों ही पुस्तकों की यह स्थिति है कि ये दोनों ही एक ही बात को बार-बार दोहराती हैं। उन में से जो आवश्यक समझा गया उनका उत्तर यहां पर दिगा जा रहा है। पहले आक्षेपों का क्रम है और बाद भी उसी क्रम के अनु-सार उत्तर है।

आक्षेप

(१) जैनधर्म में कर्म शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो राग-द्वेष आदि आत्मा के अशुद्ध भाव और दूसरा क्रोध मान आदि कषायों के निमित्त से आत्मा के साथ दूध पानी के समान एकमेक हुई कार्माण

जाति की पुद्गल वर्गणाएं। इन में से दूसरे अर्थ के लिए कर्म शब्द का प्रयोग अधिकतर आया करता है। इस कर्म शब्द के अभिप्राय से मिलते-जुलते अजैन दार्शनिकों के प्रकृति, भाग्य, दैव, अदृष्टा, माय, अविद्या, और धर्माधर्म आदि शब्द हैं।

(२) जब कोई जीव अच्छा वा बुरा कार्य मन से विचारता अथवा वचन से कहता वा शरीर से करता है उस समय आत्मा में इसके निमित्त से कम्प पैदा होता है। इस कारण अपने समीप के कार्माण (कर्मरूप होने लायक) परमाणुओं (वर्गणाओं) को खींच कर अपने में मिला लेता है। जैसे गर्म लोहा पानी को खोंच लेता है। परमाणु अचेतन होते हुए भी आत्मा के क्रोध मान आदि के कषाय के कारण उनमें आत्मा के ज्ञान आदि गुणों के ढकने की शक्ति आजाती है। इस लिए अपना समय आने पर वे कर्म अच्छा बुरा फल देकर अलग हो जाते हैं।

(३) मनुष्य, पशु, पक्षी आदि संसारी जीव पराधीन हैं क्योंकि वे अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर पाते हैं। यह परतंत्रता किसी कारण की अनुमापक है और वह कारण अन्य कुछ तो हो नहीं सकता है। केवल कर्म ही हो सकता है। कोई जीव मनुष्य, कोई पशु, कोई धनिक, कोई निर्धन आदि भेदों का कारण कर्म है।

(४) न्यायप्रिय मित्रो! प्रश्नकर्त्ता ने जो भंग के नशा चढ़ने का उदाहरण देकर कर्मों में जीवों को फल देने की शक्ति सिद्ध की है उसका स्वामीजी ने कुछ भी निराकरण नहीं किया है। जीव यद्यपि स्वयं अपने दुष्कर्मों का फल नहीं भोगना चाहता है, किन्तु उसके न चाहने से उसे उसके कर्मों का फल मिलना रुक थोड़े ही सकता है। वह तो उसे अवश्य मिलेगा। जैसे गर्मी के दिनों में धूप में खड़ा रह कर चने चबाते हुए आदमी को न चाहते हुए भी प्यास अवश्य लगेगी। भंग पीकर न चाहने पर भी नशा चढ़ेगा ही।

(५) बिजली, बेतार के तार, गैस आदि जड़ पदार्थ जिस प्रकार अपनी शक्ति द्वारा नियमानुसार अद्भुत कार्य करते हैं वैसे

ही कर्म में भी जीव को अच्छा-बुरा फल नियमानुसार देने की शक्ति का होना असंभव नहीं है। जैन धर्म ने माना है कि जीव के संयोग से जड़ कर्मों के अन्दर ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि वे जीव को नियमानुसार फल दे देते हैं।

(६) शराब जड़ पदार्थ है परन्तु पेट में पहुंचते ही बुद्धि पर पर्दा डालकर पागल बना देती है। क्लोरोफार्म जड़ है किन्तु नाक से सूंघते ही सुध बुध को भगा देता है। जैनधर्म के इस कर्म सिद्धान्त को सांख्यदर्शन ने बहुत भाग में स्वीकार किया है। उसने कर्म का नाम प्रकृति या प्रधान रखा है।

समाधान

(१) जैनधर्म की कर्म की परिभाषा गोल-माल है। राग और द्वेष एक प्रकार के मिथ्याज्ञान हैं। इन्हें दोष भी कहा जाता है। ये प्रवृत्ति के उत्पादक तो हैं परन्तु स्वयं कर्म नहीं हैं। ये जब भी जीव में रहेंगे गुण के रूप में रहेंगे, कर्म के रूप में नहीं। नियम यह है कि मिथ्या ज्ञान से दोषों की उत्पत्ति होती है और दोषों से प्रवृत्ति अर्थात् कर्म की उत्पति होती है। इन में बाद-बाद वाले के अभाव से पूर्व वाले का अभाव होता है। अतः राग और द्वेष प्रवर्तना लक्षणों वाले हैं और प्रवृत्ति के उत्पादक हैं--स्वयं प्रवृत्ति नहीं।

दूसरा कर्म का लक्षण जो किया है उसमें पारिभाषिक शब्द तो भर दिया परन्तु बात कुछ भी नहीं बनी। 'कार्माण जाति की पुद्गल वर्गणायें' से क्या तात्पर्य निकलता है? कार्माण का अर्थ कर्मरूप होने लायक और वर्गणा का अर्थ परमाणु है। पुद्गल का अर्थ जीव जो चेतना धर्म वाला है उससे पृथक् जड़ पदार्थ। कर्म की व्यवस्था सदा चेतन में हुआ करती है--जड़ में नहीं। कर्त्ता भोक्ता जीव होता है--न कि जड़ पदार्थ। अतः समूचे लक्षण का अर्थ हुआ कि 'कर्म-रूप होने लायक पुद्गल जड़ परमाणु'। इनसे कर्म की परिभाषा क्या बनी? शरीर चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय है। चेष्टा ही

प्रवृत्ति का प्रकार है। प्रवृत्ति वाणी से, मन से और शरीर से होती है। इसमें स्वेच्छा पूर्वक हुई प्रवृत्ति को ही कर्म में वस्तुत: गिना जाता है। परन्तु जैनधर्म के लक्षण इस अर्थ में संगत नहीं होते हैं। यह भी गलत है कि अजैन दार्शनिकों के प्रकृति, भाग्य, दैव, अदृष्ट, माया, अविद्या, और धर्माधर्म आदि शब्द इनसे मिलते-जुलते हैं। प्रकृति का अर्थ सांख्य में सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था है। यह प्रकृति-प्रधान नाम से भी व्यवहृत है और समस्त जगत् का उपादान कारण है। इसे कर्म कहना भूल है। कर्म कभी उपादान कारण नहीं हो सकता है और न उपादान कारण कभी कर्म हो सकता है। भाग्य, दैव और अदृष्ट कर्मों से बनते हैं परन्तु स्वयं कर्ममात्र नहीं। भाग्य वह है जो पूर्व के किये पुरुषार्थ वा कर्मों से मिला हो। इसे कर्म नहीं कहा जा सकता है। अदृष्ट नाम कर्मों के संस्कार का है, स्वयं कर्म का नहीं। दैव भी भाग्य के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। माया और अविद्या नवीन वेदान्तियों की परिभाषा में कर्म के अर्थ में कभी भी प्रयुक्त नहीं होती हैं। अविद्या मिथ्या ज्ञान का नाम है। माया भी एक प्रकार का आवरण ही है। अत: ये कर्म नहीं कहे जा सकते हैं। इस प्रकार जैन धर्म की कर्म की कुछ परिभाषा ही बनती नहीं दीखती है।

(२) जब आप यह मान रहे हैं कि मन, वचन, शरीर से जब कोई अच्छा वा बुरा कार्य सोचता, कहता वा करता है तो उस समय आत्मा में कम्प पैदा होता है तो फिर यह कर्म तो हो ही गया। क्योंकि आत्मा में कम्प होकर शरीर, मन, वाणी से किया हुआ कार्य-प्रवृत्ति ही कर्म है। फिर अपने समीप के कार्माण वर्गणाओं (कर्मरूप होने लायक परमाणुओं) को खींचकर कर्म बनाने का तो कोई तात्पर्य नहीं बनता। आत्मा के ज्ञान को मिथ्याज्ञान ढंकता है वा कर्म ढंकता है। यदि मिथ्या ज्ञान ढंकता है तो फिर यह व्यर्थ की कर्म की परिभाषा खींचने का कोई लाभ नहीं। यदि कर्म आत्मा के ज्ञान को ढंकता है तो वह इसका प्रत्यक्ष कारण है वा अप्रत्यक्ष। यदि प्रत्यक्ष कारण है तो फिर उसकी निवृत्ति का उपाय क्या? यदि अप्रत्यक्ष

कारण है तो फिर कोई अन्य हेतु देना पड़ेगा।

यहां पर सब से बड़ा दोष यह है कि सत्यार्थदर्पण का कर्त्ता जैनधर्म में मिथ्याज्ञान और कर्म का भेद नहीं कर रहा है। मिथ्याज्ञान और कर्म एक नहीं है। अतः जब जैन धर्म में कर्म की परिभाषा ही नहीं बन पाती तो फल आदि की व्यवस्था क्या बनेगी।

ये कर्म अच्छा वा बुरा फल व्यवस्था से देते हैं वा अव्यवस्था से। यदि व्यवस्था से देते हैं तो अपने आप नहीं दे सकते हैं--क्योंकि विना चेतनाधीन जड़ कभी व्यवस्था नहीं उत्पन्न कर सकता है। यदि ये अव्यवस्था से फल देते हैं तो फिर कर्म का फल सब को मिले ही और नियम से मिले--यह नहीं बन सकता है। इसी प्रकार फल के अनन्तर कर्म का आत्मा से पृथक् हो जाना सनिमित्तक है वा निर्निमित्तक। यदि सनिमित्तक है तो उसका निमित्त बताना चाहिए। परन्तु जैनधर्म उस निमित्त को बता नहीं सकता है। यदि वह निमित्त मान लेता है तो कर्म अपने-आप पृथक् हो जाते हैं--यह मानना संगत नहीं। यदि यह पृथक् होना निर्निमित्तक है तो कर्म फल देकर ही आत्मा से पृथक् हों, ऐसा क्यों? विना फल दिये भी पृथक् हो सकते हैं। ऐसा मानने पर कर्मफल में दुर्व्यवस्था फैल जावेगी।

(३) जैनधर्म का यह सिद्धान्त भी निराधार है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि संसारी जीव पराधीन हैं क्योंकि वे अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर पाते हैं। मनुष्य योनि में तो कर्म करने का अधिकार है परन्तु पशु और पक्षी भी कर्म करते हैं और उनका भी पुनः फल होता है--यह लालबुझक्कड़पने की बात है। पशु, पक्षी आदि भोग योनि हैं--कर्मयोनि नहीं। कर्मयोनि को ही कर्म करने का अधिकार है, भोगयोनि को नहीं। मनुष्य फल भी भोगता है और स्वतंत्रता से कर्म भी करता है--इसलिए वह उभययोनि कहा जाता है। मनुष्य तप, साधना आदि करके जीवनमुक्त बन सकता है और मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है परन्तु पशु और पक्षी ऐसा नहीं कर सकते हैं। क्या सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता यह बतलावेंगे कि क्या कोई

पशु वा पक्षी भी कभी सिद्धशिला के ऊपर पहुँच सका है और क्या वह भी कभी जैनधर्म का पूज्य सर्वज्ञ अर्हन्त बन सकता है ? यदि नहीं तो मनुष्य के साथ पशु-पक्षियों आदि को भी कर्म करने वालों में परिगणित करने का क्या अभिप्राय है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार केवल कर्म की स्वतंत्रता वालों के लिए ही हो सकता है। जो कर्म में परतंत्र हैं उनके लिए करणीय-अकरणीय और भले-बुरे और चाहिए, न चाहिए का विधान नहीं। यदि मनुष्य आदि सब कर्म करने में परतंत्र हैं तो जिस प्रकार पशु, पक्षी के लिए हिंसा-अहिंसा, सत्यासत्य के करने न करने का विधान नहीं वैसे ही फिर मनुष्य के लिए भी नहीं हो सकता है। फिर तो जैनधर्म के अहिंसा आदि कर्त्तव्यों के पालन का भी मनुष्य के लिए उपदेश व्यर्थ ही होगा। क्योंकि परतंत्रता से जैसा वह कराया जावेगा वैसा ही करेगा। यदि इनका उपदेश मनुष्य के लिए ठीक है तो फिर मनुष्य पशु की भाँति भी नहीं हो सकता है और कर्म करने में परतंत्र भी नहीं हो सकता है। कर्ममीमांसा की नैतिक कीमत मनुष्य से सम्बद्ध है और वह उसकी स्वतंत्रता की ज्ञापिका है।

क्या पशु-पक्षियों के लिए भी मुख पर पट्टी आदि बाँधने का उपदेश जैन शास्त्रों में है ? क्या आज तक उनमें से किन्हीं ने इस कार्य को किया ? जिन कृमियों के मरने से होने वाली हिंसा को बचाने के लिए जैन साधु मुख पर पट्टी बाँधते और अन्य उपाय करते हैं, क्या वे कृमि भी यही सब कुछ करते हैं और क्या उनके लिए भी यही उपदेश है ?

जीव के द्वारा इच्छानुसार कर्म करने की स्वतन्त्रता का उसे न होना कर्म पर आधारित मानने से जीव कभी भी स्वतन्त्र न हो सकेगा। फिर मोक्ष भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि फिर जीव का प्रत्येक कर्म पूर्व कर्म की अपेक्षा के बिना हो नहीं सकता है। इस प्रकार से कर्म-प्रवाह का विच्छेद भी कभी नहीं हो सकेगा। साथ ही जीव वा पुद्गल कर्म का करने वाला नहीं होगा बल्कि कर्म कर्म का करने वाला

होगा। ऐसी अवस्था में जीव को उसका फल न मिल सकेगा और कर्म को ही कर्म का कर्त्ता भोक्ता मानना पड़ेगा। एक कठिनाई यह भी होगी कि विना किये की प्राप्ति और किये की अप्राप्ति का भी दोष जैनधर्म में अपरिहार्य होगा।

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का भेद कर्म से है और जैनधर्म में फलदाता ईश्वर माना नहीं जाता तो फिर इन भेदों की स्थापना किस प्रकार होती है। कर्म अपने आप मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों का निर्माण करता है वा जीव अपने आप करता है? कर्म जड़ होने से अपने आप इनका निर्माण कर नहीं सकता है और जीव की सामर्थ्य के सर्वथा बाहर है कि वह इन योनियों को बना सके। क्या शराब के नशे की भांति ये सारी योनियाँ भी बन जाया करती हैं? या बिजली की वा गैस की तरह फूट निकलती हैं? यदि ऐसा है तो इन भेदों का कारण फिर कर्म कैसे रहा?

(४) यह भी सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का कथन ग़लत है कि सत्यार्थ-प्रकाश में प्रश्नकर्त्ता ने भंग के नशे का उदाहरण देकर कर्मफल सिद्ध करने का प्रयत्न किया, उसका स्वामी जी (महर्षि दयानन्द सरस्वती) ने कुछ भी निराकरण नहीं किया। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को हम बताते हैं कि स्वामी जी ने इसका निराकरण किया है वा नहीं, और किया है तो किस प्रकार? न्यायप्रिय पाठकों को भी सत्य समझ लेना चाहिए। स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश के १२वें समुल्लास में पृष्ठ ४०० पर स्वामीजी महाराज लिखते हैं--

"(पूर्व०) मद (नशा) के समान कर्म स्वयं प्राप्त होता है, फल देने में दूसरे की आवश्यकता नहीं।

(उत्तर०) जो ऐसा हो तो जैसे मदपान करने वालों को मद कम चढ़ता है, अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है, वैसे नित्य बहुत पाप-पुण्य करने वालों को न्यून और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप-पुण्य करने वालों को अधिक फल होवे।"

(सत्यार्थ प्रकाश, श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थसंस्करण)।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता यहां पर आंख खोलकर देख लेवें कि भंग के नशे से कर्मफल की सिद्धि का निराकरण स्वामी जी ने कर दिया है वा नहीं। ऐसा निराकरण कर दिया है कि प्रश्न उठाने वाले का मुख सर्वथा ही बन्द हो जावे। स्वामी जी के निम्न तर्क का उत्तर आज तक न जैनधर्मियों से बन सका और न कभी बन सकेगा :—

"यदि ईश्वर फल-प्रदाता न हो तो पाप के फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा, जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते किन्तु राज्य व्यवस्था से भोगते हैं वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं अन्यथा कर्मसङ्कर हो जायँगे, अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे।"

यह तर्क वस्तुतः बहुत ही महत्वपूर्ण है। कर्म जड़ है, चेतन नहीं। वे कैसे पहचानें कि हम किसके कर्म हैं। अतः किसी के साथ उनका चिपकना हो सकता है। इस प्रकार किसी को फल ही नहीं मिलेगा, किसी को अनेक कर्मों का फल मिल जावेगा। कर्मों का फल अपने-आप जड़ कर्मों से अवश्य मिलेगा, इसकी गारण्टी क्या है ? गर्मी के दिनों में धूप में खड़ा रहकर चने चबाने वाले को प्यास अवश्य लगेगी—यह भी तो निश्चित नहीं। यदि जाड़े की धूप में, वा पहाड़ों पर वा वातानुकूलित में बैठकर वा खड़ा होकर कोई चना चबावें तो उसको तो यह प्यास नहीं लगेगी। इस प्रकार कर्मों के फल को भी कोई पावेगा और कोई बँचा जावेगा। सब चने ही चबावे यह भी तो निश्चित नहीं क्योंकि सब कर्म चने ही तो नहीं हैं। भिन्न-भिन्न कर्म होंगे, फिर यह दृष्टान्त संगत किस प्रकार हो सकेगा ?

जब संसार में देखा जाता है कि कातिल को कत्ल रूप कर्म विना न्यायाधीश के फल अपने आप नहीं देता है, चोरी चोर को अपने-आप सज़ा नहीं देती है तो फिर जड़ कर्म अपने आप फल दे देंगे—यह किस प्रकार मानने योग्य हो सकता है। जब प्रत्यक्ष में ही इस

मन्तव्य का विरोध है तो अन्य प्रकार से उसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है।

भंग पीने वाले को भंग का नशा अवश्य चढ़ेगा—ऐसा निश्चित नहीं और अनिवार्य नहीं। भंग पीने पर खट्टी वस्तुओं के सेवन से नशा नहीं भी चढ़ सकता है। अधिक अभ्यासी और आदत वाले को भी भंग का नशा नहीं चढ़ता है। मीठी वस्तु खिला देने पर नशा अधिक भी हो सकता है। यदि कर्म फल की भी यही स्थिति होगी तो फिर अधिक पाप वाले को फल नहीं मिलेगा, कम वा न्यून वाले को फल मिल जावेगा और कर्म की मात्रा से अधिक फल भी हो जावेगा। अतः यह भंग का दृष्टान्त भी ठीक नहीं।

(५) बिजली, बेतार के तार, गैस आदि जड़ पदार्थ नियमानुसार अद्भुत कार्य चेतन की व्यवस्था में किया करते हैं। विना चेतन की व्यवस्था के नियमानुसार कार्य करना जड़ पदार्थों में हो ही नहीं सकता है। नियमानुसार शब्द का प्रयोग ही बतलाता है कि जिस नियम के अनुसार वे अद्भुत कार्य करते हैं वें नियम उनके अपने बनाये नहीं हैं। वे किसी चेतन से अधिष्ठित हैं। इसी प्रकार कर्म भी अपने आप नियमानुसार फल नहीं दे सकता जब तक कि वह ईश्वर-रूपी चेतन शक्ति की व्यवस्था में व्यवस्थित न हो। अच्छे-बुरे फल की पहचान और उन फलों की शक्ति के साधन कर्म अपने आप नहीं कर सकते हैं। जड़ में विना चेतन की व्यवस्था के नियमानुसार कार्य करने की शक्ति असंभव है।

जीव स्वयं फल की व्यवस्था अपने आप नहीं कर सकता है। जीव के सम्बन्ध से कर्म भी अपने आप फल की व्यवस्था नहीं कर सकते हैं। चोर और घातक के कर्म चोरी और हत्या यद्यपि जीव के सम्बन्ध के साथ हैं परन्तु स्वयं दण्ड का फल नहीं देते। न्यायाधीश की आवश्यकता पड़ती है। जब प्रत्यक्ष में यह स्थिति है तो फिर व्यर्थ के कुतर्क का लाभ हो ही क्या सकता है? एक आदमी ने ऐसा कर्म किया कि उसे शूकर वा सर्प होना है तो इसकी रचना आपका

जीव करेगा, वा आपके कहे जड़ कर्म करेंगे वा दोनों के संयोग करेंगे। कोई भी इनमें ऐसी रचना नहीं कर सकता है अतः कर्म का फल ईश्वर की व्यवस्था में ही हो सकता है अन्यथा नहीं।

(६) शराब का दृष्टान्त जैनधर्म के कर्मफल सम्बन्धी सिद्धान्त को सिद्ध नहीं कर सकता है। यह एक दृष्टान्त ही बहुधा और बार-बार जैनी लोग देते हैं। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता और ईश्वर-मीमांसा के कर्ता ने भी अपना बल इसी पर लगा दिया है। जब कि इसका खण्डन पता नहीं कितनी बार हो चुका है। शराब नये पीने वाले पर तो नशा लाती है परन्तु जिसको पीने की आदत पड़ जाती है उसे नशा नहीं चढ़ता है। यदि इसी आधार पर कर्म के फल को भी माना जावे तो पाप के अभ्यासी अथवा अधिक पाप करने वाले को फल ही नहीं प्राप्त होगा और थोड़ा पाप करने वाले को फल मिलेगा। इस प्रकार कर्मफल की कोई भी व्यवस्था ही नहीं रह जावेगी। इस प्रकार जड़ कर्म अपने आप फल नहीं दे सकते, यह निश्चित है।

क्लोरोफार्म के विषय में भी ऐसी ही स्थिति है। क्लोरोफार्म मात्रा से अधिक हो जावे तो फिर बेहोश किया गया व्यक्ति उठता ही नहीं--समाप्त हो जाता है। क्लोरोफार्म मात्रा से कम हो तो प्रभाव नहीं करता। अतः कर्मफल की व्यवस्था इस आधार पर नहीं चल सकती है।

सांख्य ने जैनधर्म के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया है। पूर्व खण्ड में ईश्वर के प्रकरण में इस विषय को स्पष्ट कर दिया गया है। सांख्य में कर्म का नाम प्रकृति वा प्रधान नहीं है। जगत् के उपादान का नाम प्रकृति वा प्रधान है। ग़लत बातों को कह कर पाठकों को बहकाना अच्छा काम नहीं है।

अब यहाँ पर थोड़ा-सा विचार ईश्वर-मीमांसा के कर्त्ता श्री छुल्लक जी द्वारा दिये गए तर्कों पर भी अपेक्षित है। यद्यपि छुल्लक जी ने भी उन्हीं बातों को बारबार दोहराया है जिनको सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने लिखा है। लगभग सभी बातों का उत्तर दे दिया गया

है, फिर भी कुछ विचार यहाँ पर किया जाता है।

(क) छुल्लक जी जैनधर्म के कर्म सिद्धान्त का वर्णन करते हुए कर्म को दो प्रकार का दर्शाते हैं--भावकर्म और द्रव्य कर्म। मन, बुद्धि की सूक्ष्म क्रिया या आत्मा के संकल्प रूप प्रतिस्पन्दन का नाम भावकर्म है और आत्मा जो संकल्प करता है उसका वायुमण्डल में चित्र उतरता है, यह चित्र समस्त संसार में व्याप्त हो जाता है, और इसी को कार्माण वर्गणा कहा जाता है और यह लोकाकाश में व्याप्त है।

यहाँ यह समझने की आवश्यकता है कि छुल्लक जी के इन दोनों प्रकार के कर्मों पर विचार किया जा चुका है। प्रवृत्ति जिसमें न हो वह कर्म नहीं हो सकता है। प्रवृत्ति के कारण दोष हैं। अतः भाव कर्म से जो बात छुल्लक जी कहना चाहते हैं वह स्पष्ट नहीं। कोई भी प्रवृत्ति शरीर, मन, और वाणी से होती है और उसका कर्त्ता आत्मा माना जाता है। परन्तु छुल्लक जी प्रतिपादित जैनधर्म की परिभाषा में यह कर्म की स्थिति स्पष्ट नहीं होती। द्रव्यकर्म की कल्पना व्यर्थ है। कर्म संस्कार तो उत्पन्न करते हैं परन्तु उनके आधार पर द्रव्यकर्म की कल्पना करना ठीक नहीं। जब कार्माण वर्गणाएं तरङ्गरूप वा चित्ररूप हैं तो ये लोकाकाश तक ही क्यों सीमित रहेंगी। ये तो सम्पूर्ण आकाश अर्थात् लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों पर पहुंचेंगी। आप के इन दो प्रकार के आकाशों की भेदक भित्ति क्या है? सिद्धशिला जिसे जैनधर्म ने एक मैगनेट लाइन कल्पित कर रखी है वह इन दो प्रकार के आकाशों को बनाने में सर्वथा ही असमर्थ है। अतः आपकी ये कार्माण वर्गणाएं अलोकाकाश में भी पहुँचेंगी और मुक्तों को भी बद्ध बनावेंगी क्योंकि आप यह मानते हैं कि जड़ कर्म ही अपना फल देते हैं।

(ख) छुल्लक जी कहते हैं कि कर्मरूपी क्रिया की दो प्रकार की प्रतिक्रिया होती हैं--स्वगत और परगत। पहली अपने आत्मा, सूक्ष्म व स्थूल शरीर पर प्रभाव डालती है और दूसरी दूसरों पर

अपना प्रभाव डालती है।

यहाँ पर क्षुल्लक जी ने योरुपीय विद्वानों के सहारे से क्रिया-प्रतिक्रिया की बात तो कह दी, परन्तु उन्हें इसका कुछ परिज्ञान नहीं मालूम पड़ता है। क्रिया-प्रतिक्रिया का ही नियम नहीं है—बल्कि समन्वित क्रिया का भी नियम है। यह समन्वित क्रिया जड़ कर्मों में किस प्रकार आवेगी। जब तक यह न आवे तब तक कर्मफल की व्यवस्था बन नहीं सकती है। अच्छा ! यह तो बताइये कि यह आपकी प्रतिक्रियाएं फल हैं वा कर्म ही हैं। यदि फल हैं तो क्या अन्य के किये कर्म का फल कभी अन्य को होता है। यदि हाँ तो फिर कर्मफल व्यवस्थित नहीं रहा—केवल अंधेर है। यदि नहीं तो फिर यह 'परगत' प्रतिक्रिया कैसे मानी जा सकती है। यदि ये फल नहीं हैं, केवल कर्मरूप हैं तो फिर इनका प्रभाव स्वयं पर वा दूसरे पर किस रूप में पड़ता है—यह तो बताइये। फिर आप अपने अलोकाकाश के मुक्तों को इनके प्रभाव से किस प्रकार बचा सकेंगे !

यदि यह कहें कि इन का प्रभाव संस्कार वा वासना के रूप में पड़ता है तो फिर यह परगत नहीं हो सकेगा। संस्कार वा वासना अपने ऊपर ही अपने कर्मों से पड़ते हैं अन्य पर नहीं। यह भी नियम है कि संस्कार कर्म का पड़ता है परन्तु वासना कर्मफल के विपाक के अनन्तर पड़ती है। फिर जैनधर्म की यह कर्म-प्रक्रिया क्या बनी ? यह भी बतावें कि क्या जैनधर्म सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करता है ? कहीं पहले के संस्कारों का तो यह प्रभाव नहीं ?

(ग) श्री क्षुल्लक जी हस्तरेखा और शरीर की रचना को कर्म-स्वातंत्र्य में बाधा मानते हैं। परन्तु इसका खण्डन ईश्वर प्रकरण में प्रथम खण्ड में किया जा चुका है। यदि यह हेतु कर्म करने में स्वीकार कर लिया जावे तो फिर किसी भी व्यक्ति का कभी भी सुधार हो नहीं सकता है। फिर तो अपराधी को पकड़ने में कठिनाई भी नहीं होनी चाहिए। उसके शरीर की रचना और हस्तरेखा को देखकर कातिल और चोर आदि पकड़े जा सकेंगे। साथ ही न्यायालय दण्ड

भी अपराध का उन्हें दे नहीं सकेगा क्योंकि बचाव यह होगा कि उनकी हस्तरेखा और उनके शरीर की रचना ही ऐसी है। क्या सभी को बिना अपराध किये, इन रेखाओं और शरीर-रचना के आधार पर पहले से ही दण्ड दिया जा सकता है ? छुल्लक जी यह भी तो बतावें कि कर्मों की समस्त किस्मों की रेखायें और अंग शरीर में हैं--इसकी गारण्टी क्या है ? कर्मों के अनेकों भेद-प्रभेद हैं। उनके प्रत्येक के लिए हस्तरेखा और शरीर में पृथक् अंग किस प्रकार हो सकते हैं। छुल्लक जी पहले कर्मों के भेदों की ही तालिका बना कर बता दें।

(घ) वैसे तो जीवों की अगणित प्रकार की क्रियायें होती हैं और तदनुसार कर्म भी अगणित तरह के बना करते हैं किन्तु उनके मोटे रूप से ८ भेद होते हैं--ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

छुल्लक जी ने जैनधर्म के सिद्धान्तानुसार जो ये कर्म के ८ भेद गिनाये हैं--ये भी खड़े नहीं हो सकते हैं। यह स्पष्ट नहीं कि ये वस्तुतः कर्म हैं अथवा अज्ञान के भेद हैं। क्योंकि कर्म दोनों ही प्रकार के होते हैं: अच्छे और बुरे। सभी ज्ञान का आवरण करें, दर्शन का आवरण करें--ऐसा किस प्रकार हो सकता है। ज्ञानावरण कर्म ज्ञान गुण को छिपाता है और दर्शनावरण आत्मा के दर्शन गुणों को प्रकट नहीं होने देता है। इस प्रकार ये जितने भेद गिनाए गए हैं लगभग सभी कर्म की पूरी परिभाषा से रिक्त हैं।

श्री छुल्लक जी कहते हैं कि "कार्माण स्कन्ध आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर के रूप में मिल जाते हैं तब कुछ समय बीत जाने पर अपने स्वभाव के अनुसार अच्छा-बुरा फल देना शुरू करते हैं"। छुल्लकजी का यह कथन सर्वथा ही व्यर्थ है। मरने के उपरान्त जाति, आयु और भोग रूपी फलों को ये कर्म किस प्रकार देंगे। जाति अर्थात् विभिन्न योनियाँ ये कर्म कैसे बनावेंगे ? कर्म फल देने पर समाप्त हो जाते हैं तो वासना फिर कहाँ से आती है ? प्रश्न यह उठता है कि

एक कर्म का एक फल होता है अथवा एक कर्म का अनेक फल होता है अथवा अनेक कर्म एक फल उत्पन्न करते हैं ? इस व्यवस्था को ये कार्माण स्कन्ध किस प्रकार सुलझा सकेंगे ?

कर्म दृष्ट[1]जन्मवेदनीय होते हैं, अदृष्टजन्म-वेदनीय होते हैं और दृष्टादृष्ट-जन्म-वेदनीय भी होते हैं। इस व्यवस्था को जड़ कर्म स्वयं किस प्रकार स्थापित कर सकेंगे ? अपनी पुस्तक 'ईश्वर मीमांसा' के पृष्ठ ६९० पर ईश्वर के कर्मफल के दाता होने में आपत्ति दिखाने के लिए जो कुछ लिखा है वह सारा जड़ कर्मों के स्वयं फलदाता होने पर भी तो घट जावेगा। फिर जड़ कर्म किस प्रकार और कैसे फल दे सकते हैं। अतः यही कहना पड़ेगा कि छुल्लक जी की बातों में कोई सार नहीं है। इस प्रकार इस प्रसंग को यहाँ पर समाप्त किया जाता है।

अल्पज्ञ कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का कथन है कि अल्पज्ञान पुरुष सर्वज्ञाता हो सकता है। इससे वे जैनधर्म के इस सिद्धान्त की पुष्टि करना चाहते हैं कि मनुष्य ही ईश्वर बन सकता है। ईश्वर इसके अतिरिक्त नहीं है। उन्होंने जो तर्क दिए हैं उनको क्रमशः यहाँ संक्षेप में देकर पुनः उसी क्रम से उस पर विचार किया जाता है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने इस विषय का शीर्षक 'अल्पज्ञाता पुरुष सर्वज्ञाता हो सकता है' दिया है।

(१) जड़ पदार्थ वे हैं जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख आदि नहीं पाये जाते हैं और चेतन पदार्थ वे हैं जिनमें कि ज्ञान आदि पाये जाते हैं। जीव का यह स्वभाव संसारी दशा में कर्मों से आच्छादित रहने के कारण पूरे तौर से प्रकट नहीं हो पाता है; परन्तु जिस समय कर्म

१. कर्म का विशेष विवेचन मेरी पुस्तक 'कर्ममीमांसा' में देखें।

आत्मा से बिल्कुल अलग हो जाते हैं उस समय ज्ञान पूरे तौर से प्रकट हो जाता है। उस समय जीव सर्वज्ञ हो जाता है। कर्मबन्धनों से मुक्त जीव समस्त लोक और तीनों कालों की बातों को जानने वाले हो जाते हैं।

(२) जीव में ज्ञान गुण विद्यमान है क्योंकि वह अन्य पदार्थों को तथा अपने को जानता है। जीव से उसका जानना रूप स्वभाव अलग नहीं हो सकता है। ज्ञानरोधक कर्मबीज वृक्ष सरीखी सन्तान की अपेक्षा अनादि काल से चला आया है परन्तु यह संयोग से है अतः मौका पाकर राग-द्वेष आदि कारणों के न रहने पर टूट जाता है।

(३) इस प्रकार जीव का परिमित ज्ञान भी कर्म हट जाने पर अपरिमित हो जाता है जिससे जीव सर्वज्ञ हो जाता है। ईश्वर या परमात्मा एक शुद्ध आत्मा का नाम है, यह पद किसी खास एक के लिए रजिस्टर्ड नहीं। क्या जीव के ज्ञान की भी सीमा है? ईश्वर न तो सर्वव्यापक है और न ऐसा नियम ही है कि सर्वज्ञाता सर्वव्यापक अवश्य होवे। कौन ऐसा प्रबल कारण है जो जीवात्मा को परमात्मा बनने से रोके?

(४) **स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता**—वह (प्रधान) सब करने वाला हो जाता है; **परिणामत्रयसंयमात् अतीतानागतज्ञानम्**—तीन परिणामों का संयम हो जाने से भूत भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है। **सत्व-पुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च**; 'परमेश्वर के गुण कर्मस्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं', सत्यार्थप्रकाश ७वां समुल्लास; मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण-ज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। सत्यार्थप्रकाश नवां समुल्लास।

समाधान

यहां पर विचारणीय बात यह उठती है कि संसारी दशा में आने से पूर्व जीव सर्वज्ञ रहता है वा अल्पज्ञ। यदि अल्पज्ञ रहता है तो

फिर वह किसी भी अवस्था में सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता है। यदि जीव संसारी अवस्था से पूर्व सर्वज्ञ रहता है तो फिर वह अल्पज्ञ नहीं हो सकता है। सर्वज्ञ कभी भी अल्पज्ञ नहीं हो सकता। यदि कर्म के कारण सर्वज्ञ संसारी अवस्था में असर्वज्ञ हो जाता है तो यह बताना पड़ेगा कि कर्म जीव में संसार से पूर्व आए कहाँ से ? क्योंकि संसार बनने से पूर्व तो कार्माण वर्गणावों को जीव खींचकर अपने कर्म में ले ही नहीं सकता है। ज्ञान, दर्शन, सुख आदि जिनको आप लोग जीव का स्वभाव मानते हैं वह सर्वज्ञता की स्थिति में है वा अल्पज्ञता की स्थिति में ? यदि सर्वज्ञता की स्थिति में है, तो जीव कभी असर्वज्ञ हो ही नहीं सकता। फिर संसारी अवस्था में वह स्वभाव कहां और कैसे चला गया ? सर्वज्ञ के ज्ञान को कभी कोई वस्तु आच्छादित नहीं कर सकती है। यदि ये ज्ञान, दर्शन आदि अल्पज्ञता की स्थिति में जीव के स्वभाव हैं तो फिर जीव कभी भी सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता है। अतः यह कहना व्यर्थ है कि कर्मों के आत्मा से अलग हो जाने पर वह सर्वज्ञ हो जाता है।

कर्म-बन्धनों से मुक्त जीव समस्त लोक और तीनों कालों की बातों को जानने वाले हो जाते हैं--यह सर्वज्ञता का साधक नहीं है। क्योंकि यह स्थायी धर्म नहीं। प्रश्न यह उठता है कि ऐसी सर्वज्ञता सनिमित्तक है अथवा निर्निमत्तक वा स्वाभाविक है। यदि सनिमित्तक है तो निमित्त के अभाव में वह भी समाप्त हो जावेगी और जीव सर्वज्ञ नहीं रह सकता। यदि निर्निमित्तक एवं स्वभाविक है तो फिर संसारी अवस्था में जीव सर्वज्ञ क्यों नहीं रहा और बंधन में आया ही क्यों और क्योंकर ?

प्रश्न यह भी उठता है कि इन जीवनमुक्त सर्वज्ञों के ज्ञान को काल घेरता है वा नहीं। यदि काल का कटाव इन के ज्ञान में है जैसा कि त्रिकालज्ञता शब्द से व्यक्त किया जा रहा है तो फिर वह सर्वज्ञता अनादि और नित्य नहीं। ऐसी सर्वज्ञता का फिर ईश्वर की सर्वज्ञता से कोई मेल नहीं। ईश्वर की सर्वज्ञता को काल नहीं घेरता

है। वह सदा ही सर्वज्ञ है। समस्त लोकों की बात का जानना भी सिद्ध नहीं होता। जैनधर्म के माने सर्वज्ञों को न तो तीनों कालों की बातों का परिज्ञान था और न लोकों का ही उन्हें ज्ञान था। उनके इस ज्ञान के कुछ उदाहरण यहां पर दिये जाते हैं जिनसे सत्यार्थदर्पण के लेखक की प्रतिज्ञा अपने-आप खण्डित हो जावेगी।

(क) जैनशास्त्रों में शाश्वत वस्तुओं को मापने के लिए प्रमाणाङ्गुल के हिसाब से एक योजन को वर्तमान माप से २००० कोस का बतलाया गया है। कइयों ने ४००० कोस का माना है, मगर हम २००० कोस का ही एक योजन मान लेते हैं। एक कोस की दो माइल होती है। हम जिस पृथिवी-पिण्ड पर बसे हुए हैं वह एक गेंद की तरह गोल पिण्ड है जिसका व्यास करीब ७९२७ माइल और परिधि करीब २४८५६ माइल की है। इसका वर्गमील करें तो करीब १९७०००००० माइल होते हैं। जिसमें ५२०००००० माइल स्थल भाग और १४५०००००० माइल जल भाग है। जैन शास्त्रों में पृथ्वी को गोल न मानकर चपटी (समतल) माना गया है। जम्बूदीप (जिसका विस्तृत वर्णन जम्बूदीप-प्रज्ञप्ति में है) की लम्बाई एक लक्ष योजन और चौड़ाई एक लक्ष योजन बतलाई है यानी वह ४० कोटि माइल की लम्बाई और ४० कोटि माइल की चौड़ाई का एक समतल भूभाग है जिसके वर्गमील करें तो १६००००००००००००००००० (एक शंख साठ पद्म) माइल होती है। (पृष्ठ ५)

यहां पर जैन शास्त्र कथित और वर्तमान दोनों के वर्गमाइल पर दृष्टि डाली जावे तो बहुत बड़ा अन्तर होता है। कहां १९ कोटि ७० लक्ष माइल वर्तमान के और कहाँ १ शंख ६० पद्म माइल जैनों के।

(ख) जैन शास्त्रों में बताया है कि सूर्य मकर संक्रान्ति में ५३०५$\frac{१}{६१}$ योजन की गति एक मुहूर्त्त में करता है यानी करीब २१२२००६६ माइल की। एक मुहूर्त्त ४८ मिनट का माना गया है। इस हिसाब से १ मिनट में सूर्य की गति ४४२०८४$\frac{३}{४}$ माइल करीब की

होती है जब कि वर्तमान हिसाब से रफ्तार एक मिनट में करीब $१७^{२}$ माइल की प्रमाणित होती है। (पृ० ६)

यह विचार करने की बात है कि एक मिनट में कहाँ १७ माइल की गति और कहां ४४२०४८ माइल की।

(ग) जैनशास्त्र (भगवती सूत्र) में लिखा है कि कर्क संक्रान्ति में सूर्य उदय होते वक्त ४७२६३$\frac{२१}{६०}$ योजन की दूरी से दृष्टिगोचर होता। यानी करीब १८६०५३३७७ माइल की दूरी से। मगर हम देख यह रहे हैं कि १०० माइल की दूरी पर जो सूर्य उदय हो गया है, वह यहाँ करीब ६ मिनट बाद हमें दिखाई पड़ेगा। यहाँ पर इस बात को न भूलें कि जैन शास्त्रों में पृथ्वी को चपटी (समतल) माना गया है। विचारना यह है कि १८६०५३३७७ माइल की दूरी से दृष्टिगोचर होने वाला सूर्य फिर सौ-दो-सौ माइल की दूरी पर ही छिप कहां जाता है? (पृ० ७)

(घ) सूर्यज्ञप्ति के आठवें प्राभृत में लिखा है कि भरत क्षेत्र का सूर्य अस्त होकर महाविदेह क्षेत्र में उदय होता है। जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्र भ्रमण करते हुए माने गए हैं। जो सूर्य भरत क्षेत्र में आज अस्त होकर महाविदेह जाकर उदय हुआ है, वह सूर्य वापस तीसरे दिन भरत क्षेत्र में आकर उदय होगा। दोनों सूर्यों के उदय होने का क्रम एक दिन अन्तर से बताया गया है। परन्तु हम इस पृथिवी के बाशिन्दे केवल एक ही सूर्य देख रहे हैं। (पृष्ठ १७)

यह एक साधारण समझ की बात है कि वर्तमान में उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुवों की तरफ तीन-तीन महीनों तक लगातार एक ही सूर्य दिखाई पड़ता है। ध्रुवों पर ६ मास के दिन और ६ मास की रात्रि होती है। फिर भी दो सूर्य का वर्णन करना कितनी अनर्गल बात है।

१४ द्वीप और समुद्रों का कुल २५४०००० योजन क्षेत्र जैन शास्त्रों द्वारा माना गया है जिसके २०३२०००० मील होते हैं। इन प्रकाश पहुँचाने वाले सूर्यों की संख्या जैनशास्त्रों में, आबादी का

जहाँ तक सम्बन्ध है, १३२ मानी गई है। (पृ० २०)

(ङ) जैन शास्त्रों में कुछ ग्रहों की समभूमि से ऊँचाई के बाबत जो विशेष वर्णन आता है वह इस प्रकार है :—

बुध	समभूमि से	८८८	योजन	यानी	३५५२०००
शुक्र	,, ,,	८९१	,,	,,	३५६४०००
बृहस्पति	,, ,,	८९४	,,	,,	३५७६०००
मंगल	,, ,,	८९७	,,	,,	३५८८०००
शनि	,, ,,	९००	,,	,,	३६०००००

राहु को चन्द्रमा के विमान से चार अंगुल नीचा यानी ८८० योजन (३५२०००० मील) से चार अंगुल नीचा बतलाया है। यह हुआ जैनशास्त्रों में ग्रहों के विषय का कुछ वर्णन। (पृ० ६३)

अब वर्तमान विज्ञान क्या कह रहा है वह देखें——

सूर्य के चौगिर्द घूमने वाले ग्रहों का अब तक जो पता लगा है उसमें से कुछ इस प्रकार है। सूर्य के सब से निकट घूमने वाला बुध है। इसके पश्चात् एक के पश्चात् दूसरे के क्रम से शुक्र, हमारी पृथ्वी, मंगल, अनेक छोटे-छोटे अवान्तर ग्रह, बृहस्पति, शनि, यूरेनस (प्रजापति), नेपच्यून (वरुण), प्लूटो (कुबेर) हैं। इन सब ग्रहों को अपनी-अपनी कक्षा में सूर्य के चौगिर्द घूमने में कितने-कितने दिन लगते हैं वह इस प्रकार है। बुध को ८८, शुक्र को २२५ दिन, पृथ्वी को ३६५$\frac{१}{४}$ दिन, मंगल को ६८७ दिन, बृहस्पति को ४३३२ दिन, शनि को १०७५९ दिन, यूरेनस को ३०६८७ दिन, नेपच्यून को ६०१२७ दिन, प्लूटो को ८९६४० दिन। हमारी पृथ्वी से सूर्य, चन्द्र और ग्रह कितने मील की दूरी पर हैं वह इस प्रकार है।

चन्द्रमा २२१६१० मील, शुक्र २३७०१००० मील, मंगल ३३९१६००० मील, बुध ४८०२०००० मील, सूर्य ८२९६५००० मील, यूरेनस १६०६१८३००० मील, नेपच्यून २६७४३७५००० मील। (पृष्ठ ६४)

इन दोनों ऊपर की तालिकाओं का मिलान करने पर अन्तर

स्वयं ही प्रकट हो जाता है ।

(च) 'चन्द्रमा के विषय में जैनशास्त्रों की जो बातें ऊपर कही गई हैं, वे सब एक ही चन्द्रदेव के बाबत की हैं । पहले बताया जा चुका है कि हमारे जम्बूद्वीप में दो चन्द्र हैं और अढ़ाई द्वीप तक, जहाँ तक कि मनुष्यों की आबादी का सम्बन्ध है, १३२ चन्द्र हैं । इसके बाद असंख्यात द्वीप समुद्रों के असंख्य ही चन्द्र हैं और सब के सब स्थिर हैं यानी परिभ्रमण नहीं करते ।

नीचे लिखी तालिका से यह पता लगेगा कि अढ़ाई द्वीप तक भ्रमण करने वाले कितने चंद्रमा हैं और कितना उनका परिवार है । एक चन्द्रमा के परिवार में २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोड़ाकोड़ (यानी ६६९७५ कोड़ को ६६९७५ कोड़ से गुणा करने से जो संख्या प्राप्त हो) तारे हैं ।

द्वीप समुद्रों के नाम	चन्द्र	नक्षत्र	ग्रह	कोडाकोड़ तारे
जम्बूद्वीप	२	५६	१७६	१३३९५०
लवण समुद्र	४	११२	३५२	२६७९००
धातकी खण्डद्वीप	१२	३३६	१०५६	८०३७००
कालोदधि समुद्र	४२	११७६	३६९६	२८१२९५०
पुष्करार्धद्वीप	७२	२०१६	६३३६	४८२२२००
जोड़	१३२	३६९६	११६१६	८८४०७००

जैन शास्त्रों में प्रत्येक चन्द्र और सूर्य को ज्योतिषी देवों का इन्द्र (राजा) बतलाया गया है और प्रत्येक चन्द्र और सूर्य नामक इन्द्र के २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोड़ाकोड़ (४४९१५० ६२५००००००००००००००) तारों का परिवार है। जम्बूद्वीप जिसको एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा गोलाकार समतल भूभाग बतलाया है, उसमें दो चन्द्र और दो सूर्य मय अपने उपर्युक्त परिवार के भ्रमण कर रहे हैं। इन सब के विमानों का क्षेत्रमान जम्बूद्वीप के लक्ष योजन के क्षेत्रमान से बहुत अधिक होता है अतः इसमें यह कैसे

समा सकते हैं--इसके लिए एक जैनग्रंथकार ने शंका उत्पन्न की और फिर वहीं पर चित्त को सन्तोष देने के लिए समाधान यह किया है कि **'तत्वं केवलीगम्यम्'** यानी सर्वज्ञ ही जाने। (पृष्ठ ५२-५३)

(छ) ग्रहणों की बाबत जैन शास्त्रों में लिखा है कि यदि चन्द्र-ग्रहण के पश्चात् दूसरा चन्द्रग्रहण हो तो जघन्य (कम से कम) ६ मास और उत्कृष्ट (ज़्यादा से ज्यादा) ४२ मास के अन्तरकाल से होगा और सूर्यग्रहण के पश्चात् सूर्यग्रहण हो तो जघन्य ६ मास और उत्कृष्ट ४८ वर्ष के अन्तरकाल से होगा। इस प्रकार चन्द्र और राहु के बाबत की तथा ग्रहणों की जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल की कल्पना को देखकर ऐसी कल्पना करने वाले सर्वज्ञों की सर्वज्ञता पर तरस और आश्चर्य उत्पन्न होता है। ग्रहणों के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल की कल्पना किस आधार पर की है, यह तो करने वाले ही जानें; परन्तु यह कल्पना सम्पूर्णतया निराधार और असत्य साबित हो रही है। सर्वज्ञों ने कहा है कि सूर्यग्रहण के पश्चात् दूसरा सूर्यग्रहण कम से कम ६ मास पहिले नहीं होता; मगर इस कथन के विरुद्ध दो वाक़ये तो मैं पेश करता हूं, जो इस प्रकार हैं। विक्रमाब्द १९५९ की कार्त्तिक बदी अमावस्या को पहिला सूर्यग्रहण होकर पांच ही महीने बाद चैत बदी अमावस्या को फिर दूसरा सूर्य-ग्रहण हुआ जिस का लोगों ने अच्छी तरह अवलोकन किया है और ईस्वी सन् १९३१ का नाविक पंचाङ्ग भी (The Nautical Almanac) जो लन्दन (London) से प्रकाशित होता है मेरे पास पड़ा है। उसमें तीन सूर्यग्रहण और दो चन्द्रग्रहण हुए हैं, जो इस प्रकार हैं:--

पहिला सूर्यग्रहण--तारीख १८ अप्रैल १९३१
दूसरा सूर्यग्रहण--तारीख १२ सेप्टेम्बर १९३१
तीसरा सूर्यग्रहण--तारीख ११ अक्टूबर १९३१
पहिला चन्द्रग्रहण--तारीख २ अप्रैल १९३१
दूसरा चन्द्रग्रहण--तारीख २६ सेप्टेम्बर १९३१

जैनशास्त्रों के ग्रहणों के कम से कम ६ मास के अन्तरकाल बताने

के खिलाफ बहुत ग्रहण हो चुके और होते रहेंगे। (पृ० ४१,४२)

× × ×

अन्वेषणों से यह साबित हुआ है कि एक वर्ष में ५ सूर्यग्रहण और दो चन्द्रग्रहण हो सकते हैं और प्रत्येक १८ वर्ष २२८ दिन ६ घण्टे के पश्चात् सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण फिर पहिले के क्रम से होने लगते हैं। सर्वज्ञों ने कहा है कि सूर्यग्रहण का उत्कृष्ट यानी ज़्यादा से ज़्यादा अन्तरकाल पड़े तो ४८ वर्ष का पड़ सकता है। वर्तमान विज्ञान के कथनानुसार प्रत्येक १८ वर्ष २२८ दिन ६ घण्टे पश्चात् सूर्य और चन्द्र ग्रहण फिर पहिले के क्रम से होने लगते हैं तो इन सर्वज्ञों का सूर्यग्रहण के उत्कृष्ट अन्तरकाल का ४८ वर्ष बतलाना सर्वथा असत्य साबित होता है। (पृष्ठ ४३)

(ज) जैनशास्त्र नन्दीसूत्र में सत्य शास्त्रों की नामावली सुन लेने के पश्चात् श्री गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि हे भगवन्! मिथ्या शास्त्र कौन-कौन-से हैं तो श्री भगवान ने फरमाया कि हे गौतम! मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, स्वच्छन्द बुद्धि वाले मिथ्या पुरुषों द्वारा रचे मिथ्या शास्त्र यह हैं--चार वेद छः अङ्ग (शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, छन्द, व्याकरण) सहित; पुराण, भागवत, रामायण, महाभारत, वैशेषिकादि दर्शन, पातञ्जल (योग-दर्शन), कौटिल्य (अर्थशास्त्र), बुद्धवचन, व्याकरण, गणित आदि। इस प्रकार मिथ्या शास्त्रों के अनेक नाम बतलाये हैं। इस प्रकार अनु-योगद्वार-सूत्र, समवायांग-सूत्र में दूसरे के शास्त्रों को मिथ्याशास्त्र बतलाये हैं। विचारना यह है कि अन्यों के शास्त्रों को मिथ्या बताते हुए तो उनकी व्याकरण और गणित (जिनका मिथ्या और सत्य क्या बतलाना, यह तो भाषा और गणना के केवल नियम बतलाने वाले ग्रन्थ हैं) तक को मिथ्या बताने में सर्वज्ञों ने संकोच नहीं किया और अपनी खुद की साधारण गणित करने में--सही-सही बताने में भी अनेक स्थानों में असमर्थ रह गए। इन स्थानों में गणित की गलतियां देखने में आ रही हैं। प्रत्येक जगह जहां जैन शास्त्रों में किसी वस्तु

का आकार गोल बताकर उसका व्यास बताया है और फिर उस के व्यास की परिधि बताई है, वे सब की सब परिधियाँ असत्य और गलत हैं। उदाहरण के तौर पर जम्बूद्वीप को गोल बताकर उसका व्यास १००००० योजन और परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोस १२८ धनुष्य १३$\frac{१}{२}$ अंगुल १ यव, १ युक १ लिख ६ वालाग्र (बाल का अग्रभाग) पांच व्यवहारिये प्रमाणु की बताई है जो सर्वथा असत्य और गलत है। छोटी-छोटी कक्षा के विद्यार्थी भी जानते हैं कि १००००० योजन के व्यास के गोल चक्कर की परिधि ३१४१५९$\frac{५३}{२००}$ योजन होगी। स्थूल हिसाब से एक गोलाई के व्यास की परिधि $\frac{२२}{७}$ या ३$\frac{१}{७}$ गुना होती है और भारतीय उच्च गणित ग्रन्थ लीलावती के अनुसार सूक्ष्मपरिधि ३.१४१६० और वर्तमान सूक्ष्म गणित (जहां तक कि मैंने देखा है) के अनुसार ३·१४१५९२६५ गुना होती है। यही गुर विज्ञान और इंजिनियरिंग में काम में लाया जाता है और इतना सही है कि परीक्षा में सम्पूर्ण सत्य उतरता है।...... जम्बूद्वीप की परिधि बताने में सूक्ष्म अन्तर को तो दरकिनार रखिये, यहां तो २०६८ योजन यानी ८२७२००० माइल का बहुत बड़ा अन्तर पड़ रहा है। (पृष्ठ ८६-८७)

सूर्य-प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम-- इन चार सूत्र ग्रन्थों में प्रायः सैकड़ों जगह गोलाई के व्यास बताकर उनकी परिधियां बताई हैं जो सब की सब असत्य और गलत हैं। इनमें से करीब ५६० परिधियों की मैंने गणित करके जांच की तो सबकी सब असत्य उतरीं। (पृष्ठ ९०)

जैनशास्त्रों में व्यास की परिधि निकालने के लिए जो गुर (Formula) बताया गया है वह इस प्रकार है कि जिस व्यास की परिधि निकालनी हो उसका वर्ग करके दस गुना करो और फिर उसका वर्गमूल निकाल लो, वही परिधि होगी। यह गुर किस गुरु से प्राप्त किया यह तो सर्वज्ञ ही जाने, बाकी Practically परीक्षा करने पर यह गुर सर्वथा असत्य प्रमाणित होता है। (पृष्ठ ९१-९२)

ये उपर्युक्त 'क' से 'ज' पर्यन्त उद्धरण श्री बच्छराज सिंधी की पुस्तक 'जैनशास्त्रों की असंगत बातें' के प्रथम संस्करण १६४५ ईस्वी से दिये गए हैं। इनसे सुतराम् स्पष्ट है कि जैनधर्म के सर्वज्ञों की सर्वज्ञता की क्या स्थिति है। क्या सब लोकों और तीनों कालों की बातों को जानने वाले सर्वज्ञों के ज्ञान की यही स्थिति है। क्या इसी सर्वज्ञता का वर्णन सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता कर रहे हैं? यदि यही सर्वज्ञता है तो फिर अज्ञता की कोई और परिभाषा ढूंढ़नी पड़ेगी। इसलिए मनुष्य सर्वज्ञ कभी भी नहीं हो सकता है। ईश्वर ही सर्वज्ञ है।

(२) जीव से जानना रूप स्वभाव अलग नहीं हो सकता है और वह ज्ञान गुण वाला है--इससे यह किस प्रकार सिद्ध हो गया कि वह सर्वज्ञ हो सकता है। यदि इस स्वभाव का यही स्वरूप था तो फिर संसारी अवस्था में वह क्यों आया और क्यों सर्वज्ञ नहीं? जानना जीव में रहते हुए भी प्रश्न तो यह ही उठता है कि वह सर्वज्ञता के स्वभाव वाला है वा नहीं। यदि सर्वज्ञता के स्वभाव वाला है तो फिर संसारी अवस्था में सर्वज्ञ क्यों नहीं? यदि सर्वज्ञता के स्वभाव वाला नहीं है तो फिर सर्वज्ञ किसी भी प्रकार हो नहीं सकता है। ज्ञानरोधक कर्मबीज चूंकि संयोग से है अतः मौका पाकर टूट जाता है तो जिसको आप सर्वज्ञता कह रहे हैं वह भी तो संयोग से होगी। फिर वह भी तो मौका पाकर टूट जावेगी। अतः जिसके सम्बन्ध से यह सर्वज्ञता जीव में आई वह निमित्त ही सर्वज्ञ ठहरा। सर्वज्ञ वही हो सकता है जिसका अपना स्वाभाविक धर्म सर्वज्ञता हो।

(३) जो ज्ञान परिमित है यह अपरिमित किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। प्रश्न यह उठेगा कि जीव का ज्ञान स्वभाव से परिमित है वा अपरिमित है। यदि परिमित है तो वह कितना भी बढ़े फिर भी अपरिमित नहीं हो सकता है। यदि स्वभाव से जीव का ज्ञान अपरिमित है तो वह किसी भी अवस्था में परिमित नहीं हो सकता है। परन्तु सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता स्वयं स्वीकार कर रहे हैं कि जीव

का ज्ञान परिमित है।

ईश्वर वा परमात्मा उस शुद्ध आत्मा का नाम है जो स्वभाव से शुद्ध, स्वभाव से सर्वज्ञ, स्वभाव से जन्म और मरण में न आने वाला, तथा जिसके साथ कभी न बन्धन का सम्बन्ध हुआ, और न है, न होगा। वह सदा ही सर्वज्ञ, सदा ही ईश्वर और सदा ही शुद्ध है। साथ ही वह बन्धन में आकर मुक्त नहीं है बल्कि सदा से मुक्त और आनन्दस्वरूप है। इस पद को कभी कोई जीव प्राप्त नहीं कर सकता है।

आपके ज्ञान की बड़ी भारी विचित्रता है कि आप यह पूछते हैं--कि क्या जीव के ज्ञान की सीमा है? जब आप स्वयं ऊपर की पंक्तियों में जीव के ज्ञान को परिमित स्वीकार कर रहे हैं तो क्या उसकी सीमा नहीं हुई? जो ज्ञान परिमित है उसका सीमा वाला होना स्वयं ही सिद्ध है। आप के वचनों में परस्पर विरोध है। यह ही सिद्ध कर रहा है कि जीव अल्पज्ञ है और सीमित ज्ञान वाला है।

ईश्वर सर्वव्यापक है--यह प्रथम प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है। और नियम भी यही है कि सर्वज्ञ अवश्य ही सर्वव्यापक होता है। आपके माने सर्वज्ञ सर्वव्यापक नहीं तभी तो जैसा पूर्व दिखाया गया है अनेक अनर्गल बातें लिख गए हैं। सर्वज्ञ का सर्व-व्यापक और सर्वान्तरयामी होना आवश्यक है। एकदेशीय कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

आप ही बतावें कि कौन-सा ऐसा प्रबल कारण है जो जीव को परमात्मा बना देवे। जिस प्रबल कारण ने अब आपके जीव को परमात्मा नहीं बनने दिया है वही प्रबल कारण है जो जीवात्मा को परमात्मा नहीं बनने देता है। आप यह भी तो बतावें कि कौन-सा ऐसा प्रबल कारण है जो जीवात्मा को परमात्मा नहीं बनने देता है। जो कारण ऐसा नहीं होने देता है वही जीवात्मा को परमात्मा भी नहीं बनने देता है। परमात्मा स्वयं जीवात्मा बनता है—यह सिद्धान्त जैनधर्म को मान्य है वा नहीं। यदि मान्य है तो

फिर जैनधर्म के सिद्धान्त की सारी आधारशिला ही समाप्त हो जाती है। यदि नहीं मान्य है तो जिस प्रकार परमात्मा जीवात्मा नहीं बन सकता है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा भी नहीं हो सकता है। अतः न परमात्मा जीवात्मा बन सकता है और न जीवात्मा परमात्मा बन सकता है--दोनों पृथक्-पृथक् हैं। जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है। यही सिद्धान्त मानना ठीक है।

यदि प्रत्येक जीव सर्वज्ञ बन सकता है तो फिर सभी सर्वज्ञों की सर्वज्ञता में साम्य और अतिशय की कल्पना भी करनी पड़ेगी। यही बात ऐश्वर्य के सम्बन्ध में भी है। कई सर्वज्ञों में समानता है वा एक-दूसरे से अधिकता भी है? यदि ऐसा है तो कारण भी इसका बताना पड़ेगा। जिस सर्वज्ञता के समान किसी दूसरे को सर्वज्ञता प्राप्त हो और जिस सर्वज्ञता से अधिक सर्वज्ञता दूसरे की हो वह ईश्वर की सर्वज्ञता नहीं है। ईश्वर की सर्वज्ञता ऐसी है कि न जिसके समान किसी की सर्वज्ञता हो सकती है, और जिससे अधिक ही किसी की सर्वज्ञता हो सकती है। उसकी सर्वज्ञता और ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से रहित है। ईश्वर में सर्वज्ञता का निरतिशय बीज है।

(४) सांख्य में प्रधान नाम प्रकृति का है और वह जड़ है अतः वह सर्ववित् और सर्वकर्त्ता नहीं हो सकती है। इस सूत्र में ईश्वर का प्रकरण है। इसका अर्थ है कि वह ईश्वर ही सर्ववित् और सर्वकर्त्ता है--अन्य नहीं। जिसको यही नहीं मालूम कि यहां प्रकरण किसका है--प्रधान का वा ईश्वर का, जड़प्रधान कभी भी सर्ववित् हो सकता है क्या? ऐसा व्यक्ति भी सर्वज्ञ होने की उम्मीदवारी में हो कितने आश्चर्य की बात है।

परिणामत्रयसंयमात् अतीतानागतज्ञानम्--यह योग दर्शन का सूत्र है। इसमें योगी को प्राप्त होने वाली विभूति का वर्णन है। इसका अर्थ यह है कि जब योगी धर्मपरिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणामों में संयम करता है तो उस अवस्था में उसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान होता है। इससे यह स्पष्ट है कि संयम की अवस्था

में यह ज्ञान होता है--सर्वदा यह नहीं रहता है। साथ ही योगी के ज्ञान में तो भूत, भविष्यत् का व्यवहार बना ही है। परमात्मा के ज्ञान में भूत-भविष्यत् का व्यवहार होता ही नहीं। इसलिए योगदर्शन में स्वयं उसे 'कालेनानवच्छेदात्'--काल के कटाव से रहित कहा गया है। ईश्वर वह है जिसका कोई भी ज्ञान न भूत होता है और न भविष्यत् होता है। जीव का ज्ञान भूत भी होता है और भविष्यत् भी अतः दोनों में महत्तम भेद स्पष्ट ही है।

सत्व पुरुषान्यताख्याति से प्राप्त होने वाला सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व भी सीमित है। इसीलिए भाष्यकार व्यास को कहना पड़ा कि सर्वभावाधिष्ठातृत्व प्राप्त होने पर भी योगी भूतों के धर्मों को परिवर्त्तित नहीं करसकता है क्योंकि यह कार्य परमात्मा के नियम पर आधारित है। जीव की शक्ति के यह सर्वथा ही बाहर है। सर्वज्ञातृत्व का अर्थ सर्वज्ञता नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना है कि जीव को बद्धावस्था में इन्द्रियों के करणत्व के कारण एक समय में एक ही विषय का ज्ञान होता है। एक समय में कई इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नहीं होता है। योग की इस विशेष परिस्थिति में सर्वेन्द्रियों के विषयों का ज्ञान उसे हो सकता है। यही यहाँ पर सर्वज्ञातृत्व का अर्थ है। इस सर्वज्ञातृत्व का अर्थ सर्वज्ञता नहीं है।

यदि इसे सर्वज्ञता भी मान लिया जावे तब भी जीव ईश्वर के समान सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। क्योंकि इसमें साम्य और अतिशय की स्थिति है। परमात्मा की सर्वज्ञता में ऐसा नहीं है। यह सर्वज्ञता सनिमित्तक है, जब कि ईश्वर की सर्वज्ञता स्वाभाविक है। यह सर्वज्ञता सीमित है क्योंकि एकदेशीय की है और ईश्वर की सर्वज्ञता असीम है क्योंकि सर्वव्यापक और सर्वान्तरयामी की है।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने स्वामी जी महाराज का जो वाक्य दिया है वह आधा है। पूर्ण वाक्य इस प्रकार है—

"इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से

सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। स्थूलाक्षर सत्यार्थ-प्रकाश सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १६१

यहां पर देखने की बात यह है कि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने 'जैसे' वाले वाक्य भाग को सर्वथा छोड़ ही दिया है। अग्नि के पास जाने से शीत तो निवृत्त होता है परन्तु पास जाने वाला स्वयं अग्नि नहीं बन जाता है। इसी प्रकार जीव के गुण, कर्म, स्वभाव में पर-मात्मा के सम्पर्क से पवित्रता तो आ जाती है परन्तु वह परमात्मा ही नहीं बन जाता है। यहां पर सदृशता का वर्णन है, 'तदेवता' का नहीं। साथ ही यह पवित्रता नैमित्तिक है--स्वाभाविक नहीं। सत्यार्थप्रकाश के नवें समुल्लास के जिस दूसरे वाक्य का उद्धरण दिया गया है उससे भी सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का पक्ष सिद्ध नहीं होता है। वाक्य निम्न प्रकार है :--

"जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्णज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है।"

यहां पर इस वाक्य में भी जीवात्मा की सर्वज्ञता नहीं सिद्ध होती। यहां पर 'सन्निहित' पद पड़ा है। जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि उसको उन पदार्थों का ही यथावत् ज्ञान होता है जो सन्निहित अर्थात् उसके सम्पर्क में आते हैं क्योंकि वह एकदेशीय है। अतः वह उन्हीं को जानता हुआ पूर्णज्ञानी है न कि समस्त पदार्थों को जानता हुआ सर्वज्ञ है। पूर्णज्ञानी होने पर भी तो यहां सन्निहित पद देकर उसके ज्ञान की सीमा बांध दी गई हैं। अतः जीवात्मा की इससे किसी भी प्रकार सर्वज्ञता नहीं सिद्ध होती। यहां पर स्पष्टीकरण के लिए महर्षि का एक वाक्य उद्धृत किया जाता है :--

"जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण कर्म स्वभाव वाला रहता है, परमेश्वर के सदृश कभी नहीं हो सकता।" सत्यार्थप्रकाश, ६ समुल्लास, पृष्ठ २०६

यहां यह स्पष्टीकरण हुआ कि जीव मुक्त होने से पूर्व बद्ध था अतः जीव नित्यमुक्त कभी नहीं हो सकता। इसलिए वह परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता।

पाठक इससे सारासारता का निर्णय स्वयं कर सकते हैं।

मुक्ति-विचार

(मुक्ति से जीव लौटता है)

इस शीर्षक के अन्तर्गत सत्यार्थदर्पण के लेखक के उन आक्षेपों का समाधान किया जाता है जो उसने 'मुक्तिमीमांसा' शीर्षक से लिखे हैं। यहां पर भी संक्षेप में आक्षेपों को देकर पुनः उसी क्रम से उनका समाधान दिया जावेगा। इससे सारासारता का स्वयं पता चल जावेगा।

आक्षेप

(१) हमको खेद है, स्वामी जी वहां तक पहुँच नहीं पाये, वे यदि वहां तक पहुँच गए होते तो वे फिर इस विषय में जैन सिद्धांत को असत्य कदापि न कहते।

(२) जैनधर्म का संक्षेप से सिद्धान्त है कि इस जीव के साथ जो अनादि समय से कर्म लगे हुए हैं--जिन्हें अन्य कोई दर्शन प्रकृति, कोई अज्ञान, कोई माया आदि शब्दों से कहते हैं--वे कर्म तपस्या से यानी शरीर, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि पदार्थों में राग-द्वेष त्याग देने से जिस समय आत्मा से सर्वथा अलग हो जाते हैं, उस समय आत्मा सौ टंची सोने के समान निर्मल होकर अपना अविनाशी अनन्त सुख पा लेता है और सदा के लिए निर्मल हो जाता है।···यानी कर्मबन्धन छूट जाने से अब उसमें राग-द्वेष पैदा नहीं हो सकते हैं और रागद्वेष नहीं होने से कर्मबन्ध नहीं हो सकता है।

(३) मुक्त जीव कर्मबन्धन से छूट जाने के कारण इस संसार में न ठहरता हुआ लोक के ऊपर स्वभाव से पहुंच जाता है, उस स्थान

का नाम सिद्धशिला वा सिद्धस्थान है। स्वामी जी ने मुक्ति को कर्मों का फल बताकर फिर वहाँ से लौटकर जन्म मरण पाने का उल्लेख किया है। उसे कोई भी दर्शन एवं वेद, उपनिषद् आदि स्वीकार नहीं करता है।

(४) यदि ऐसा नियम हो कि सुख के अनुभव में तभी आनन्द आता है जब कि बीच में कुछ दुःख मिल जाय तो आप लोग ईश्वर को कभी पूर्ण सुखी नहीं कह सकते क्योंकि उसका सुख कभी टूटता नहीं। मिठाई का दृष्टान्त विषम है क्योंकि मिठाई खाने में सुख नहीं। यदि मिठाई खाने से सुख अवश्य मिले तो यह बुखार वाले मनुष्य को भी सुखकारी होना चाहिए। स्वामी जी के कहने से यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्मचारी मनुष्य को ब्रह्मचर्य का आनन्द तभी आ सकता है जब कि वह बीच में वेश्याओं के मकानों की हवा भी खा आया करे।

(५) मुक्ति नाम तो बन्धन से छूटकर स्वतंत्र होने का है। मुक्त जीव का लौटना भी कैसे हो सकता है, क्योंकि जो जीव सब दोषों से छूट कर परमेश्वर के बराबर हो गया, वह फिर क्यों बन्धन में पड़े ? कर्मों का फल संसार का सुख-दुःख मिलना हो सकता है––मुक्ति नहीं।

(६) जब जीव में स्वयं मुक्ति पाने की ताकत नहीं तो ईश्वर भी उसे मुक्ति किस प्रकार दे सकता है, जैसे वन्ध्या बलवान् के संयोग से भी गर्भिणी नहीं हो सकती है, विना छिलके का चावल उग नहीं सकता है।

(७) मुक्ति-स्थान में जीवों का भीड़-भड़क्का हो जावेगा और दूसरा यह कि संसार खाली हो जावेगा––ये दोनों तर्क मुक्ति से पुरावृत्ति सिद्ध नहीं कर सकते हैं क्योंकि मुक्त जीवों का शरीर नहीं होता, और जीव अनन्त हैं।

(८) स्वामी जी ने सभी उपनिषद् और छः दर्शन आदि को प्रमाण माना है किन्तु उनके द्वारा मुक्ति से लौटना विरुद्ध बैठता

है। देखिये मुण्डक २/८ **भिद्यते हृदयग्रन्थिः०** आदि। स्वामी जी का यहाँ पर 'कर्माणि' का अर्थ 'दुष्ट कर्म' ठीक नहीं। समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, आदि-आदि प्रमाण।

समाधान

(१) आपको खेद व्यर्थ का है और मिथ्या है। स्वामी जी वहाँ नहीं पहुँच पाये--यह कैसे आप को ज्ञात हुआ? क्या आपकी सिद्धशिला मैगनेट लाइन ने पहुँचने से रोक दिया? आप भी तो व्यर्थ का बतंगड़ बना रहे हैं क्योंकि आपको पहुँच के तो वह सर्वथा ही बाहर है। लालबुझक्कड़पने से तो कोई कार्य चल नहीं सकता है। जैनधर्म की मुक्ति वस्तुतः मुक्ति है ही नहीं। सिद्धशिला को मुक्तों का स्थान बताना और उसे अलोकाकाश में स्थित बताना--आदि ऐसी अनर्गल बातें हैं कि जिनको कोई भी समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता है। जब आप स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि मुक्ति में स्वतंत्रता है तो फिर मुक्तों के लिए यह सिद्धशिला का स्थान बताकर उन्हें उसमें बन्धन में डाल रखना और लोकाकाश में भी न आने देना--कैसी स्वतन्त्रता है। यह परतन्त्रता है वा स्वतन्त्रता। स्वामी जी महाराज ने जैनधर्म की मुक्ति क्या है?--इस विषय को भली प्रकार समझकर खण्डन किया है। और ऐसा खण्डन किया है कि किसी से आज तक उत्तर नहीं बना। आपकी तो स्थिति यह है कि आपका कोई वचन न स्पष्ट होता है और न वदतोव्याघात से ही खाली होता है। जिसको यही पता नहीं कि वह क्या कहना चाहता है और क्या कह रहा है--वह स्वामी जी महाराज का खण्डन क्या कर सकेगा। स्वामी जी ने जो कुछ कहा है वह सत्य ही कहा है परन्तु आपको झेंप इसलिए है कि आपके धर्म की असत्यता उससे खुल जाती है।

(२) जैनधर्म का मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त निराधार है। पहले बताया जा चुका है कि कोई भी दर्शन कर्म के अर्थ में प्रकृति, माया

और अज्ञान शब्दों का प्रयोग नहीं करता है। आपका कथन सर्वथा ही ग़लत है। अनादि समय से कर्म लगे हुये हैं--इसका क्या अर्थ है? अनादि शब्द का तात्पर्य क्या है? यदि अनादि का तात्पर्य नित्य है तो फिर तपस्या नहीं घोर तपस्या करने पर भी कर्म छूट नहीं सकते और बन्धन सदा ही जीव को बना रहेगा। यदि अनादि का अर्थ प्रवाह से अनादि है तो संयोग, वियोग मानना ही पड़ेगा। फिर ये कर्म कहाँ से और कैसे जीव में संयुक्त हुये और उसके बन्धन के कारण बने? इसका निमित्त भी तो होना चाहिए। यदि राग-द्वेष निमित्त हैं तो फिर इनका कहाँ से प्रादुर्भाव हुआ? यदि कहें कि जीव के स्वाभाविक धर्म हैं तो फिर इनका विनाश न होने से कर्म और उससे बन्ध सदा बना रहेगा। यदि ये मिथ्याज्ञान के कारण आते हैं तो फिर मिथ्याज्ञान कहाँ से आया? यदि जीव में यह मिथ्याज्ञान है तो फिर जीव को अल्पज्ञ मानना पड़ेगा जिसे जैनधर्म स्वीकार नहीं करता है।

सर्वथा कर्मों का अलग होना क्या है? यह कर्मों का सम्बन्ध नैमित्तिक है वा स्वाभाविक। यदि नैमित्तिक है तो उन निमित्तों के उपस्थित होने पर ये कर्म पुनः बन्धन में आत्मा को डालेंगे और इस प्रकार सर्वथा अलग होना नहीं बनता है। यदि स्वाभाविक है तो फिर मुक्ति का और अलग होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

"आत्मा अपना अविनाशी, अनन्त सुख पा लेता है और सदा के लिए निर्मल हो जाता है"--यह भी भ्रान्त धारणा है। यदि आत्मा का अपना अविनाशी, अनन्त सुख है तो फिर वह संसारी अवस्था में बंधन में आकर इससे वंचित क्यों हुआ? जब संसारी अवस्था में वह इससे वंचित है तो फिर यह सुख उसका अविनाशी और अनन्त नहीं ठहरता है। आपने अपनी पुस्तक में स्वयं स्वीकार किया है और बड़ी प्रगल्भता दिखाने की डींग मारी है कि अनन्त को अनन्त से गुणा करने, भाग देने, जोड़ने, घटाने आदि से वह अनन्त ही रहता है। तो फिर यह अनन्त सुख इस संसारी अवस्था में अनन्त क्यों नहीं रहा? अतः अविनाशी अनन्त सुख जीवात्मा का

अपना धर्म नहीं हो सकता है।

राग-द्वेष के न होने पर कर्मबन्धों का न पैदा होना--सदा के लिए है वा कुछ समय के लिए? यदि सदा के लिए है तो तपस्या आदि परिमित साधनों से प्राप्त यह फल सदा के लिए और शाश्वत नहीं हो सकता है। यदि कुछ समय के लिए है तो मुक्ति से पुनः लौटना अपने-आप सिद्ध हो गया।

(३) लोक के ऊपर स्वभाव से पहुँचने का क्या अर्थ है? यदि लोक के ऊपर पहुँचना ही जीव का स्वभाव है तो फिर लोक के नीचे क्यों आया था? यदि दोनों ही स्वभाव है तो फिर लोक के ऊपर पहुँचना-मात्र ही स्वभाव क्यों कहा गया? इस प्रकार तो फिर जैनधर्म के माने अलोकाकाश के मुक्त जीव इस लोकाकाश में भी आते-जाते रहेंगे। जैनधर्मी इसे स्वीकार नहीं करते। जिसे आप सिद्धशिला कहते हैं वह आकाश में कैसे बन गई और क्यों बन गई? क्या आकाश को भी बांटा जा सकता है? यह सिद्धशिला स्थूल है वा सूक्ष्म है? यदि स्थूल है तो दिखाई पड़नी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। यदि सूक्ष्म है तो आकाश की भेदक किस प्रकार हो सकती है। वह मुक्त जीवों को लोकाकाश में आने मे रोक कैसे सकती है?

इस सिद्धशिला को स्वीकार कर जैनधर्म ने मुक्ति और बन्धन को देशनिमित्तक मान लिया। देश सर्वत्र व्यापक है। अतः बन्धन सर्वत्र रहेगा और मुक्त एवं बन्धन वाले दोनों प्रकार के जीवों को प्राप्त रहेगा। फिर बन्धन अनादि ठहरेगा और मुक्ति किसी की हो ही नहीं सकती है। सिद्धशिला में मुक्त जीव स्वतन्त्र हैं वा परतंत्र। यदि स्वतन्त्र हैं तो लोकाकाश में आने की रोक क्यों? और रुकेंगे ही क्यों? यदि परतन्त्र हैं तो फिर मुक्ति क्या हुई?

स्वामी जी ने मुक्ति को कर्मों का फल बताया है--इसका कोई प्रमाण तो देना चाहिए। विना प्रमाण दिये कोई बात करना ठीक नहीं। ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मोक्ष होता है। यही सिद्धान्त है। जिन तपस्या आदि को जैनधर्म कर्मबन्धों का हटाने वाला

मानता है वे भी तो कर्म हैं। बन्धन का कारण मिथ्याज्ञान है। उसकी निवृत्ति ज्ञान से होती है। अतः ज्ञान मोक्ष का साधन है। परन्तु इस ज्ञान की प्राप्ति में जीव को योग आदि तपस्या के साधनों को करना पड़ता है। ये सभी स्वयं ही उत्तम कर्मरूप हैं। अतः ज्ञान की प्राप्ति के साधन होने से इन उत्तम कर्मों को जो बिल्कुल निष्काम हैं मोक्ष का सहकारी साधन मानना सर्वथा ठीक है। कोई भी मोक्ष साधक ज्ञान कर्म के बिना हो ही नहीं सकता है। प्रयोगात्मक स्वरूप तो सदा कर्म से ही सम्बद्ध रहेगा। अतः मोक्ष का साधन ज्ञान कर्म का समुच्चय है। इसी दृष्टि से मुक्ति में कर्म का उपयोग माना जाता है। उत्तम कर्म भी तो कर्म ही कहा जाता है। मुक्ति के उपायों को करना भी तो कर्म ही है। फिर उसका निषेध किस प्रकार हो सकता है। स्वामी जी की बात को न समझकर अललटप्प मारना ठीक नहीं। स्वामी जी महाराज ने इस कर्म के आधार पर मोक्ष से लौटना लिखा है--इसका प्रमाण बिना दिये व्यर्थ की गप्प हाँकने का कोई भी लाभ नहीं। मुक्ति से लौटना किसलिए और क्यों होता है--वह तो आगे पता लग ही जावेगा। दर्शन, उपनिषद् आदि भी स्वामी जी महाराज की बातों की पुष्टि करते हैं। परन्तु आपके इस कथन का क्या अर्थ लिया जावे। क्या आप इन छः दर्शनों और उपनिषदों की प्रामाणिकता मानते हैं? यदि मानते हैं तो फिर जैनधर्म ही धराशायी हो जावेगा। तथा आपके सर्वज्ञों के उपदेश का आप स्वयं विरोध कर रहे हैं। क्योंकि उन्होंने इन शास्त्रों को अप्रामाणिक माना है। यदि आप इनकी प्रामाणिकता नहीं मानते हैं तो फिर ये स्वामी जी महाराज की बात को सिद्ध करते हैं वा नहीं--इससे आपको क्या लाभ?

(४) आपकी बुद्धि की जितनी प्रशंसा की जावे थोड़ी है। यह वस्तुतः अद्भुतागार में रखने योग्य है। यदि कहीं ऐसा अद्भुतागार सिद्धशिला में होता तो इसका लाभ आपके सर्वज्ञों को भी मिलता रहता। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जिस वाक्य का उद्धरण देकर

आपने यह आलाप किया है उसमें यह कहाँ लिखा है कि बीच में विना दुःख के मिले सुख के अनुभव में आनन्द नहीं आता है। आपको तनिक भी समझ होती तो ऐसी बात न करते। वहाँ पर तो दुःख शब्द का प्रयोग ही नहीं है। वहाँ पर तो आपके उद्धृत वाक्य में निम्न शब्द हैं--"कोई मनुष्य मीठा, मधुर ही खाता-पीता जाय, उसको वैसा सुख नहीं होता जैसा सब प्रकार के रसों को भोगने वाले को होता है।" यहाँ पर यह स्पष्ट है कि सब प्रकार के रसों को भोगने वाले को जैसा सुख मधुर के सेवन करने पर होता है वैसा केवल मधुर का सेवन करने वाले को नहीं होता है। अर्थात् केवल मधुर के खाने से जनित सुख उतना अधिक नहीं अनुभूत होता जितना कि अन्य रसों के अनुभव से हुए सुख को भोगने वाले को मधुर से उत्पन्न सुख होता है। जो सब रसों का सुख-भोग किये होगा उसे मधुररसजनित सुख का भोग अधिक सुख देगा। क्योंकि वह अन्य रसों के सुखों को जानता है। इसी प्रकार जो संसार के सुखों का भोग किये होगा उसे मोक्ष में मिलने वाला सुख अधिक आनन्दित करेगा---क्योंकि मोक्ष का सुख इन सुखों से इतना अधिक है कि ये सुख उसकी सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं। इस तुलना को तो संसार के सुखों का भोग करने वाला ही कर सकेगा।

आप को बुद्धि तो इतनी है नहीं कि आप किसी बात को समझें अतः सुख के स्थान पर दुःख शब्द जोड़ लिया। यहाँ पर तो सुख से सुख की तुलना का प्रसंग है--दुःख से सुख की तुलना का नहीं। कोई भी विचारक वा विद्वान् कभी ऐसी अन्यथा कल्पना नहीं कर सकता है कि वह सुख को दुःख लिखे।

परमात्मा का सुख संसारी सुख नहीं। वह किसी निमित्त से नहीं प्राप्त है। वह स्वाभाविक और अनन्त आनन्द है। अतः उसमें टूटने वा संसारी सुख के बीच में आने वा दुःख के मिलने की कोई बात ही नहीं उठती है।

आपकी यह भी विचित्र ही उल्टी समझ है कि आप मीठा, मधुर

रस को मिठाई समझ रहे हैं और व्यर्थ की कल्पना उसी आधार पर खड़ी कर रहे हैं। जो तनिक भी दर्शन का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मधुर वा मीठा रस का अर्थ मिठाई ही नहीं है। आँवला, हरड़ आदि कसैली वस्तुओं के खाने पर भी पानी पीने पर मधुर रस का स्वाद होता है। परन्तु आँवला और हरड़ मिठाई नहीं कहे जा सकते हैं। क्या आप इन्हें भी मिठाई ही कहते हैं? आपकी बुद्धि की बलिहारी है।

आपके अनुसार मिठाई खाने में यदि सुख नहीं तो मिठाई खाने में दुःख है? यदि मिठाई खाने में दुःख ही है सुख नहीं तो सारी हलवाइयों की दूकानों पर ये मिठाइयां दुःख के लिए बनी हैं और खरीदने वाले क्या दुःख प्राप्त करने के लिए इन्हें खरीदते हैं? दुःख क्या है और सुख क्या है, इसकी परिभाषा किसी दार्शनिक से सीख लेनी थी। संसार की कोई भी वस्तु केवल सुख वा केवल दुःख की नहीं होती है। इस गुर को समझकर तर्क करना चाहिए था। परन्तु तर्क से तो आप को सरोकार ही नहीं।

वेश्यागमन ब्रह्मचर्य का विरोधी धर्म है। अतः विरोधी धर्म से ब्रह्मचर्य के सुख का मिलान नहीं किया जा सकता है। स्वामी जी के अनुसार तो ब्रह्मचर्य के सुख का मिलान ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-संयम के सुख के साथ ही हो सकता है। परन्तु आप के चारों तरफ तो कार्माण वर्गणायें और वे भी वेश्याओं के मकान की हवा से प्रेरित कार्माण वर्गणायें ही उपस्थित हैं अतः उसी वस्तु की रट पड़ गई दीखती है।

आप की दृष्टि में यह वेश्या के घर की हवा दुःख है वा सुख? यदि दुःख है तो ब्रह्मचर्य के सुख के साथ इसकी तुलना ही क्या? तथा ब्रह्मचर्य सुख अपने आप प्रशस्त एवं सिद्ध है। यदि यह आप की दृष्टि में सुख है तो सिद्धशिला के सर्वज्ञों को यह प्राप्त है या नहीं।

(५) मुक्ति जीव का स्वाभाविक गुण है वा नैमित्तिक। यदि स्वाभाविक गुण है तो फिर जीव वर्तमान में बन्धन में क्यों है?

उसे बन्धन में आना ही नहीं चाहिए था। परन्तु बंन्धन में है अतः मुक्ति उसका स्वाभाविक गुण नहीं है। यदि नैमित्तिक गुण है तो जिन निमित्तों से वह प्राप्त हुई है उन के अभाव होने पर अथवा क्षीण होने पर पुनः बन्धन में आना ही पड़ेगा। बन्धन से छूटने का तात्पर्य ही है कि मुक्ति से पूर्व बन्धन था। जब पूर्व बन्धन था तो मुक्ति के पश्चात् भी बन्धन होगा ही। मुक्ति फिर शाश्वत नहीं हो सकती है।

जीव कभी भी परमेश्वर नहीं हो सकता है और न परमेश्वर के बराबर ही हो सकता है। ईश्वर अनुपम है। न कोई उसके बराबर है और न कोई उससे अधिक है। स्वामी जी महाराज ने 'सदृश' शब्द का प्रयोग किया है। जिस प्रकार लोहा अग्नि में लाल होकर सदृशता को तो धारण कर लेता है परन्तु कुछ काल बाद ठंडा भी हो जाता है और लोहा ही रहता है। सादृश्य का अर्थ यह है कि जिससे उसकी सदृशता बताई जा रही है उससे भिन्न रहकर उसके गुण को धारण करता (**तद्भिन्नत्वे सति तद्वद्भूयो धर्मत्वम् सादृश्यम्**) अतः जीव न परमात्मा बनता है और न परमात्मा के बराबार होता है।

सकाम पुण्य कर्मों एवं पाप का फल सुख-दुःख हो सकता है। परन्तु निष्काम कर्मों से ज्ञान का उदय होकर मोक्ष मिलता है। अतः आप का यह कथन गलत है कि कर्मों का फल संसार का सुख-दुःख मिलता है।

(६) जीव में मुक्ति-प्राप्ति के लिए इच्छा और प्रयत्न है। अतः उसे ईश्वर के सान्निध्य से मुक्ति का सुख मिलता है। वन्ध्या में जननशक्ति नहीं और बीज में भी जननशक्ति नहीं। परन्तु जीव में तो मुक्ति का प्रयत्न है। अतः आप का दृष्टान्त सर्वथा अलल-टप्प है। संसारी अवस्था में कर्मबन्धनों वाले जैनधर्म के माने जीव क्या वन्ध्या और चावल के समान हैं। यदि ऐसा है तो फिर उन्हें मुक्ति कैसे मिलेगी। किसी के संयोग से मिले परन्तु स्वयं भी वन्ध्या गर्भिणी नहीं हो सकती है और चावल अंकुर नहीं पैदा कर सकता है।

(७) मुक्ति-स्थान में जीवों का भीड़-भड़क्का होने का तर्क एक प्रकार का हास्यपूर्ण तर्क है और यह आप की मुक्ति का ख्याल रखकर किया गया है। आप के यहाँ जीव शरीर के आकार का होता है। ऐसा मानने से जीव अनित्य सिद्ध होता है। फिर भी आप उसे शरीर के आकार का मानते हैं और वह आकार कर्मबन्धनों से अलग होने पर भी बना रहता है। साथ ही मोक्ष का आपकी सिद्ध-शिला का स्थान भी निश्चित है। अतः ऐसे आकार वालों का सिद्धशिला में भीड़-भड़क्का तो निश्चित ही है।

जीव की अनन्तता और परमात्मा की अनन्तता एक नहीं है। दोनों में भेद है। परन्तु यह भेद आप की समझ में नहीं आ सकता है। ईश्वर देश की दृष्टि से, काल की दृष्टि से सर्वथा अनन्त है परन्तु जीव केवल संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। अतः सब की मुक्ति होने और मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानने पर संसार का उच्छेद तो किसी समय मानना ही पड़ेगा। आप की गणित का यह गुर कि अनन्त से अनन्त को भाग देने, गुणा करने, घटाने, और जोड़ने से अनन्त ही रहता है--केवल अनन्तता (Infinity) के विषय को लेकर है जीव की अनन्तता को लेकर नहीं। यह गणित भी आपने किसी आर्यसामाजिक से ही सीखी--परन्तु पूरी शिक्षा नहीं मिली। अतः आप को धोखा हो रहा है। उधार ली हुई विद्या की यही स्थिति होती है।

(८) स्वामीजी मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त मानते हैं और यह युक्ति, तर्क एवं शास्त्रों से सर्वथा सिद्ध है। संसारी जीव में मुक्ति की इच्छा पाई जाती है। वह चाहता है कि मुक्ति का आनन्द प्राप्त करूँ। यह इच्छा इस आधार पर है कि उसने किसी समय मुक्ति का सुख भोगा है। अतः उसकी स्मृति उसे होती है और वह मुक्ति की इच्छा करता है। यदि मुक्ति जीव पुनः वापस आकर जन्म नहीं लेता है तो यह इच्छा किस प्रकार हो रही है। क्योंकि अनुभूत की ही स्मृति होती है अननुभूत वा अन्यानुभूत की नहीं।

इससे यह सिद्ध है कि जीव कभी मुक्ति का सुख भोग चुका है और अब उसे स्मृति इस जन्म में आ रही है और उसकी इच्छा का कारण बन रही है।

अतः जीवों में मुक्ति की इच्छा के पाये जाने और मुक्ति किसी जीव का स्वाभाविक गुण न होने से यह सिद्ध है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है।

अब सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता के द्वारा दिये गए प्रमाणों के उत्तर यहाँ पर दिये जाते है !—

(क) मुण्डकोपनिषद् के मंत्र, **'भिद्यते हृदय ग्रन्थिः'** का जो प्रमाण दिया है उससे मुक्ति से पुनरावृत्ति का खण्डन वा विरोध नहीं होता है। यहाँ पर स्वामी जी का 'कर्माणि' पद का अर्थ 'दुष्ट कर्म करना' ठीक ही है। क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति के लिए योग, तपस्या आदि जो किये जाते हैं ऐसे निष्काम कर्म भी कर्म ही हैं। इनका क्षय यदि हो जावे तो मोक्ष किससे मिलेगा।

(ख) आप ने विना उद्धरण दिये **'एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते'** (प्रश्न १।१०) प्रश्नोपनिषद् का वाक्य लिखा है तथा **'तेषु ब्रह्म-लोकेषु ······ तेषां न पुनरावृत्तिः'**—बृहदारण्यक का वाक्य लिखा है। इनको आप के कथन के आधार पर ही स्वीकार कर लेने पर भी इन से मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध नहीं होता है। यहाँ पर 'पुनरावृत्ति' और 'पुनरावर्त्तन्ते' पदों से 'जायस्व म्रियस्व' 'पैदा होना और मरना'——रूप उन मृत्यु और जन्मों का निषेध है जो अमुक्तों को बार-बार हुआ करते हैं। मुक्त पुरुषों के परान्त काल के बाद होने वाले जन्म का इनसे निषेध नहीं है। इसी प्रकार छान्दोग्य ८-१५ के **'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'** वाक्य से भी अमुक्त अवस्था में होने वाले बार-बार जन्म-मरण का मुक्तों के लिए निषेध कर बताया गया है कि ऐसे जन्म-मरण मुक्तों को नहीं होते हैं। वह परान्त काल के बाद मुक्ति से लौटता है अतः उसके इस पुनरा-वर्त्तन का निषेध नहीं है।

"स एनान् ब्रह्म गमयति" छान्दोग्य ४।१५।५ के शाङ्करभाष्य की टीका करते हुये आनन्दगिरि लिखते हैं **"कल्पान्तरे त्वावृत्तिरिति सूच्यते"** अर्थात् इससे सूचित होता कि दूसरे कल्प में आवृत्ति होती है। इससे यहाँ पुनरावृत्ति सिद्ध है।

सांख्यदर्शन ६।१७-१८ सूत्रों से मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध नहीं है बल्कि यह बताया गया है कि जीव जब तक मुक्ति में रहता है उस अवधि के विना पूरा हुये वह पुनः बन्धन में नहीं आता है। यदि मुक्ति की अवधि विना पूरा हुये वह बन्धन में आवे तो फिर यह अपुरुषार्थ होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। सांख्य दर्शन १।१५८-१५९ सूत्रों में कहा गया है कि मुक्ति नित्य नहीं है। आज तक कोई पुरुष ऐसा मुक्त नहीं हुआ कि उसकी पुनरावृत्ति न हो अतः भविष्य में भी ऐसा कोई मुक्त न होगा कि उसकी पुनरावृत्ति न हो। अतः संसार का जिस प्रकार सम्प्रति चलना हो रहा है आगे भी रहेगा। इसका कभी उच्छेद नहीं होगा।

सूत्र ये हैं:—

अनादावद्ययावदभावाद् भविष्यदप्येवम् ॥
इदानीमेव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥

—सांख्य १।१५८-१५९ ॥

वेदान्त ४।४।३३ के **अनावृत्तिः शब्दात्** का अर्थ भी यही है कि मुक्ति की अवधि विना पूरी हुये मुक्त जीव की आवृत्ति नहीं होती है।

सांख्य-दर्शन मुक्ति को नित्य नहीं मानता है। **"इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः"** का अर्थ महर्षि ने ही ठीक किया है। आप का किया अर्थ ग़लत है। इसी प्रकार **"जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्"** का अर्थ यह है है कि संसार में कोई जन्मता कोई मरता, कोई सुखी तो दूसरा उसी समय दुखी है अतः इस व्यवस्था से पुरुष अनेक हैं, एक नहीं।

'कस्य नूनम्०' 'अग्नेर्वयम्' आदि ऋग्वेदीय मंत्रों के अर्थ मुक्ति

से पुनरावृत्तिपरक करना ही संगत है। आपको इसका परिज्ञान ही नहीं है। यह प्रकरण जीव का है और इसमें जीव के बन्ध, मोक्ष आदि सभी विषयों का वर्णन है। इसी सूक्त की १५वीं ऋचा में उत्तम, मध्यम, और अधम पाशों का भी वर्णन है। इसी प्रसङ्ग में ३०वें सूक्त के १६वें मंत्र में मोक्ष की प्राप्ति के विषय का भी वर्णन है। अतः महर्षि ने इन मंत्रों का अर्थ ठीक ही किया है। "मुक्ति के सुख भुगाकर" भाव आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा के नियम से लिया गया है। आपके सर्वज्ञों ने व्याकरण आदि सभी विद्याओं को माना नहीं अतः उसका परिज्ञान न होने से आपको कैसे पता चले कि अमुक पद का अर्थ क्या है और अर्थ किया किस प्रकार जाता है।

मुक्ति के लौटने के विषय में तो 'मेरी माता वन्ध्या है' की उक्ति नहीं लगती। हाँ, सादि मुक्ति को नित्य और अनादि मानने वालों के मन्तव्यों में यह दृष्टान्त चरितार्थ होता है। वन्ध्या सन्तान नहीं पैदा कर सकती, यह सिद्धान्त तो वैदिक दर्शनविदों का है। परन्तु सप्तभंगीनय को मानकर जो किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार ही नहीं करते हैं उनके मत में तो वन्ध्या भी पुत्र उत्पन्न करती होगी। क्योंकि उनके मत में तो कोई वस्तु निश्चित 'है' वा नहीं 'नहीं है' के कथन में आ नहीं सकती है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के जो उद्धरण आपने दिये हैं उनसे मुक्ति का स्वरूप वा मुक्ति और किस प्रकार प्राप्त होती है--यह तो सिद्ध होता है। परन्तु मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती--यह उनसे जन्म-जमान्तर में भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है। मुक्तों को कर्मबन्धन का वर्णन स्वामी जी महाराज ने कहीं भी नहीं किया है। यह आपकी अपनी कल्पना-मात्र है।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने यजुर्वेद ३१/२ के भाष्य का हवाला दिया है। उससे भी उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। उसके द्वारा उद्धृत किये गए शब्दों में परमेश्वर को अविनाशी मोक्ष सुख का अधिष्ठाता कहा गया है। 'अविनाशी मोक्ष सुख' परमेश्वर के आनन्द

के लिए यहाँ व्यवहृत है। परमेश्वर का आनन्द अविनाशी है। वही इसका अधिष्ठाता है। परन्तु जीव को मोक्ष में निमित्त रूप से मिला सुख तो अविनाशी नहीं है। वह उस मोक्ष सुख का अधिष्ठाता भी तो नहीं है। फिर जीव की मुक्ति नित्य किस प्रकार सिद्ध हो सकती है।

निरुक्त का जो हवाला दिया गया है वह भी मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध नहीं करता है। उसमें देवयान मार्ग का वर्णन है और यही बतलाया गया है कि जब तक मुक्ति की अवधि नहीं पूरी होती तब तक वह नहीं लौटता है। अवधि समाप्त हो जाने पर वह पुनरावर्त्तन में आता है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** 'तथा **वेदाहमेतम् पुरुषम्०'; 'प्रजापतिश्चरति०'** आदि के भाष्य का जो प्रमाण दिया है उनमें निम्न वाक्य वा शब्द पड़े हैं:—

'पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं।"

"उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरण आदि के क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूटके परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।"

"मोक्ष सुख को प्राप्त हो के जन्म-मरण आदि आने-जाने से छूटके आनन्द में सदा रहते हैं।"

इन वाक्यों में कहीं पर मुक्ति से लौटने का निषेध नहीं है। "नित्य आनन्द में रहते हैं" का अर्थ है कि मुक्ति की अवधिपर्यन्त सदा आनन्द में रहते हैं। अथवा परमेश्वर के नित्य आनन्द में रहते हैं। इससे जीव के नित्यानन्द की बात नहीं सिद्ध होती।

मोक्ष परमानन्दस्वरूप है। यह दूसरे वाक्य में बताया गया है। परन्तु यह शाश्वत काल के लिए है—ऐसा इससे नहीं सिद्ध होता है।

"आनन्द में सदा रहते हैं" का भी यही अर्थ है कि मोक्षावधिपर्यन्त आनन्द में सदा रहते हैं।

सांख्य दर्शन के **"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः"** सूत्र में आया अत्यन्त पद काल वा अवधि की मात्रा की दृष्टि से अत्यन्त अर्थ को नहीं देता है बल्कि दुःख की मात्रा की दृष्टि से अत्यन्त अर्थ देता है। तीनो दुःखों की निवृत्ति--अत्यन्त निवृत्ति इसलिए नहीं है कि वह शाश्वत रहेगी और भविष्य में निरवधिक रहेगी। बल्कि वह दुःख की अत्यन्त निवृत्ति है अर्थात् निवृत्ति की अवधिपर्यन्त दुःख किंचिन्मात्र भी नहीं होता है। टीकाकार अनिरुद्ध की बात प्रामाणिक नहीं है। वह सांख्य के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है।

न्यायदर्शन के **"दुःख जन्म प्रवृत्ति०"** सूत्र का ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में अर्थ देते हुए जो "सब दिन के लिए परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है" तथा "जो सब दिन के लिए परमानन्द प्राप्त होता है उसी सुख का नाम परमानन्द है" वाक्य प्रयुक्त किये गये हैं। उनसे परमानन्द का नाम मोक्ष है और वह परमात्मा के साथ से प्राप्त होता है--यह तो स्पष्ट प्रकट होता है। परन्तु मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध नहीं। सत्यार्थप्रकाश में आपका असली रूप सामने आ गया। पुनः आपने सत्यार्थदर्पण लिखकर उसे छिपाना चाहा परन्तु दर्पण शब्द उसमें भी था ही अतः आप का भद्दा स्वरूप और भी स्पष्ट भासित हो गया। पुनः कुछ न बन सका तो सत्यार्थप्रकाश को आप असत्यार्थप्रकाश कहने पर उतारू हो गए। अरे भाई! सत्यार्थ का प्रकाश जहाँ सत्यार्थ का प्रकाश करता है वहाँ असत्यार्थ क्या है?--इसको भी प्रकट कर देता है। **सत्प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयति।**

'कस्यनूनम्' आदि ऋग्वेदीय १।२४।१-२ मन्त्रों का अर्थ महर्षि ने ठीक ही किया है। शुनःशेप नाम जीव का है। वह बन्धन से बंधा हुआ छूटने का प्रयत्न कर रहा है। अतः जीव की मुक्ति के प्रकरण में ये सूक्त लगते हैं। मुक्ति से पुनरावृत्ति भी उसी प्रकरण से सम्बद्ध है अतः महर्षि का किया हुआ अर्थ युक्ति एवं तर्क से सर्वथा संगत है। यह अर्थ प्राचीन आचार्यों के अर्थ के अनुकूल है। स्कन्द

स्वामी और वररुचि आचार्यों ने इस सूक्त के मंत्र का इसी प्रकार का अर्थ किया है। ऐतरेय ब्राह्मण काल्पनिक आख्यान की संगति बैठाकर अर्थ को स्पष्ट कर रहा है। यह आख्यान वेदमंत्रों में नहीं वर्णित है। वेदों में किसी प्रकार का मानवी वा अनित्य इतिहास नहीं है। इस विषय के लिए मेरी वृहत् पुस्तक 'वैदिक-इतिहास विमर्श' देखें।

यहाँ पुनः संक्षेप में निष्कर्ष रखा जाता है—

(१) सांख्य आदि सभी वैदिक दर्शन मुक्ति की अवधि पूरी होने पर पुनरावृत्ति का समर्थन करते हैं--यह पूर्व दिखाया जा चुका है। टीकाकार के साथ ग्रन्थ का मूल नहीं बंधा है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामीजी ने मुक्ति विषय का वर्णन किया है। स्वामी जी मुक्ति से पुनरावृत्ति मानते हैं--यह उनके ग्रन्थों से भली प्रकार स्पष्ट है।

(३) वेद के आधार पर बने शास्त्रों में मुक्ति का समय वर्णित है। मुण्डकोपनिषद् में यह समय एक परान्तकाल अर्थात् ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष का माना गया है।

संसार से मुक्ति देने के जो कारण हैं वे सीमित हैं और मुक्ति जीव का स्वाभाविक गुण नहीं है, नैमित्तिक है, तथा जीव का स्वभाव अल्पज्ञ है अतः मुक्ति से वापस आना पड़ता है।

(५) अनन्त शब्द का अर्थ पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है। स्वामी जी महाराज ने अनन्त शब्द का अर्थ वहाँ पर परमेश्वर के अनन्त होने के विषय को लेकर किया है।

(६) स्वामी जी महाराज द्वारा किया गया 'कस्यनूनम्' आदि मन्त्रों का अर्थ सर्वथा ही संगत है।

(७) स्वामीजी महाराज सदा से ही यह मानते रहे हैं कि जीव की मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है। उन्होंने कभी भी अपना यह मत बदला नहीं।

तृतीय खण्ड

जगत्

प्रलय

इस तृतीय खण्ड में जगत् सम्बन्धी विचारों का उल्लेख होगा सत्यार्थ दर्पण के कर्त्ता ने पृष्ठ २९ पर 'प्रलय पर प्रकाश' शीर्षक से जगत् की प्रलयसम्बन्धी प्रक्रिया पर आक्षेप किये हैं जो सर्वथा निराधार है। यहाँ पर उन समस्त आक्षेपों पर विचार कर उनका निरास किया जावेगा। सर्व प्रथम आक्षेपों को दिखाया जावेगा और बाद में उसी क्रम से उनका समाधान किया जावेगा।

आक्षेप

(१) स्वामी जी की बातों में इस सम्बन्ध में परस्पर विरोध है। 'जब यह सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी, उस समय शून्य नाम आकाश···भी नहीं था। ऋ० भा० भू०

"हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही एक सृष्टि के पहले वर्तमान था' ऋ० भा० भू०।

"ईश्वर जीव और जगत् का कारण ये तीन अनादि हैं" स० प्र०।

"आकाश, काल, जीव और परमाणु नये वा पुराने कभी नहीं हो सकते, क्योंकि ये अनादि और कारणरूप से अविनाशी हैं"।

स० प्र०

(२) ऐसी प्रलय भी क्या कभी संभव हो सकती है जबकि संसार के सारे पदार्थ नेस्तनाबूद हो जावें ? ऐसा कोई कारण नहीं

है जिससे परमाणुओं का परस्पर मिलना तो बिलकुल बन्द हो जाय और सभी पदार्थों का बिखर-बिखर कर परमाणु रूप में होना शुरू हो जाय। विज्ञान इस बात का निषेध करता है।

(३) इस कार्य का करने वाला यदि ईश्वर को माना जाय तो भी नहीं बनता क्योंकि अशरीर, निराकार ईश्वर साकार चीजों को कैसे बिगाड़ सकता है तथा इस कार्य के लिए हलन-चलन करने की जरूरत है सो ईश्वर सर्वव्यापक होने ऐसा करने में आकाश के समान असमर्थ है। ईश्वर फिर ऐसा संहार सरीखा अनुचित कार्य क्यों करता है। क्या सृष्टि उसका कोई मतलब बिगाड़ती है।

(४) यदि ईश्वर का प्रलय करना स्वभाव माना जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टिरचना और प्रलय करना सरीखे विरुद्ध स्वभाव ईश्वर में रह नहीं सकते। संसार के यदि सब पदार्थों का पूरी तरह से प्रलय (नाश) हो जाय तो फिर सृष्टि का होना संभव नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान कारणों से ही उत्पन्न होता है। अन्य प्रकार से नहीं।

(५) स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि 'यदि कोई मनुष्य की उत्पत्ति विना माता पिताओं के कहे तो ऐसी बातें पागल लोगों की है। पुनः लिखा है कि सृष्टि की आदि में विना माता के जवान मनुष्यों को ईश्वर बनाता है।' इन दोनों में किस बात को पागलपन की माना जाय।

(६) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में प्रलय का समय सृष्टिकाल के बराबर चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का बताया है सो किस हिसाब से, किस नियम से ?

समाधान

(१) यहां महर्षि के कथनों में परस्पर कोई भी विरोध नहीं। प्रत्येक कथन उसके प्रसंग और प्रकरण के अनुसार है। प्रथम वाक्य में जगत् के कारणों का परिगणन नहीं किया गया है अपितु मन्त्र

का अर्थ करते समय उतना ही वर्णन किया गया है जितना मन्त्र के अर्थ से प्रकट होता है। अतः एक परमेश्वर और जगत् के मूल कारण प्रकृति का वर्णन किया। भला यह तो बताइये कि इस स्थल पर इन के अतिरिक्त कारण का निषेध कहाँ पर किया गया है। आकाश का न होना कहने का तात्पर्य यह है कि उस अवस्था में उस का व्यवहार नहीं पाया जाता था। इसीलिए शब्द वहाँ पर प्रयोग किये गये हैं "तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात्" अर्थात् उसके व्यवहार के न पाये जाने से।

दूसरे वाक्य में हिरण्यगर्भ परमेश्वर की विद्यमानता बताई गई है। यह भी उस प्रसंग और प्रकरण के अनुसार है। यह भी मन्त्र का अर्थ मात्र दिया है। कारणों का परिगणन यहाँ पर भी नहीं किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि हिरण्यगर्भ परमेश्वर के समान उस जैसा कोई भी कारण और नहीं था। परन्तु अन्य कारण हो नहीं थे--ऐसा निषेध नहीं किया गया है। यदि है तो बताइये कि कहाँ पर है ? व्यर्थ की तुक मारने का कोई भी लाभ नहीं है।

तीसरे वाक्य में जगत् के अनादि नित्य कारणों का परिगणन किया गया है और वे हैं ईश्वर जीव, तथा प्रकृति--ऐसा निर्धारण किया गया है। इस वाक्य से किन्हीं पूर्व वा पर वाक्यों का निषेध नहीं किया गया है।

चौथे वाक्य में जीव और परमाणु से जीव और प्रकृति परमाणुवों का ग्रहण है। इनकी अनादिता स्वीकार की ही गई है। इन से पूर्व की बात का विरोध नहीं बनता। जब परमाणु का कथन किया गया तब उसी प्रक्रिया के अनुसार आकाश और काल का भी वर्णन किया गया। परमाणुवाद की प्रक्रिया में परमाणुओं की भांति आकाश और काल को भी पृथक् मान कर नित्य माना जाता है। परन्तु जब प्रकृति रूपी उपादान का वर्णन किया जाता है तब प्रक्रिया के अनुसार आकाश और काल भी प्रकृति में ही अन्तर्भूत माने जाते हैं। अतः यहां पर कोई विरोध नहीं है। विरोध देखने वाले की बुद्धि में

विरोध हो सकता है।

(२) सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को तो अपनी अटकल-पच्चू मारनी है। उसे प्रलय की न तो परिभाषा मालूम है और न उसका कुछ ज्ञान ही है। प्रलय वा नाश शब्द का अर्थ है कार्य का अपने कारण में लय होना। प्रलय में कार्य पदार्थ अपने उपादान कारण के रूप में हो जाते हैं। किसी भी कार्य पदार्थ का अपने कारण रूप में होना नेस्तो नाबूद होना नहीं है। वह कारण रूप में रहता है, उसका अभाव नहीं हो जाता है।

जब यह नियम सर्वसम्मत है कि कार्य पदार्थ अपने उपादान कारण से बना है और प्रत्येक उपादान की दो अवस्था होती है, वह कभी कारण-रूप में रहता है और कभी कार्यरूप; तथा यह भी नियम है कि उपादान कारण परिणामी होता है, तो फिर प्रलय नहीं होगा--यह किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रलय का होना ऐसी अवस्था में अनिवार्य है। यही कारण है कि गुणभद्रसूरि-कृत उत्तर पुराण में पृथ्वी आदि का नाश भी माना गया है। यथा--**एवं गच्छति कालेऽस्मिन्नेतस्य परमावधौ। निःशेषशोषमेताम्बु शरीरमिव संक्षयम् ॥४४७॥ अतिरौक्ष्या धरा तत्र भाविनी स्फुटिता स्फुटम्। विनाशचिन्तयेवांघ्रिपाश्च प्रम्लानयष्टयः ॥४४८॥ प्रलयः प्राणिनामेवं प्रायेणोपजनिष्यते ॥४४९॥ (७६ पर्व)।** इस प्रकार जैन आचार्य को भी प्रलय स्वीकार करना पड़ा है।

जब सावयव एवं कार्य पदार्थ घड़े में परमाणुओं के परस्पर मिलने के बन्द हो जाने के कारण प्रत्यक्ष हैं और बिखरकर नष्ट होना भी प्रत्यक्ष है तो उसी नियम से प्रत्येक सावयव कार्य-पदार्थ पृथिवी, चन्द्र, आदि में भी परमाणुओं का मिलना बन्द होना और उनका बिखरकर अपने कारण में मिलना कारण-रहित नहीं है, कारण सहित है। "परमाणुओं का परस्पर मिलना" पदों में परस्पर शब्द का प्रयोग स्वयं कारण का कथन है। परस्पर मिलने का अर्थ ही है कि मिलने के पूर्व वियोग था। अतः यह भी अनिवार्य है कि

मिलने के अनन्तर भी वियोग ही होगा। फिर कह कहना कि ऐसा कोई कारण नहीं है--सर्वथा ग़लत है। विज्ञान प्रलय को स्वीकार करता है। तापमान का नियम इस विषय में प्रमाण है। आप विज्ञान का कोई भी ऐसा प्रमाण तो देते कि जिससे आपकी बात पुष्ट होती। केवल विज्ञान का नाम मात्र ही सुन रखा है क्या ? प्रलय करने में जगत्कर्त्ता की जिहीर्षा क्या कारण नहीं है।?

(३) प्रलय का कर्त्ता ईश्वर उसी प्रकार है जिस प्रकार वह सृष्टि का कर्त्ता है। अशरीर, निराकार ईश्वर जिस प्रकार साकार जगत् की रचना कर सकता है (जैसा पूर्व सिद्ध किया जा चुका है) उसी प्रकार उसका प्रलय भी कर सकता है। आकाश जड़ है अतः ईश्वर के साथ उसका दृष्टान्त सर्वथा ही ग़लत है। ईश्वर चेतन है अतः वह जिस वस्तु को जैसा बनाना चाहता है और जितने स्थान और जितने प्रयोजन के लिए जितनी क्रिया की आवश्यकता होती है --उतनी करता है। सर्वव्यापक को स्थान छोड़ने आदि की क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं होती है। वह सर्वत्र है अतः हलन-चलन की आवश्यकता ही क्या ?

सृष्टि परमेश्वर का कोई मतलब नहीं बिगाड़ती है। जिस प्रकार "**जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः**" अर्थात् उत्पन्न हुए की मृत्यु आवश्यक एवं अनिवार्य है ठीक उसी प्रकार उत्पन्न कार्य जगत् का प्रलय भी अनिवार्य है। जो नियमतः अनिवार्य है उसे अनुचित कार्य कहना आप की बुद्धि का फेर है। यदि यह प्रलय अनुचित है तो उचित की व्याख्या क्या है ? क्या आप इस नियम को टाल सकते हैं ? यदि नहीं, तो फिर व्यर्थ की बातों का क्या लाभ है।

(४) जगत् की रचना करना और उसका प्रलय करना दोनों ही ईश्वर का स्वभाव है। जब घड़े को बनाने और बिगाड़ने के दो स्वभाव कुम्हार में रह सकते हैं तो ईश्वर में ये क्यों नहीं रह सकते ? क्या वहाँ भी कोई सिद्धशिला की मैगनेट लाइन बाधक है। सृष्टि करना और प्रलय करना रूप दो विरोधी स्वभाव जड़ पदार्थ में

नहीं रह सकते हैं। परन्तु ईश्वर तो चेतन हैं अतः उसमें दोनों धर्म रह सकते हैं। चेतन पदार्थ में ये दो धर्म नहीं रह सकते हैं––इसका जन्म-जन्मान्तर में भी कोई दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता है। यदि है तो देना चाहिए था। गप्प मारने-मात्र से कोई कार्य बनने का नहीं। प्रलय का अर्थ कार्य का अपने कारण में मिलना है। सर्वथा अभाव में परिवर्तन हो जाना नहीं। अतः कारण से कार्य पुनः परमेश्वर की ईक्षणशक्ति से उत्पन्न होगा। जब उपादान कारण बना है, उस पर कार्य करने वाला निमित्त कारण भी उपस्थित है तो फिर सृष्टि का होना क्यों सम्भव नहीं––यह तो आप के सिद्धशिला के सर्वज्ञ ही बता सकते हैं। जब प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान से ही उत्पन्न हो सकता है––यह आप मानते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि अन्य प्रकार से नहीं तो फिर प्रलय में भी उपादान के मौजूद रहने से सृष्टि पुनः क्यों नहीं उत्पन्न हो सकेगी ?

(५) स्वामी जी ने जो भी बातें सत्यार्थप्रकाश में लिखी हैं वे तर्क-तुला पर तुली हुई और सर्वथा ही युक्तिसंगत हैं। इन में पागलपन की कोई बात नहीं है पागलपने की बात तो उसकी है जिसकी समझ में ये दोनों बातें आई नहीं और व्यर्थ का अपना बतंगड़ बना रहा है।

यहाँ पर महर्षि का तात्पर्य यह है कि "माताओं से पिताओं के विना" अथवा "माता से पिता के विना" सन्तान की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है। प्रत्येक सृष्टि की आदि में माता से मनुष्य आदि नहीं पैदा होते हैं अतः वहाँ पर यह निषेध भी नहीं लागू होता है। माता से जो सन्तान उत्पन्न होगी वह विना पिता के नहीं हो सकती। अनेक कीट आदि अब भी अमैथुनी रचना से ही उत्पन्न होते हैं। माता-पिता की कारणता का विचार पहले किया जा चुका है। अतः प्रथम खण्ड में उसे देखना चाहिए। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को तो यह भी पता नहीं कि माता-पिता पुत्र के कौन-से कारण हैं ? यदि उसको इस बात का परिज्ञान होता तो कभी भी महर्षि की

बात को ग़लत कहने का साहस नहीं करता।

(६) सृष्टि-रचना और प्रलय की प्रक्रिया का अध्ययन करने से तथा वैज्ञानिक नियमों के अध्ययन और ज्योतिष आदि शास्त्रों के सिद्धान्तों से ऐसा ही सिद्ध होता है। अतः प्रलय का समय भी चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष स्वीकार किया गया है। यह आप के सिद्ध-शिला के सर्वज्ञों का गणित नहीं कि जिसका गुर भी ग़लत और निकाला परिणाम भी ग़लत है। यह बात तो वैज्ञानिक अनुसन्धानों से भी सिद्ध है।

सृष्टि तथा प्रलय की सुव्यवस्था

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को बार-बार किसी बात के दोहराने में कोई आपत्ति नहीं दीखती। उसका एकमात्र सिद्धान्त यह मालूम पड़ता है कि एक ही बात को बार-बार कहने से पुस्तक का कलेवर तो मोटा बन जावेगा। लोग समझेंगे कि बहुत बड़ी पुस्तक तैयार कर दी—तत्व भले ही कुछ न हो। यही हाल श्री निजानन्द जी छुल्लक का भी है। वे भी केवल पुस्तक के आकार पर ही बल अधिक देते हैं। अतः इस प्रकरण में यहाँ पर सारांशतः जो आक्षेप उठते हैं उन्हींका उत्तर दिया गया है। पुनरुक्त बातों से सदा बचने का प्रयत्न किया गया है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने "सृष्टि तथा प्रलय में गड़-बड़झाला" प्रकरण में जो बातें लिखी है उनमें उठने वाले आक्षेपों को प्रथम लिखकर पुनः उनका उसी क्रम से उत्तर दिया गया है।

आक्षेप

(१) स्वामी जी ने अपना एक अलग सिद्धान्त बनाया, जिसको कि प्रचलित सुधारों से तथा साइंस से मिलाने का उद्योग किया। तदनुसारी वेदों का भाष्य कर डाला। जो बात उन्हें योग्य न मालूम हुई अथवा जिस बात से वेदों की निंदा होती हुई देखी उन बातों

को वेदमन्त्रों का अर्थ पलटकर वेदों से हटा दिया।

(२) इसी प्रकार सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शन को मान्य करते हुए उनके सूत्रों का अर्थ भी अपनी इच्छानुसार प्राचीन टीकाओं से विरुद्ध कर दिया और जहाँ जिससे अपने सिद्धान्त की पुष्टि होती देखी उसको ले लिया, शेष को छोड़ दिया।

(३) स्वामी जी ने ईश्वर, जीव, और प्रकृति--इन तीन पदार्थों को नित्य माना है, सांख्य दर्शन के १-६१ सूत्र के अनुसार सृष्टि की रचना भी मानी है। सांख्य के अनुसार आकाश पैदा होता है किन्तु स्वामी जी ने ऐसा भी लिखा है कि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है। यह परस्पर विरोधी बाते हैं। या तो सांख्य ग़लत है या स्वामी जी।

(४) "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्" मन्त्र के भाष्य में स्वामी जी ने लिखा है कि--सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था। क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। उस काल में सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था। उस समय परमाणु भी नहीं थे। विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था। यहाँ पर कैसी लीला दिखाई है।

(५) "हिरण्यगर्भः" मन्त्र के भाष्य में स्वामी जी ने जगत् के कारण का भी बिल्कुल सफाया कर दिया। वे लिखते हैं कि हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहले वर्तमान था, जो सब जगत् का स्वामी है।

(६) स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में यों लिखा है कि--"दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है यह दूसरा और भौतिक शरीर मुक्ति में रहता है। इसीसे जीवमुक्ति में सुख को भोगता है।" यहाँ भौतिक शरीर का होना भी मान लिया। भौतिक

शरीर का तो प्रलय हो जावेगा, फिर मुक्त जीव मोक्ष सुख कैसे भोगेंगे।

समाधान

(१) महर्षि दयानन्द ने अपना कोई नया सिद्धान्त बनाया--यह कहना सर्वथा ही अनभिज्ञता की बात है। उन्होंने उन्हीं सिद्धांतों को अपना सिद्धान्त स्वीकार किया जो वेद के अनुकूल हैं तथा जिन्हें ब्रह्मा से लेकर जैमिनि-पर्यन्त ऋषियों ने स्वीकार किया हैं। वेदों के विज्ञान को बताने के लिए वेदों का भाष्य किया न कि वर्तमान साइंस और सुधारों से मिलाने के लिए वेदों का भाष्य किया। वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है--इस बात को प्रकट करने के लिए वेदों का भाष्य किया। उन्होंने किसी वेदमंत्र का अर्थ पलटा नहीं। जो अर्थ ठीक है वही अर्थ किया। प्राचीन ऋषियों के अर्थ से उनका अर्थ मिलता है। बाद के समय के भाष्यकारों के अर्थ प्रामाणिक नहीं हैं। अतः उनके साथ महर्षि के अर्थ के मेल खाने का कोई प्रश्न ही क्या हो सकता है? वेदों के मंत्रों को महर्षि ने ज्यों का त्यों रखा है। कोई भी चीज़ हटाई नहीं। आप को वेद का जब परिज्ञान ही नहीं तो फिर व्यर्थ सिद्धशिला वाली सर्वज्ञता बघारने से क्या लाभ।

(२) दर्शनों को महर्षि ने माना है और उन पर प्राचीन महर्षियों के भाष्य को भी माना है। सूत्रों का अर्थ जहाँ भी उन्होंने किया है वही किया है जो होना चाहिए। कोई भी प्राचीन आर्ष टीका ऐसी नहीं जिसका महर्षि ने विरोध किया हो। परन्तु नवीनों की टीकाओं को उन्होंने नहीं माना है। यह सर्वथा ठीक ही है। जिसको दर्शन का परिज्ञान स्वयं नहीं वह स्वामी जी महाराज पर व्यर्थ का आक्षेप करे--यह कितनी अनुचित बात है। प्रश्न तो यह है कि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता इन दर्शनों को मानते हैं या नहीं? यदि मानते हैं तो ये सभी दर्शन जैनधर्म के विरुद्ध हैं तथा जैनाचार्यों ने इनका खण्डन किया है तथा इन्हें निषिद्ध बतलाया है। फिर वे जैनी

भी नहीं रह जाते। यदि इन्हें नहीं मानते हैं तो इस व्यर्थ के बतंगड़ का क्या लाभ है ?

(३) न सांख्य ग़लत है न स्वामी जी महाराज ग़लत हैं। ग़लत हैं आप जिनकी समझ में ये बातें आती ही नहीं। इससे ईश्वर, जीव, और प्रकृति की नित्यता पर क्या अन्तर पड़ जाता है यह तो बताना चाहिए था। आकाश अवकाश का नाम है—ऐसा महर्षि ने लिखा है। सृष्टि से पूर्व यह प्रकृति परमाणुओं से भरा रहता है अतः व्यवहार योग्य नहीं होता है। परमाणुओं को कार्य में लगाने से जो अवकाश होता है यही आकाश की उत्पत्ति है। परन्तु प्रकृति और उसके परमाणु आकाश में स्थित थे अतः आकाश का बना रहना भी ठीक ही है। सांख्य में तन्मात्रावों का वर्णन है। उन से वे पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनकी वे तन्मात्राएं हैं। प्रकृति कहने से आकाश आदि सभी का ग्रहण उसमें हो जाता है। प्रसंग और प्रक्रिया का परिज्ञान न होने से महर्षि की बातें आप की समझ में नहीं आ सकती हैं। अन्य प्रसंग की बातें अन्यत्र लाकर जोड़ना और योग्यता, आंकाक्षा एवं आसत्ति का ध्यान न देना इस कहावत को ही चरितार्थ करता है कि कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुंडवा जोड़ा। इस का उत्तर पूर्व भी दिया जा चुका है।

(४)—यहाँ पर महर्षि ने मंत्रों के अर्थ मात्र किये हैं। जगत् के कारणों का संग्रह नहीं किया है। यहाँ पर सब का उत्तर इसी वाक्य में आ जाता है कि "क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था"। जगत् व्यक्तावस्था का नाम है। प्रलय में अव्यक्तावस्था का वर्णन महर्षि ने किया है। जगत् के कारण रूप पदार्थों के उस समय न होने का इससे निषेध नहीं होता है। चूँकि उस समय आकाश का व्यवहार नहीं हो सकता था अतः कहा गया कि उस समय आकाश नहीं था।

यहाँ प्रकृति का न होना नहीं बताया गया है बल्कि यह बताया गया है कि सत्व, रजस् और तमोगुणों के परस्पर वैषम्यावस्था में

मिलने से जो स्थिति उत्पन्न होती है वह नहीं थी। अर्थात् प्रकृति उस समय साम्यावस्था में थी, अव्यक्त थी और अप्रतर्क्य थी। उस समय व्यक्तावस्था का अभाव था।

यहाँ पर कोई लोला नहीं दिखाई गई है। लोला तो जैन धर्म के ग्रन्थों में मिलती हैं जहाँ जूँ आदि प्राणियों के आकार का वर्णन है। अथवा जहाँ जैनधर्म के सर्वज्ञों ने लोकों के वर्णन और उनकी गणित करने में अपनी सर्वज्ञता को असर्वज्ञता में परिणत कर दिया है। 'परमाणु भी नहीं थे' का यही भाव है कि उस समय व्यवहार की अवस्था न होने से इनका परिज्ञान नहीं होता था। विराट् तो जगत् की एक कार्यावस्था का नाम है। अतः उसका न होना किसी प्रकार की आपत्ति का विषय ही नहीं है।

(५) इस 'हिरण्यगर्भः' मन्त्र के अर्थ से भी जीव और प्रकृति के होने का निषेध नहीं होता है। इसका तो इतना ही तात्पर्य है कि उस परमात्मा के समान उस जैसा वा अधिक कोई दूसरा नहीं था। परन्तु 'सर्व जगत् का स्वामी है' से तो स्वयं सिद्ध है कि उसकी प्रजा और सम्पत्ति दोनों थे जिन पर कि उसका स्वामित्व था। जीव उसकी प्रजा है, और प्रकृति उसकी सम्पत्ति है। अतः ये उस समय विद्यमान थे। इसका किसी प्रकार यहाँ पर निषेध नहीं।

(६) यहाँ पर 'अभौतिक' को भौतिक मानकर अर्थ को विपरीत ले जाने का प्रयत्न किया गया। यह प्रशस्त बात नहीं है। वास्तविक शब्द 'अभौतिक' है, भौतिक नहीं। पहले कहा गया है कि आसत्ति, योग्यता और आकांक्षा आदि के बल से जब तक किसी वाक्य को समझने का प्रयत्न नहीं किया जावेगा तब तक अर्थ का वास्तविक पता नहीं चल सकता है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की यही स्थिति है। वह जिस बात को नहीं समझता है उस पर भी अपना एक विचार बना लेता है। महर्षि के वाक्य सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार हैं :—

"तीन शरीर हैं, एक 'स्थूल' जो यह दीखता है। दूसरा पांच

प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्म शरीर' कहाता है, यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं। एक–– भौतिक, अर्थात् जो सूक्ष्म-भूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसीसे जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा 'कारण' जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा होती है, वह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है" सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास वेदानन्द संस्करण, पृ० २१०

यहां 'अभौतिक' का 'अ' निकालकर कितना अनर्थ सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता ने किया।

यदि स्वामी जी महाराज के दूसरे वाक्यों को जो उन्होंने इसी समुल्लास में प्रयुक्त किये हैं, देखा होता तो ऐसा करने का कभी साहस न होता। यहाँ पर उन वाक्यों को भी लिखा जाता है:––

"(पूर्व०) मुक्त जीत का स्थूलशरीर होता है वा नहीं? (उत्तर) नहीं रहता। (पूर्व०) फिर वह सुख और आनन्द-भोग कैसे करता है? (उत्तर) उसके सत्य सङ्कल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक सङ्ग नहीं रहता।" पृष्ठ २०४

"मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं।"

इस प्रकार स्वामी जी महाराज का सिद्धान्त कितना स्पष्ट है––यह कहने की आवश्यकता नहीं। मुक्ति में भौतिक नहीं, अभौतिक शरीर रहता है और यह जीव के स्वाभाविक गुण-मात्र है। जीव के नित्य होने से न इसके प्रलय की कोई आशंका है और न मुक्ति के सुख के भोगने में कोई बाधा है। इसका प्रलय न होने से प्रलय के सिद्धान्त में भी कोई क्षति नहीं आती है, क्योंकि यह कार्य नहीं, और भौतिक भी नहीं है।

संसार के विषय में

सत्यार्थदर्पण के रचयिता ने 'संसार का सार परिचय' शीर्षक से जैनधर्म का सिद्धान्त संसार के विषय में प्रस्तुत किया है। परन्तु उसके देखने से उसमें कोई सार नहीं दिखाई देता। सारा खोखलापन ही भरा है। उसने जो कुछ बातें लिखी हैं उनकी संक्षेप में यहाँ पर आक्षेपसरणि बनाकर पुनः क्रम से उसपर विचार किया जाता है। उक्त लेखक ने यहाँ पर भी पिष्टपेषणमात्र किया है।

आक्षेप

(१) जैन धर्म का सिद्धान्त है कि विद्यमान पदार्थ का (मौजूदा चीज़ों) का कभी नाश नहीं होता और अविद्यमान (ग़ैर मौजूदा) पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि सत् पदार्थ का नाश होने लगे तो संसार के पदार्थ क्रमशः नष्ट होकर कम होते चले जायंगे और यदि असत् वस्तु उत्पन्न होने लगे तो फिर चीज़ों की पैदाइश का कोई नियम भी नहीं बनेगा। इस कारण जैन सिद्धान्त प्रत्येक पदार्थ को स्वभाव से अनादि अनन्त यानी आदि और अन्त से रहित मानता है।

(२) दिखाई पड़ने वाला संसार चेतन और जड़ से बना हुआ ढाँचा है। इसका यह साधारण ढाँचा कभी बिगड़ने नहीं पाता क्योंकि दोनों तरह के पदार्थ अविनाशी हैं। विशेष प्रकार का ढाँचा कुछ न कुछ पलटता रहता है।

(३) पदार्थों की जो पर्याय (दशा) बदलती रहती है उसके दो कारण हैं। एक तो पदार्थ की अन्दरूनी निजी शक्ति और दूसरे बाह्य इतर साधन। कभी कहीं जंगल, कभी वर्षा, कभी गर्मी, कहीं भूकम्प आदि जैसे जहाँ कारण जुटते हैं वहाँ वैसे होने लगता है।

(४) प्रत्येक पदार्थ अपने नियत कारण से ही अपनी पर्याय उत्पन्न करेगा। अपने-अपने नियम उपादान तथा निमित्त कारणों के विना उनका प्रादुर्भाव 'न भूतो न भविष्यति' (न हुआ और न

होगा) । मनुष्य में मरने की शक्ति विद्यमान है और विष उसका निमित्त कारण है।

(५) समस्त संसार न कभी नष्ट हुआ था और न होगा ही। क्योंकि ऐसे सर्व विनाश का कोई कारण नहीं। इससे यह बात स्वयं सिद्ध है कि संसार को न तो किसी ने बनाया था, न बनावेगा और किसी ने इसे न बिगाड़ा था न बिगाड़ेगा।

समाधान

(१) विद्यमान पदार्थ और अविद्यमान पदार्थ से लेखक का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। यदि वह विद्यमान का अर्थ भावपदार्थ और अविद्यमान का अर्थ अभाव पदार्थ समझता है तो फिर नाश का अर्थ भी स्पष्ट करना चाहिए था। नाश का अर्थ यदि अभाव होना और उत्पत्ति का अर्थ अभाव से भाव होना है तो फिर उसके माने सिद्धान्त का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता। ऐसी अवस्था में प्रलय का अभाव किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? विद्यमान अथवा सत् पदार्थ दो प्रकार के हैं। एक तो अविनाशी नित्य पदार्थ और दूसरे विनाशी अनित्य पदार्थ। यदि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का यह विचार किसी भी प्रकार थोड़ी देरके लिए कोई ठीक मान ले तो प्रश्न यही उठेगा कि घड़ा क्या है? यह विद्यमान है और सत् है वा नहीं? यदि यह विद्यमान वा सत् नहीं है तो इस बात का प्रामण दो कि क्यों नहीं? जन्म-जन्मान्तर में भी इस को प्रमाण से असत् वा अविद्यमान सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। जब घड़ा विद्यमान और सत् है तथा इसका विनाश होता है तो फिर कैसे यह नियम बना लिया गया कि विद्यमान सत् पदार्थ का विनाश नहीं होता है। अतः सिद्धान्त यह है कि जो विद्यमान वा सत् पदार्थ अविनाशी हैं उनका विनाश नहीं होता है। परन्तु जो कार्य पदार्थ हैं और विनाशी हैं उनका विनाश होता है। जगत् के सूर्य, पृथ्वी, शरीर आदि कार्य पदार्थ विनाशी और अनित्य हैं अतः इनका विनाश

होता है।

सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती है–इससे क्या भाव आप लेते हैं। यदि इससे यह भाव लेते हैं कि भाव का कभी अभाव नहीं होता और अभाव का कभी भाव नहीं होता तो आप जैनधर्म के विरुद्ध आलाप कर रहे हैं। यदि इसका भाव कुछ और है तो फिर संसार के विनाश और उत्पत्ति का इससे निषेध नहीं बन सकता है।

इसके अतिरिक्त आप तो सप्तभङ्गी नय को मानने वाले हैं। इसके अनुसार किसी पदार्थ का सत् वा असत् होना, किसी में 'हां' वा नहीं का होना, भाव वा अभाव का निश्चय सिद्धान्त रूप से किया ही नहीं जा सकता है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ अनाद्यनन्त है, यह कथन वदतोव्याघात है। संसार में घट, पट तथा पहाड़ पृथ्वी, चन्द्र सूर्य, मकान आदि ऐसे भी कार्य पदार्थ हैं जो न अनादि हैं और न अनन्त हैं। शरीरों की अनादिता और अनन्तता किसी भी प्रकार सिद्ध की नहीं जा सकती है। अतः नित्य पदार्थों की अनाद्यनन्तता है और अनित्य एवं कार्य पदार्थों की सादिता और सान्तता है।

(२) जड़ और चेतन के वे साधारण ढाँचे कौन-से हैं जिनका परिवर्त्तन नहीं होता। केवल कथन-मात्र को प्रमाण तो माना नहीं जा सकता। चेतन और जड़ दोनों प्रकार के पदार्थ अविनाशी ही हैं––यह सिद्धान्त आपने किस प्रकार निश्चित कर लिया? केवल अपने सर्वज्ञों की सर्वज्ञता पर ही वा कोई प्रमाण भी है। चेतनों के शरीर अविनाशी कहाँ हैं? और घड़े आदि कार्य पदार्थ जो जड़ हैं वे कहाँ अविनाशी हैं? आप की बातें सर्वथा ही कट जाती हैं।

यदि विशेष प्रकार का ढाँचा कुछ न कुछ परिवर्त्तित होता रहता है तो क्या यह परिवर्त्तन विना कार्य-कारण-नियम के होता है। यदि यह विना कार्यकारणनियम के होता है तो ऐसा होना सर्वथा असंभव है। यदि कार्य-कारण-नियम से यह परिवर्त्तन होता है तो

संसार के समस्त कार्य पदार्थों में वह क्योंकर लागू होगा ? उसको रोक कौन सकेगा ?

(३) जब आप यह स्वीकार करते हैं कि पदार्थों के पर्याय (दशा) बदलने में पदार्थ की अन्दरूनी निजी शक्ति और दूसरे वाह्य इतर साधन कारण हैं। फिर पर्याय ही बदलते हैं--पदार्थ नहीं बदलते यह किस प्रकार मान लिया। परिवर्त्तन ही परिवर्त्तित नहीं होते हैं बल्कि परिवर्त्तन वाली वस्तु भी परिवर्त्तित होती है। यदि परिवर्तन वाली वस्तु परिवर्त्तित न हो तो परिवर्त्तन किस में परिवर्तन ग्रहण करेंगे। यह मानना कि पदार्थ की अंदरूनी निजी शक्ति और वाह्य इतर कारण परिवर्तन के कारण हैं और साथ ही यह भी मानना कि पर्याय केवल पर्यायों में परिवर्त्तित होते हैं वदतो-व्याघात दोष से ग्रस्त है।

कार्यद्रव्यों में देखा जाने वाला पर्याय वा परिवर्त्तन काल के कारण है। काल अविनाशी पदार्थों को नहीं घेरता है। वह कार्य पदार्थों को ही घेरता है। अतः जगत् के कार्य पदार्थों में काल का व्यवहार मानने पर उन्हें अविनाशी वा अनाद्यनन्त कहना भी बुद्धि से एक प्रकार का विद्रोह करना है।

गर्मी, भूकम्प आदि का जगत् के पदार्थों पर प्रभाव पड़ता है वा नहीं। यदि पड़ता है तो फिर इनकी अनाद्यनन्तता किस प्रकार रह सकती है। यदि प्रभाव नहीं पड़ता है—यह मानो तो प्रत्यक्ष आदि का विरोध है आप का अपना पक्ष भी नहीं बनता। कारण अपने आप जुटते हैं वा जुटाने से जुटते हैं। यदि आप जुटते हैं तो सर्वत्र एक ही समय में क्यों नहीं जुटते। तथा प्रभाव में अन्तर क्यों होता है। यदि जुटाने से जुटते हैं तो आप के सिद्धान्त का अपने आप खण्डन हो जाता है।

(४) जब प्रत्येक पदार्थ अपने नियत उपादान कारण से उत्पन्न होता है--यह नियम आप को स्वीकार्य है तो प्रत्येक पदार्थ का उपादान रूप में होना भी आप को स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि

उपादान कारण का नियम यह है जिस उपादान कारण से जो कार्य वस्तु उत्पन्न होती है उसी उपादान में उस का लय भी होता है। जब जगत् के प्रत्येक कार्य पदार्थ का अपने नियत उपादान से उत्पन्न होना नियत है तो अपने उपादान में मिलना अनियत कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं।

जब आप उपादान और निमित्त कारण को स्वीकार करते हैं तो उत्पत्ति और प्रलय से किस प्रकार बच सकते हैं ? उपादान स्वयं कार्य-रूप में निमित्त की निमित्तता से उत्पन्न होता है और समयान्तर में निमित्तता से पुनः अपना रूप भी धारण करता है। उपादान-कारण परिणामी होता है अतः उसमें निमित्त कारण की निमित्तता से उत्पत्ति और विनाश दोनों निश्चित होंगे। आप एक भी उदाहरण इसके विरोध में नहीं दे सकते। जब मनुष्य में मरने की शक्ति है तो आप उसे अर्थात् उसके शरीर को अनाद्यनन्त और अविनाशी किस प्रकार कह सकते हैं।

(५) संसार के नाश होने का यह अर्थ नहीं है कि उसका सर्वथा ही अभाव हो जाता है। कार्य-संसार का अपने कारण-रूप में होना प्रलय वा नाश है और कार्यरूप में आना संसार वा उत्पत्ति है। इसका प्रलय होने का अर्थ सर्वथा अभाव होना नहीं है। जब संसार कार्यरूप है और यह नियत कारण से उत्पन्न हुआ है और कार्य-कारण का इसमें नियम पाया जाता है तो यह कहना कि न किसी ने इसे बनाया था और न बनावेगा आदि—सर्वथा ही निराधार और व्यर्थ है। जब जगत् की उत्पत्ति का कारण आप उपादान और निमित्त स्वीकार करते हैं तब यह कहना ग़लत है और सर्वथा भ्रान्त है कि जगत् के विनाश का कोई कारण नहीं है।

जैनधर्म जिसको संसार कहता है वह सप्रयोजन है वा निष्प्रयोजन है। यदि सप्रयोजन है तो वह अविनाशी और अनाद्यनन्त कैसे ? यदि कहें कि निष्प्रयोजन है तो ठीक नहीं क्योंकि ऐसी बात कोई बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता है।

पुनः कहना पड़ेगा कि जैन धर्म के संसार में नियम है वा अनियम है ? यदि नियम है तो उसका कारण क्या है ? यदि अनियम है तो क्या अन्धेरगर्दी है ? जगत् में प्रत्येक वस्तु नियम पर आधारित है। अन्धेरगर्दी पर नहीं ।

संसार कहा जावे वा जगत् कहा जावे अथवा सृष्टि कहा जावे वा सर्ग कहा जावे--सभी शब्द जगत् की सादि और सान्तता के सूचक हैं। संसार को अनाद्यनन्त एवं अविनाशी नहीं कहा जा सकता है। अतः जैनधर्म का यह सिद्धान्त सर्वथा ही सारहीन है।

चतुर्थ खण्ड

वेद

वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

इस खण्ड में उन आक्षेपों पर विचार किया जावेगा जो 'सत्यार्थ-दर्पण' के कर्त्ता ने वेद के ईश्वरीय होने के सम्वन्ध में "वेदों को ईश्वरीय ग्रन्थ समझना भूल है" शीर्षक से अपनी पुस्तक में लिखा है। पहले आक्षेपों को क्रम से रखकर पुनः उसी क्रम से उत्तर दिया जावेगा।

आक्षेप

(१) किन्तु ऐसा न करते हुए उन्होंने (स्वामी जी महाराज ने) इस कहावत को चरितार्थ किया कि "दूसरे के नेत्र की फूली दीखती है किन्तु अपना टेंट नज़र नहीं आता है।"

(२) वेद की रचना यदि ईश्वर ने की है तो तीन प्रकार से हो सकती है--(१) स्वयं ईश्वर ने कलम-दवात लेकर वेदों को लिख डाला हो, (२) ईश्वर बोलता गया हो, कोई पढ़ा-लिखा हुआ मनुष्य उसे लिखता गया हो, (३) ईश्वर लोगों के हृदय वा कान में वेद सुना गया हो और उन लोगों ने पुस्तक-रूप में लिखकर दूसरों तक पहुँचाया हो। परन्तु ये तीनों प्रकार संभव नहीं क्योंकि ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक आदि है।

(३) स्वामी जी इन पुस्तकों को ईश्वर-प्रणीत कहते हैं जब कि ये उन ऋषियों के लिखे हुए हैं जो संसारी थे, रागद्वेषी आत्मा वाले थे। स्वामी जी का यह उत्तर भी ठीक नहीं कि 'परमेश्वर को सर्व-

शक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेद-विद्या का उपदेश करने में मुखादिक की कुछ भी अपेक्षा नहीं है।"

(४) वेदों के रचयिता अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा कहे जा सकते हैं। किन्तु हम कह सकते हैं कि वेदों के रचयिता चार-छः ऋषि नहीं सैकड़ों ऋषि हैं।

(५) ऋग्वेद का प्रारंभ मधुछन्दस् ऋषि जो कि विश्वामित्र का पुत्र था, उसने किया और समाप्ति अघमर्षण ऋषि ने की।

(६) ऋग्वेद में जो गीत (भजन) हैं उनका नाम सूक्त है। उन सूक्तों की एक-एक कली को ऋचा कहते हैं, इन ऋचाओं के समुदाय-रूप सूक्तों का संग्रह होने से ही वेद का नाम ऋग्वेद है। सब से पहले बनकर यही तैयार हुआ है। इसके पीछे इसीके आधार से यजुर्वेद बनाया गया। सामवेद तो प्रायः उन गीतों का समूह है जो गाने के योग्य समझे गए हैं। चौथा जो अथर्ववेद है वह तीनों वेदों से बहुत पीछे का बना हुआ है। मनुस्मृति आदि अनेक ग्रन्थों में इसका नाम नहीं पाया जाता। ऐसा मालूम होता है कि अथर्ववेद भोज राजा के भी पीछे बना है क्योंकि तत्कालीन अमरकोष में भी केवल तीन वेदों का ही नाम आया है।

(७) ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त पर तथा यजुर्वेद आदि के प्रत्येक मंत्र पर प्रारंभ में चार बातें लिखी हैं:--(१) इस मंत्र या सूक्त का बनाने वाला अमुक ऋषि है। (२) इसका देवता अमुक है। (३) इस मंत्र का अमुक स्वर है। (४) इसके गाने का अमुक छन्द है।

(८) ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का रचयिता मधुच्छन्दस् ऋषि है, द्वितीय सूक्त का भी मधुच्छन्दस् ऋषि है। द्वादश सूक्त का काण्व मेधातिथि ऋषि है। २४वें सूक्त का आजीगर्ति शुनःशेप, कृत्रिम वैश्वामित्र देवरात ऋषि लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप का इतिहास है। इसी प्रकार यजुर्वेद के मंत्रों पर भी ऋषियों को रचयिता लिखा गया हो।

(९) कुछ मंत्रों में उनके रचयिता ऋषियों के नाम लिखे हैं--**त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः**, ऋग्वेद १।३१।१; **यंत्वा देवासो मनवे दधुरिह**···**यं कण्वो मेध्यातिथिः**··· ऋग्वेद १।३६।१०; **शुनःशेपो ह्यह्वद्**···ऋग्वेद १।२४।१३; **त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये**···, ऋग्वेद १।१०५।१७; १।७८।१-२ में गौतम, १।१००।१७ में वार्षागिर, ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान, सुराध के नाम आये हैं।

(१) तैत्तिरीय ब्राह्मण को स्वामीजी ने वेदों के समान प्रमाण माना है। उसीके २२वें मंत्र में साफ लिखा है कि 'मैं उन ऋषियों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने वेदों को बनाया। स्वामीजी ने अग्नि, वायु आदि के परमात्मा अर्थ कर दिये हैं और वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए तमाम विज्ञान, गणित आदि की छाप लगाकर उन पर कलई की है।

(११) ऋग्वेदभाष्य का नमूना देखिये कि स्वामी जी का ईश्वर लोगों से क्या माँग रहा है--"दान और दुग्धादि धन को दीजिए," ऋग्वेद १।१६९।४; "हम लोग आपकी प्रशंसा करें, आप हम लोगों के लिए धनों को देओ" ऋ० ७।३०।४; आपका धन हम लोगों को प्राप्त हो और आप की गौ के हज़ारों सैकड़ों समूह को हम लोग प्राप्त होवें, ऋ० ४।३२।१८ आदि।

(१२) ऋग्वेद १।१२३।१० तथा १।१७९।४ में श्रृङ्गार रस का नमूना मिलता है।

(१३) अग्नि की प्रशंसा में बहुत-सी ऋचायें हैं, ऐसा स्वामी जी के भाष्य से प्रकट है। विचार कीजिए कि यह अग्नि की प्रशंसा अग्निदेवता की स्तुति में ऋषियों ने लिखी है? अथवा ईश्वर के उपदेश का यह नमूना है।

(१४) जब स्वामीजी के अनुसार वेदमंत्रों का रचयिता ईश्वर है तो फिर ऋग्वेद ७।२९।४ भाष्य में "आप हमारे पिता के समान उत्तम बुद्धिवाले हैं।" ऋ० १।११४।७ के भाष्य में "हमारे बालक

को मत मारो…पिता को मत मारो, माता और स्त्री को मत मारो"; --इन वाक्यों से क्या यह नहीं प्रकट होता है कि ईश्वर के भी माता, पिता और स्त्री आदि हैं। इसी प्रकार ७।५५।५-८ में जो वर्णन है उससे सोने की कैसी अच्छी तैयारी बताई गई है ? क्या ईश्वर के भी कोई घर है ?

(१५) "शत्रुओं को यों मार, उनको ऐसे जला, शत्रुओं का धन हमारे पास आ जाय, उनके घर अग्नि और वायु न रहे, उनके पशु हमारे यहां आ जाएं" इत्यादि स्त्रियों में आपसी लड़ाई के समय निकली हुई गालियों के समान बातों के सिवाय विशेष कोई भी व्यूह-रचना, शस्त्र-परिचालन आदि युद्धनीति नहीं है। इसे भी स्वामीजी के मतानुसार ईश्वर ही कहता है।

(१६) यजुर्वेद भाष्य में भी असम्बद्ध वाक्यों को देखिये :--

(क) हे मनुष्यो ! तुम मांगने से पुष्ट करने को गुदेन्द्रिय के साथ वर्तमान अन्धे साँपों को गुदेन्द्रिय के साथ,…इत्यादि। यजु० २५।७

(ख) हे विद्वन्। प्रशस्त वेग वाले उस बलवान् घोड़े का जो उदरबन्ध अर्थात् तङ्गी और अगाड़ी-पिछाड़ी और पैर बांधने की रस्सी है……वह सब तेरी हों। यजु० २५।३१

(ग) हे मनुष्यो। जो मक्खी चलते हुए शीघ्र जाने वाले घोड़े का भोजन करती है और कुछ मल-रुधिरादि खाती……वे सब तुम्हारे हों। यह सब व्यवहार विद्वानों में भी हों।

(१७) असंभव बातें भी हैं:--यजुर्वेद ३६।२ "मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपनी स्त्री सेवक आदि…वेदरूपी वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार करें। यहाँ परमेश्वर के स्त्री, नौकर आदि का वर्णन असंभव है। इसी प्रकार यजुर्वेद १३।५१ 'हे राजन् ! तू जो निश्चित बकरा उत्पन्न होता है, वह प्रथम उत्पादक को देखता है…उससे उत्तम गुणों, उत्तम सुख तथा उससे उत्तम बुद्धि की प्राप्ति हो। यहाँ बकरे से विद्वानों का पवित्र होना लिखा है। पुनः यजुर्वेद ३७।९ "पृथ्वी के बीच विद्वानों

के यज्ञस्थल में वेगवान् घोड़े की लेंडी (लीद) से तुझको······सम्यक् तपाता हूँ। यहाँ घोड़े की लीद से विद्वानों को तपाना लिखा है। यहाँ पर देखना चाहिए कि यह यज्ञशाला है कि घुड़साल है जो घोड़े की लीद से तपाने की बात लिखी है।

(१८) यजुः १८।२७ में 'मेरा तीन प्रकार भेड़ों वाला और इससे भिन्न सामग्री···; १८।२६ में "मेरे पीठ से भार उठानेहारे हाथी, ऊँट"; १८।१२ में "मेरे चावल और साठी का धान आदि"; यजु० २८।३३ में "बन्ध्या तथा गर्भ गिरानेहारी गौ और अभीष्ट वस्तु को धारण करता हुआ यज्ञ करे,' तथा २८।२३ में होम के लिए पाक-विशेष को पकाता और रोगों को नष्ट करनेहारी बकरी को बांधता हुआ यज्ञ करने में कुशल, तेजस्वी विद्वान् को स्वीकार करे" —इत्यादि वाक्यों से क्या विशेष ज्ञान प्राप्त होता है ?

(१९) यजुर्वेद ३०।१६; २४।३०; में हिंसक कथन के उदाहरण हैं। १९।२०; १३।८, में जीव-हिंसा का वर्णन है।

(२०) यजुर्वेद ६।१४; १९।७६, तथा २३।१९-३१ मंत्रों में अश्लीलता का वर्णन मिलता है।

(२१) यजुर्वेद २२।९-१० और पुनः २३।४५-४६ में वही मंत्र पुनः आने से पुनरुक्त दोष है। अर्थात् इस २३वें अध्याय में ४ मंत्र व्यर्थ दो बार लिख दिये हैं। इसी प्रकार ३७।८ मंत्र में बार-बार एक ही वाक्य को दोहराया गया है।

(२३) यजुर्वेद ३०।२१ में सांप को उत्पन्न करना लिखा है और १३।७ में सर्पों का शस्त्र औषध आदि से निवारण करना लिखा है। यह परस्पर विरुद्ध कथन ईश्वर के ग्रन्थ में पाया जा रहा है।

(२३) ऋग्वेद सातवाँ मण्डल वसिष्ठ ऋषि का बनाया हुआ है।

(२४) यजुर्वेद १२।४ के भाष्य में लिखा है "वामदेव ऋषि ने जाने वा पढ़ाये···"; ऋग्वेद "इयं शुष्मेभिः" मंत्र में यास्क के निरुक्त के वर्णनानुसार (तत्रेतिहासमाचक्षते) इतिहास पाया जाता है।

इसी प्रकार देवापि का भी इतिहास पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ये मंत्र इन ऋषियों के बनाये हैं।

समाधान

(१) महर्षि दयानन्द के विषय में तो यह कहावत चरितार्थ नहीं होती है। हां! जैनधर्म के सर्वज्ञों के विषय में और उनके अनुयायी 'सत्यार्थदर्पण' के कर्त्ता के विषय में यह कहावत पूर्णतया चरितार्थ है। जैन शास्त्रों की गणित, खगोल, तीर्थङ्करों के शरीर और आयु आदि के गपोड़े पहले प्रकरणों में स्थान-स्थान पर दिखाये गए हैं। उनको देखकर स्वयं पाठक समझ सकेंगे कि यह कहावत किस प्रकार इन जैनधर्मियों पर चरितार्थ है। जिस जैनधर्म में कई कोसों के शरीर माने गए हैं उस धर्म के अनुयायियों को और उस धर्म के सर्वज्ञों को टेंट नजर आ ही कैसे सकता है।

(२) 'सत्यार्थदर्पण' के कर्त्ता ने जो प्रकार अपनी कल्पना से वेद की रचना के विषय में दिये हैं उन्हें महर्षि ने कहाँ पर स्वीकार किया है—यह तो बताना चाहिए था। अपने-आप कल्पना करना पुनः उसी आधार पर दूसरे पर उसे मढ़कर खण्डन करना कोई विद्या की बात नहीं है। यदि विद्या और ज्ञान का तनिक भी भरोसा है और वह आप में थी तो स्वामी जी महाराज के वचनों का खण्डन कर दिखाते। जब आप को किसी बात का कुछ भी पता नहीं है तो फिर यह व्यर्थ का आडम्बर क्यों किया और इस से जैनधर्म को क्या लाभ पहुँचेगा? महर्षि दयानन्द ने वेद पुस्तक को ईश्वर-कृत कहाँ पर स्वीकार किया है? वेद ईश्वरीय ज्ञान है—यह तो उनका मानना है परन्तु वेद की पुस्तकों को ईश्वर ने लिखा वा बनाया—यह कहीं पर भी उन्होंने नहीं लिखा है। आप की समझ की स्थिति तो यह है कि आप ज्ञान वा मंत्रसंहिता को पुस्तक अथवा ग्रन्थ समझ रहे हैं।

निराकार, सर्वव्यापक ईश्वर जड़ नहीं है। वह चेतन है और

सर्वज्ञ है। साथ ही सर्वशक्तिमान् भी है। विना हस्त आदि अवयवों के जब वह सृष्टि के पदार्थों की रचना करता है तो विना मुख के वह वेदज्ञान का उपदेश भी कर सकता है। वेदज्ञान के उपदेश के लिए उसे आप की तरह के हलन-चलन की आवश्यकता नहीं है।

ईश्वर ने वेद ज्ञान का प्रकाश ऋषियों के हृदय में किया। अतः मुख से उपदेश देने की आवश्यकता ही क्या पड़ी? जब मन में विना मुख के अनेकों वाक्यों का उच्चारण होता रहता है तब फिर ईश्वर द्वारा ज्ञान के उपदेश के लिए मुख की क्या आवश्यकता रही? महर्षि ने इस प्रकार के तर्कों का खण्डन भली प्रकार अपने ग्रन्थों में कर दिया है। उन ग्रन्थों को पढ़कर समझ लेना चाहिए।

ईश्वर के सर्वव्यापक होने से उसका उपदेश चार ऋषियों में ही क्यों आया? वह ज्ञान तो सर्वत्र आना और होना चाहिए था। इसका समाधान यह है कि आकार चाहे जितना बड़ा हो प्रतिबिम्ब उतनी दूर पड़ता है जितनी दूर तक शीशा हो। इसी प्रकार ज्ञान का सर्वत्र उपदेश होने पर भी वह ज्ञान चार ऋषियों को ही मिला क्योंकि उसके ग्रहण करने के योग्य वे ही थे अन्य नहीं। महर्षि ने 'ऋग्वेदादिभाष्य' भूमिका में अनेकों शंकाओं का समाधान कर दिया है। उन्हें वहाँ पर ही देखना चाहिए।

(३) महर्षि दयानन्द इन पुस्तकों को ईश्वर द्वारा प्रणीत कहते हैं—इसका कोई प्रमाण उद्धृत करना चाहिए था। स्वामीजी महाराज वेद के ज्ञान को ईश्वर प्रदत्त मानते हैं। आपको पुस्तक वा ग्रन्थ और ज्ञान में भेद ही नहीं ज्ञात होता तो क्या किया जावे।

अग्नि, वायु, अङ्गिरा और आदित्य रागद्वेषी नहीं थे। वे ऋषि थे। उन्हें जो ज्ञान मिला उसको वैसा ही प्रकट किया। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता बतावें कि रेकार्ड वा रेकार्ड करने वाली मशीन वक्ता के बोले से अधिक बोलती है वा न्यून बोलती है? साधारण व्यक्ति भी जानता है कि वह न अधिक करती है और न कम करती है जैसा का तैसा कहती है। इस प्रकार इन ऋषियों को वेद ज्ञान से पूर्व कोई

ज्ञान था नहीं और न उससे अधिक वा न्यून अन्य कोई ज्ञान ही था। फिर ये कम करते वा अधिक करते इस बात का प्रश्न ही किस प्रकार उठ सकता है। इन ऋषियों में ग्रहणमात्र की शक्ति थी। उसी के अनुसार परमेश्वर प्रदत्त-उपदेश को ग्रहण किया और वैसा का वैसा लोगों को प्रकट किया।

महर्षि का यह तर्क ठीक है और सर्वथा ठीक है कि ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने से ऋषियों के हृदय में वेद का प्रकाश करने के लिए मुखादिक की आवश्यकता नहीं। जब हमारा निराकार मन विना मुख के शब्दोच्चारण भी कर लेता है तो फिर ईश्वर के लिए मुख की आवश्यकता क्योंकर पड़ सकती है। जब दूसरे पर कोई बात वाणी द्वारा प्रकट करनी होती है तब मुख की आवश्यकता होती है। परन्तु अपने लिए वा ईश्वर द्वारा ऋषियों के हृदय में ज्ञान का प्रकाश करने के लिए मुख की वा वाणी से बोलने की आवश्यकता नहीं है।

(४) वेदों के रचयिता न अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा हैं और न वेदों के रचयिता चार, छः वा सैकड़ों ऋषि ही हैं। ऐसे कोई भी प्रमाण सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने नहीं दिये जो इस बात को सिद्ध कर सकें। विना प्रमाण के केवल कथन-मात्र से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है।

(५) ऐसा एक भी प्रमाण न तो उपलब्ध है और न सत्यार्थ-दर्पण के कर्त्ता ने ही दिया कि जिससे यह सिद्ध हो सके कि ऋग्वेद का प्रारंभ मधुच्छन्दस् ऋषि ने किया और समाप्ति अघमर्षण ऋषि ने की।

(६) ऋग्वेद में मंत्र हैं, भजन नहीं। सूक्त कई मंत्रों के समूह का नाम है। कली का नाम ऋचा नहीं है। आप के इस वर्णन से ही ज्ञात होता है कि वेदों के विषय में आप को किंचित् भी ज्ञान नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यजुर्वेद बनाया गया, यह भी आप की बात ग़लत है। सामवेद में ऋचायें हैं परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि वह

ऋग्वेद के आधार पर बनाया गया है। इसके लिए मेरा सामवेद भाष्य देखें। वेद चार हैं और कोई किसी के आधार पर नहीं और किसी ऋषि ने इन्हें नहीं बनाया है--इत्यादि बातों को मेरी पुस्तक "दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश में विस्तार से देखा जा सकता है।

अथर्व वेद बहुत पीछे का है और इसका मनुस्मृति आदि में नाम नहीं है--यह कथन भी अप्रामाणिक है। जब ऋग्वेद में ही १०।६०।६ मंत्र में छन्दांसि से अथर्ववेद का ग्रहण है तो फिर अथर्ववेद को बहुत पीछे का कहना किसी प्रकार से प्रामाणिक नहीं।

मनुस्मृति में तीन वेदों का ही नाम आया है, यह कथन भी ठीक नहीं। वहाँ पर "वेदत्रयात्" पद यज्ञ की परिभाषा के अनुसार प्रयुक्त किया गया है और ऋग्, यजु: और साम शब्द भी यज्ञ की परिभाषा के हैं। चारों वेदों के मंत्रों की संज्ञा तीन प्रकार की ही है और वह है ऋक्, यजु: एवं साम रूप में। चूंकि तीन ही प्रकार के मंत्र चारों में पाये जाते हैं अत: उनको वेदत्रयी वा त्रयीविद्या के नाम से वर्णन कर दिया गया है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वेद तीन ही हैं। वेद तो चार हैं परन्तु उनके मंत्रों के प्रकार तीन हैं। इस परिभाषा को जो नहीं समझता है वह वैसा ही अण्ड-बण्ड मारता फिरता है जैसा कि 'सत्यार्थदर्पण' के कर्त्ता ने किया है।

अमर कोष का जो प्रमाण आपने दिया है उससे भी आप की बात तो सिद्ध होती नहीं, आप की अनभिज्ञता ही सिद्ध होती है। श्लोक इस प्रकार है--

श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयीधर्मस्तु तद्विधिः
स्त्रिया मृक्साम- यजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी ।

अर्थ--श्रुति शब्द स्त्री लिङ्ग है। इसको आम्नाय और त्रयी भी कहा जाता है। धर्म उसकी विधि है। ऋक् स्त्री लिङ्ग है तथा साम और यजु: को मिला कर ये तीन वेद=विद्याये हैं अत: त्रयी हैं।

यहाँ पर भी उस उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ही इसे त्रयी कहा गया है। अतः अमरकोष का प्रमाण भी आप के पक्ष का साधक नहीं है। राजा भोज के बाद अथर्ववेद बना इसका कोई भी प्रमाण नहीं है। वेद से चार संख्या का ग्रहण किया जाता है अतः वेद चार ही हैं, तीन नहीं। मेरी पुस्तक दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश और वैदिक ज्योति में इस विषय पर विशेष विचार किया गया है।

(७) जिन चार बातों का आपने सूक्त के प्रारम्भ और यजुर्वेद के प्रत्येक मंत्र के प्रारंभ में होना लिखा है। उनमें आपका प्रथम ही कथन ग़लत है। ऐसा कहीं पर नहीं लिखा है कि इस सूक्त वा मंत्र का बनाने वाला अमुक ऋषि है। इस सूक्त वा मंत्र का यह ऋषि है--इस कथन से यह किस प्रकार सिद्ध हो गया कि इस सूक्त का वा इस मंत्र का बनाने वाला यह ऋषि है। इसका द्रष्टा यह ऋषि है--ऐसा अर्थ क्यों नहीं माना जावे ? वस्तुतः ऋषि तो वेद मंत्रों के द्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं।

आप को वेद की परिभाषा का भी ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि आप को यह भी पता नहीं है। ऋक्, साम और अथर्व में सूक्त, हैं, यजुः में अध्याय और मंत्र हैं।

(८) ऋषि वेदमंत्रों के रचयिता नहीं, इस का विशद विवेचन मेरी वृहत् पुस्तक वैदिक-इतिहास-विमर्श में देखें। वहाँ पर पूरा ऊहापोह इस विषय में किया गया है। ऋग्वेद के जिन मंत्रों के ऋषि आप मधुच्छन्दस्, काण्व, मेधातिथि, देवरात और शुनः शेप आदि बता रहे हैं वे इनके कर्त्ता नहीं अपितु द्रष्टा है। वैदिक-इतिहास-विमर्श में इसका पूरा विचार कर दिया है अतः यहाँ पर पुनः लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण में कल्पित इतिहास दिया गया है, अनित्य इतिहास नहीं है। यह किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास नहीं है। इतिहास के विषय के निराकरणार्थ मैंने 'वैदिक इतिहास-विमर्श'' नाम की वृहत् पुस्तक ही लिख दी है। वहाँ पर इसे देखा जा सकता है। यजुर्वेद के किसी भी मंत्र पर यह नहीं

लिखा है कि अमुक ऋषि इस मंत्र का कर्त्ता है। सत्यार्थदर्पण के रचयिता का इस प्रकार से लिखना उसकी अनभिज्ञता का सूचक है।

(६) यह कहना कि कुछ मंत्रों में उनके रचयिता ऋषियों के नाम लिखे हैं--सर्वथा ही भ्रान्त धारणा है। वेदमंत्रों में जो ऋषि-नाम दिखाई पड़ते हैं वे किसी ऋषि-विशेष के नाम नहीं अपितु यौगिक पद हैं और अनेक यौगिकार्थों के वाचक हैं। ये व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। सत्यार्थदर्पण के लेखक ने जिस ऋग्वेदीय (१।३१।१) मंत्र का हवाला दिया है वही प्रमाण है कि अङ्गिरा ऋषि इस मंत्र में किसी ऋषि-विशेष का नाम नहीं है। यहां पर मंत्र में कहा गया है कि "हे अग्ने ! तू ही प्रथम अङ्गिरा ऋषि है। यदि अङ्गिरा ऋषि यहाँ पर किसी विशेष ऋषि का नाम होता तो फिर अग्नि को अङ्गिरा ऋषि कैसे कहा जा सकता था। यदि अग्नि ही अङ्गिरा ऋषि है तो फिर वह मंत्र की रचना कैसे कर सकता है। इसी प्रकार ऋग्वेद १।३६।१० में आये मनु, कण्व और मेध्यातिथि पद किसी ऋषि के व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। ये यजमान, मेधावी और विद्वान् के अर्थ देने वाले शब्द हैं। किसीके नाम नहीं। कण्व पद यास्कीय निघण्टु में मेधावी के अर्थ को देने वाला माना गया है। अङ्गिरस् और कण्व पदों के साथ ऋग्वेद में अतिशायिक प्रत्यय भी पाये जाते हैं। इससे भी सिद्ध है कि ये व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं। कण्वतम और अङ्गिरस्तम पद पाये जाते हैं। इन में तमप् प्रत्यय है। व्यक्तिवाचक नामों के साथ 'तमप्' प्रत्यय कहीं भी नहीं पाया जाता है।

इसी प्रकार त्रित का अर्थ त्रिशरीरस्थजीव अथवा त्रिकोण है। और भी अनेकार्थ इस शब्द के हैं। शुनःशेप, गोतम वार्षागिर, ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान और सुराधस् आदि व्यक्ति-वाचक नाम नहीं हैं। ये योगिक पद हैं। इन सबकी विस्तृत व्याख्या, इतना ही नहीं, ऐसे दो-तीन सहस्र पदों का अर्थ मैंने अपनी पुस्तक

'वैदिक इतिहास-विमर्श' में दिया है। इन सब को वहाँ पर ही देखना चहिए।

(१०) आप कोई एक भी स्थल ऐसा नहीं दिखा सकते हैं जहां पर स्वामीजी ने लिखा हो कि तैत्तिरीय ब्राह्मण वेदों के समान प्रमाण है। स्वामीजी महाराज ने वेद को स्वतःप्रमाण और ईश्वरीय ज्ञान माना है। परन्तु ब्राह्मणों को परतःप्रमाण, ऋषिकृत और वेदों का व्याख्यान माना है। असत्य के प्रयोग से कोई पक्ष सिद्ध नहीं किया जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहीं पर भी ऋषियों को वेदमंत्रों का रचयिता नहीं माना गया है। महर्षि ने अग्नि आदि वैदिक पदों के जो परमात्मा आदि अर्थ किये हैं वह सर्वथा उचित ही किया है। यही वैदिक आचार्यों और निरुक्त शास्त्र तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली है। स्वामीजी ने कलई नहीं की है बल्कि इन विज्ञानों को दिखाकर यह सिद्ध कर दिया है कि जैनधर्म के सर्वज्ञों को विज्ञान का तनिक भी ज्ञान नहीं था। वास्तविक विज्ञान वेदों में पाया जाता है। जैन सर्वज्ञों के विज्ञान की कलई पूर्व खण्डों में खोली जा चुकी है।

(११) ईश्वर लोगों से किसी वस्तु की माँग नहीं कर रहा है--वलिक प्रार्थना का क्या प्रकार होना चहिए और किस प्रकार प्रार्थी प्रार्थना करे वा करता है, आदि वातों का विज्ञान बताया गया है। ईश्वर जैनधर्म का क्षपणक वा भिक्षु नहीं की उसे कुछ किसी से मांगना पड़े। मांगने का कार्य तो जैनधर्म के सर्वज्ञों का है जो भिक्षावृत्ति के उपासक होते हैं।

(१२) वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं अतः उनमें यदि शृङ्गार रस की कोई बात आती है तो आपत्ति ही क्या हो सकती है? ऋग्वेद के जिन जिन स्थोंलों का आप उदाहरण दे रहे हैं वे गृहस्थधर्म से सम्बन्ध रखते हैं। गृहस्थ धर्म में शृङ्गार का स्थान है। अतः ऐसा वर्णन करने में,वुराई क्या है?

(१३) अग्नि की विविध प्रकार की संपत्तियाँ है। उसके

अनेकों गुण और कार्य हैं। अतः उसका वर्णन ऋचावों द्वारा किया गया है। यह अग्नि के गुणों और कार्यों का वर्णन है और विज्ञान है। ईश्वर का उपदेश सत्यविद्या के प्रचार के लिए है। यह भी एक सत्यविद्या है अतः इसका उपदेश ईश्वर ने किया है तो इसमें खराबी क्या आ गई ? आप ने कैसे समझ लिया कि यह नमूना ठीक नहीं ? अग्नि की प्रशंसा में यह ऋषियों द्वारा नहीं लिखा गया है। कोई भी ऋषि इन ऋचावों का कर्त्ता नहीं है।

(१४) यहां पर इस वाक्य में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। प्रार्थी प्रार्थना के प्रसङ्ग में कहता है कि 'आप हमारे पिता के समान हैं और उत्तम बुद्धि वाले हैं।' हमारे वालक को मत मारो, यह भक्त और यजमान की ओर कहा गया है। ईश्वर के कोई माता पिता नहीं हैं। परन्तु जैनधर्म के सर्वज्ञों के तो माता पिता होते ही हैं। उसे इसमें क्यों आपत्ति दीख पड़ी। ईश्वर का अपना कोई घर नहीं है। घर आदि का व्यवहार किस प्रकार किया जावे इसका उपदेश कर दिया गया है।

(१५) राजधर्म का वर्णन भी तो विज्ञान का एक अङ्ग है। अतः शत्रुओं को मारने आदि का वर्णन होना उचित ही है। रही बात व्यूह रचना की। उसका भी वर्णन वेद में मिलता है। परन्तु जब आप को वेद का परिज्ञान है ही नहीं तो व्यूह आदि आपकी समझ में आ ही नहीं सकता है।

व्यूह की रचना का परिज्ञान इस लिए भी आपको नहीं हो सकता है कि आप के यहां तो गर्भ में ही सारी व्यूह रचना गर्भस्थ जीव करता है। यहां पर इस बात की पुष्टि में एक वर्णन प्रस्तुत किया जाता है।

चादमल स्थानक वासी जैन ने दि० ब्र० सुन्दर लाल जैन की रची 'कल्पित कथा समीक्षा' नामक पोथी का खण्डन 'प्रत्युत्तर' नाम की पोथी में दिया है, उसमें वे लिखते हैं :—

"देखो आप की दिगम्बरी महा पुराण में लिखा कि ६

लाख मील का हाथी आया था। तो क्या महानुभाव! उस समय महा पुराण के लेखक और आप दोनों को आप की समाज की ओर से हाथी की लीद उठाने के लिये मुकर्रर किया होगा (पृ० ३०१)

दि० ब्र० जी ने 'प्रत्युत्तर' के खण्डन में 'पटपन्थ प्रकाश' में जो उत्तर दिया है उसका एक अंश यहां पर उद्धृत किया जाता है। "...अस्तु विशेष बात बढ़ाने में क्या, आपकी बात का जवाब आपके सूत्र द्वारा ही दिया जाता है। भगवतीसूत्र प्रथम शतक सातवां उद्देश पृष्ठ १८२ में आप के गौतम स्वामी आपके महावीर स्वामी से पूछते हैं कि 'अहो! भगवन् गर्भस्थ जीव गर्भ में मरकर नरक में किस तरह प्राप्त होता है?' इसका उत्तर महावीर स्वामी यों देते हैं—'अहो गौतम! कोई संगी जीव पंचेन्द्री राजा की रानी की कुक्षि में उत्पन्न होवे अर्थात राजपुत्र होवे। वहां उसको पूर्व परजायें बांधकर प्राप्त हुये पीछे पूर्व करणी के प्रभाव से वीर्यलब्धि वैक्रियक लब्धि की प्राप्ति होती है। वह गर्भस्थ जीव ऐसी बात सुने कि परचक्री की सेना आई है और अपने को दुःखी करेगी ऐसी बात सुनकर अवधार वह गर्भस्थ जीव अपने प्रदेश गर्भ से बाहर निकले और वैक्रियक समुद्घात से तथा-विध पुद्गलों को ग्रहण कर हाथी, रथ, पैदल, घोड़े वगैरह सेना को विकुर्वाण करके परचक्री की सेना के साथ संग्राम करे, द्रव्य की तथा राज्य की तथा धन की तथा इन्द्रियों के विषय की अभिलाषा कर आसक्त हुआ धन राज्य वैभव भोग वह काम का अपिपासु अतृप्त तन्मय बना हुआ तीन लेश्या अशुद्ध से ध्यानयुक्त कामभोग-भावना करता हुआ यदि उस समय काल करे वह जीव नरक गति में पैदा होता है।" चांदमल जी इस लेख को आप मिथ्या भी नहीं कह सकते क्योंकि इसमें पूछने वाले तो चार ज्ञान के धारी आप के गुरु गणधर जी और बतलाने वाले केवली ज्ञानी सर्वज्ञ आपके महावीर स्वामी हैं। चक्रवर्ती के कटक का प्रमाण तो आप जानते ही होंगे। अतः ज्यादा न सही कम-से-कम चक्रवर्ती के समान कटक तो उस

गर्भ में रहने वाले बालक को बनना ही पड़ा होगा, जिसमें १८ करोड़ ८४ लाख हाथी, ८४ लाख रथ, ८४ करोड़ पैदल प्यादे, ३ करोड़ गाये और भी इसके ऊपर खिदमतगार होंगे।[1]

सत्यार्थ दर्पण के कर्त्ता महोदय तो इस प्रकार के व्युह को मानने वाले हैं जो गर्भ में बन जाता है। उन्हें वेद में यह व्यूह कभी भी नहीं मिल सकता है। मिले भी कैसे ? वेद असंभव बातों का वर्णन नहीं करता है। वह तो ईश्वरीय ज्ञान है।

जिस प्रकार की युद्धनीति ऊपर बताई गई वह वेद में भला किस प्रकार मिलेगी ? वह तो गपोड़े की पुस्तकों में ही मिल सकती है।

(१६) क--यहाँ पर अंधे साँपों को गुदेन्द्रिय से ग्रहण करने की बात को उल्टा समझ कर आप भ्रम में पड़ गए। बात तो यह बताई गई है कि सांपो को उनकी गुदा के पास से पकड़ना चाहिए। यही पकड़ने का उत्तम तरीका है। परन्तु जब गुदेन्द्रिय का अर्थ पकड़ने वाला 'अपनी गुदा से' लगा लेता है तब गड़बड़ में पड़ जाता है। यही हाल आपका है। वस्तुतः साँप की गुदा के पास से साँप को पकड़ना चाहिए। पकड़ने वाले को अपनी गुदा से सांप पकड़ने का यत्न नहीं करना चाहिए। व्यवहार में भी यही है--'उसने उसे गर्दन से पकड़ लिया।" ऐसा ही भाषा का व्यवहार यहाँ पर भी है।

(ख) यहाँ पर घोड़ा रखने वाले को शिक्षा दी गई है कि वह घोड़ा बांधने की अगाड़ी पिछाड़ी भी रखे। फिर अनर्थ क्या हो गया ?

(ग) यहाँ पर यह बताया गया है कि घोड़े को गन्दा रखने पर मक्खी भिनभिनाया करती है। उस अवस्था से घोड़े को बचाना चाहिए। जिस प्रकार घोड़े को शिक्षित, साफ, स्वच्छ और बलिष्ठ रखा जाता है वैसे ही लोग अपने को भी रखें। विद्वानों में भी यह व्यवहार होना चाहिए।

---

१. यह सत्यार्थ प्रकाश की स्वामी वेदानन्दकृत टिप्पणी से उद्धृत।

यहाँ पर सब प्रकार से वेद में शिक्षा ही दी गई है। इसमें किसी प्रकार की कोई आपत्ति की बात है ही नहीं।

(१७) इसमें असंभवता क्या है--यह भी तो बतानी चाहिए थी। यहाँ पर ३६।२ में यह स्पष्ट है कि "जिस प्रकार मैं ईश्वर तुम में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और तुम्हारे सेवक आदि को वेद वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे तुम लोग भी किया करो। यहाँ पर परमेश्वर के स्त्री नौकर आदि का वर्णन नहीं है बल्कि मनुष्यों के स्त्री नौकर आदि का वर्णन है।

इसी प्रकार १३।५१ मंत्र के अर्थ में भी कोई असंभव बात नहीं है। जब आपको साधारण वाक्य भी समझने की शक्ति नहीं तो फिर इस प्रकार लिखने के लिए लेखनी ही क्यों उठाई ? वाक्य इस प्रकार है:--

"हे राजन् ! तू, जो निश्चित यह बकरा उत्पन्न होता है वह प्रथम उत्पादक को देखता है जिससे पवित्र विद्वान् उत्तम सुख और दिव्य गुणों के उपाय के प्राप्त होते हैं और जिससे वृद्धियुक्त प्रसिद्धि को प्राप्त होवें, उससे उत्तम गुणों, उत्तम सुख तथा उससे वृद्धि को प्राप्त हो।"

यहाँ पर सत्यार्थदर्पण के लेखक ने पदार्थ को लेकर उलटा वाक्य बनाने की कोशिश की है। वस्तुतः स्वामी जी का आशय यह है कि हे राजन् ! तू भी इनसे उसी प्रकार सुख आदि का लाभ उठा जिस प्रकार ये विद्वान् लोग उठाया करते है। यहाँ पर "हे राजन् ! तू" पदों को अन्वयपूर्वक "प्राप्त हो" के पूर्व लगा दिया जावे तो अर्थ अपने आप स्पष्ट हो जाता है। परन्तु जिसको प्रत्येक बात उल्टी ही दीखती है वह ऐसा क्यों करे ? यहाँ बकरे से विद्वानों का पवित्र होना नहीं लिखा है। "पवित्र हुये विद्वान्' में "पवित्र हुये" पद विद्वान् का विशेषण है। इसका सम्बन्ध "जिससे" से नहीं है। "पवित्र विद्वान् जिससे उत्तम सुख···" ऐसा वाक्य यहाँ पर है।

यजुर्वेद ३७।९ में घोड़े की लीद से जो तपाना लिखा है वह ठीक ही है। चूंकि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को चरक, सुश्रुत आदि का परिज्ञान नहीं है अतः वह ऐसी बातें कर रहा है। जिसको अर्श की बीमारी हो उसको घोड़े की लीद का धुवाँ तपाया जाता है कि मसे ढीले हो जावें। यह आयुर्वेदिक विज्ञान यहाँ दिखाया गया है। वैसे यज्ञप्रक्रिया में यह महावीर नामक यज्ञपात्र के पकाने की विधि में विनियुक्त है। महर्षि दयानन्द ने इसका आयुर्वेदपरक अर्थ दिखाया। यहाँ यज्ञस्थल का अर्थ है 'प्रयोग शाला' वा औषधोपचार का स्थान।

(१८) यहां पर मंत्रों में यह बतलाया गया है कि खेती, वार्त्ता, व्यापार आदि विविध व्यवहारों से उष्ट्र, भेड़, और अन्न आदि का लाभ उठाया जावे। "ये मेरे हों" इसका अर्थ है कि "ये मेरे लाभ के लिए हों।" इसी प्रकार गाय आदि पशु भी हमारे उपयोग के लिए हों और इन्हें प्राप्त कर हम यज्ञ आदि कार्यों में इनके घृत, दुग्ध आदि का प्रयोग करें। बन्ध्या गाय का होना भी होगा ही जब गायें होंगी। गाय होगी तो बैल भी उनमें हो सकते हैं और ऐसी भी गायें हो सकती हैं जो बन्ध्या हों। अतः उनकी भी तो रक्षा करनी ही होगी क्योंकि बन्ध्या होते हुए भी तो वे गायें ही हैं।

यज्ञ के लिए पाकविशेष पकाना ही पड़ता है। अन्यथा यज्ञ की सिद्धि किस प्रकार की जावे। बकरी के दूध से दमा आदि रोग दूर होते ही हैं। अतः बकरी भी घर पर बांधनी अर्थात् पालनी ही चाहिए। यज्ञ कराने के लिए कुशल तेजस्वी विद्वान् की हो आवश्यकता होती है। क्या ये सारी बातें विशेष ज्ञान नहीं हैं। कई कोश की लम्बी जूं तथा बिच्छू आदि के वर्णन में ही आप को विशेष ज्ञान दिखाई पड़ता है। इस बुद्धि की बलिहारी है।

(१९) हिंसा कहीं पर कर्त्तव्य है और कहीं पर अकर्त्तव्य है। फौजी और क्षत्रिय के लिए हिंसा धर्म है। इसी प्रकार राजा का धर्म है कि दुष्ट बन्य पशुवों आदि तथा शत्रुवों का विनाश कर राज्य एवं प्रजा

को रक्षा करे। ऐसे प्रसंगों पर यदि हिंसा का वर्णन आता है तो उसमें हानि क्या है ? क्या सेना को भी अहिंसा का ही पाठ लड़ाई में पढ़ाया जावे? आप कहना क्या चाहते हैं ?

(२०) यहाँ इन मंत्रों में किसी भी प्रकार की अश्लीलता नहीं है। ६।१४ मंत्र में आचार्य उपदेश करता है कि हे ब्रह्मचारिन् तुम अपने इन्द्रिय आदि पवित्र रखो और अपने चरित्र को पवित्र रखो। मैं ऐसा उपदेश करता हूँ और तुम्हें यही प्रेरणा देता हूँ। यहाँ पर "शुन्धामि" क्रिया अन्तर्भावीणिच् है। अर्थात् तुम अपने इन्द्रिय आदि को शुद्ध रखो, मैं ऐसा करने को तुम्हें प्रेरित करता हूँ। दिगम्बर बन कर फिरने में अश्लीलता नहीं और ब्रह्मचारी रहने के लिए इन्द्रियों की पवित्रता रखने मेंआपको अश्लीलता दिखाई पड़ती है। वाह रे! सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता। धन्य है आपकी बुद्धि।

२४।३० में पुरुष की लिङ्ग इन्द्रिय का धर्म बताया गया है कि यह दो कार्य करती है। एक तो गर्भस्थापन काल में वीर्य छोड़ती है और उससे अन्यथा अवस्था में मूत्र का परित्याग करती है। ये दोनों ही कार्य इसके हैं अतः इसे वश में रखकर गृहस्थ आदि धर्मों का पालन करना चाहिए। यहां भी कोई अश्लीलता नहीं है।

इसी प्रकार यजुर्वेद के २३।१६-३१ मंत्रों में भी कोई अश्लीलता नहीं है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को स्यात् महीधर पर अगाध श्रद्धा हो अतः यह ज्ञान उन्हें उसके फलस्वरूप मिला हो। वस्तुतः इन मंत्रों का अर्थ वैज्ञानिक है। तथा राज-प्रकरण का वर्णन करता है। इन में किसी प्रकार की अश्लीलता नहीं है।

(२१) वेदों में यदि कोई मंत्र कई बार आ गया है तो उसका भिन्नार्थ है। भिन्नार्थ को न जानने वाला उन्हेंपुनरुक्त समझ बैठता है। कारण यह है कि उसे पृथक्-पृथक् अर्थ का परिज्ञान नहीं है। जो भी मंत्र और मंत्रवाक्य कई बार आ जाते हैं वे विशेषार्थ के बताने वाले हैं। वेद में पुनरुक्तता का दोष है ही नहीं। इसके लिए मेरे प्रसिद्ध ग्रन्थ वैदिक-इतिहास-विमर्श को देखें। वहां पर इस विषय

का समाधान किया गया है। यहां पर विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं।

(२२) यहां पर भी कोई विरोध नहीं है। यजुर्वेद ३०।२१ में बताया गया है कि सरीसृप अर्थात रेंगने वाले सर्प आदि पृथिवी पर चलते हैं। वे पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं। उनका परिज्ञान रखना चाहिए। विविध प्रकार के सर्पों आदि का ज्ञान रखना एक विशेष विद्या है। परन्तु यदि सर्प काटने को आवे अथवा हानि पहुंचावे तो उसे मारना और काटने पर वा उसे दूर रखने के लिए औषध आदि को प्रयोग करना सर्वथा ही उचित कार्य है। दोनों दो प्रकार के कार्य हैं। अतः परस्पर विरोध का कोई प्रश्न नहीं।

(२३) ऋग्वेद का सातवां मण्डल वसिष्ठ ऋषि का बताया हुआ है इसमें कोई भी प्रमाण नहीं। यदि कोई प्रमाण था तो देना चाहिए था।

(२४) यजुर्वेद १२।४ मेंवामदेव को ऋषिविशेष कहां पर लिखा है। जब तक यह न सिद्ध कर दिया जावे कि वामदेव किसी विशेष व्यक्ति का नाम है तब तक यह कहना सुतराम् असंगत है कि यहां पर किसी का इतिहास महर्षि ने माना है। वामदेव का अर्थ पवित्र हुई आतमा है। उसके द्वारा जाने जाने से इस साम को वामदेव्य कहा जाता है। यास्क के जिस स्थल का उद्धरण दिया गया है वह अनित्य इतिहास का समर्थन नहीं करता है। इन मंत्रों की संगति तथा इस इतिहास सम्बन्धी धारणा का पूरा विवेचन एवं निराकरण मेरे वृहद् ग्रन्थ वैदिक-इतिहास-विमर्श में किया गया है। देवापि आदि की भी संगति वैज्ञानिक ढंग पर इसी ग्रन्थ में की गई है यास्क की दृष्टि से देवापि का अर्थ विद्युत् विभिन्न प्रक्रियावों के अनुसार होता है। अतः यह सिद्ध है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की समझ में यह बात इस लिए नहीं आ सकती है कि उसकी बुद्धि में तो जैनशास्त्रों की स्थिति ही चक्कर काट रही है। जैन शास्त्रों में जिन पूर्वों की चर्चा है उनकी प्रक्रिया

में रमे हुए व्यक्ति को वेद का ईश्वरीय ज्ञान होना किसी प्रकार बुद्धिसात् नहीं हो सकता है। वह तो लिखने और स्याही खर्च करने और भार की ही बात सोचता है। प्रेरणा से भी ज्ञान मिलता है-- इस बात को वह कैसे समझे ? यहां पर थोड़ा सा दिग्दर्शन कराया जाता है। नीचे लिखा उद्धरण श्री बच्छराज सिंघी कृत ग्रन्थ "जैन शास्त्रों की असंगत बातें" के प्रथम कलकत्ता संस्करण के ११२।११३ पृष्ठ से दिया गया है।--

"जैन शास्त्र नन्दी सूत्र में (जो मुनि श्री अमोलक ऋषि जी महाराज, दक्षिण हैदराबाद कृत भाषानुवाद सहित है) पृष्ठ १९५ से १९७ तक चौदह पूर्वों का वर्णन है। उसमें १४ ही पूर्वों के नाम और वे किन किन विषयों पर लिखे हुए हैं, बताते हुए प्रत्येक पूर्व के लिखने में कितनी स्याही खर्च हो सकती है इसकी कल्पना की है जो इस प्रकार है कि पहिले पूर्व के लिखने में एक हाथी अम्वा वाडी सहित स्याही के पात्र में डूब जाय जितनी स्याही खर्च होती है तथा दूसरे पूर्व में ऐसे ही दो हाथियों जितनी स्याही और तीसरे में चार, चौथे में आठ, पांचवें में सोलह इसी प्रकार प्रत्येक पूर्व में पहिले पूर्व से दुगनी स्याही बढ़ाते हुए शेष के चौदहवें पूर्व में ८१९२ हाथियों के डूबने जितनी स्याही की कल्पना की है जिसका यंत्र इस प्रकार दिया है--

पूर्वों के नाम	पदसंख्या	स्याही खर्च के हाथियों की संख्या
१. उत्पादपूर्व	१००००००००	१
२. अग्रीयणीपूर्व	९६००००००	२
३. वीर्यप्रवादपूर्व	७००००००	४
४. अस्तिनास्तिपूर्व	६००००००	८
५. ज्ञानप्रवादपूर्व	१००००००००	१६
६. सत्यप्रवादपूर्व	१००००००६	३२
७. आत्मप्रवादपूर्व	२६००००००००	६४

पूर्वों के नाम	पद संख्या	स्याही खर्च के हाथियों की संख्या
८. कर्मप्रवादपूर्व	१८००००००	१२८
९. प्रत्याख्यानपूर्व	८४००००	२५६
१०. विद्याप्रवादपूर्व	१००१००००	५१२
११. अबन्धपूर्व	२६००००००	१०२४
१२. प्राणप्रवादपूर्व	१५६०००००	२०४८
१३. क्रियाविशालपूर्व	९०००००००	४०९६
१४. लोकविन्दुसारपूर्व	१२५००००००	८१९२
	८३९६१०००६	१६३८३

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता के मस्तिष्क में तो इस उपरि प्रदर्शित धारणा ने घर किया हुआ है। वे शास्त्र को पूर्वों की दृष्ट और हाथी डूबने वाली स्याही की दृष्टि से अधिक समझते नहीं। फिर वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने की बात में उनकी बुद्धि कैसे जमे ? श्री छुल्लक निजानन्द ने भी अपनी पुस्तक ईश्वर मीमाँसा में वेदों के मंत्रों के प्रमाण देकर केवल पुस्तक मोटी करने की दृष्टि से अण्ड-बण्ड विना विषय का ध्यान रखे लिखा है। यहां ऐसी बातों का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। वेद से सम्बन्ध रखने वाले कोई विषय नहीं हैं अतः उनका यहां उत्तर भी नहीं दिया गया।

पंचम खण्ड

प्रकीर्ण

क्या जैनधर्म नास्तिकधर्म नहीं?

सत्यार्थ दर्पण के कर्त्ता ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४ से ११ पर इस बात का विचार किया है कि जैनधर्म नास्तिक धर्म नहीं, आस्तिक धर्म है। अतः महर्षिदयानन्द सरस्वती का जैन धर्म को नास्तिक धर्म कहना ठीक नहीं है। इस विषय पर उसने व्याकरण और कोष का सहारा लिया है। परन्तु अपना पक्ष सिद्ध करने में कुछ भी सफलता नहीं मिली है--यह पुस्तक देखने से सुतराम् ज्ञात हो जाता है। फिर भी यहां पर उसके विचारों का निराकरण किया जाता है।

सर्व प्रथम यहां पर कोष का आधार दिखाया जाता है। प्रसिद्ध कोषिकार अमरसिंह अपने अमर कोष में काण्ड १ श्लोक ८-१० तक में 'जिन' और 'बुद्ध' को एक माना है।[1] अतः जैन और बौद्ध भी एक ही ठहरते हैं। जब बौद्ध नास्तिक धर्म है और जैन भी उसी अर्थ को देता है तो फिर जैनधर्म का नस्तिक होना तो अपने आप सिद्ध हो जाता है। श्री राजा शिवप्रसाद जी जो स्वयं जैनी थे और महर्षि दयानन्द के विरोधी थे उन्होंने भी अपने 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ में जैन और बौद्ध को एक माना है। फिर महर्षि दयानन्द ने यदि ऐसा लिखा तो क्या अनर्थ हो गया। जो तथ्य है वही उन्होंने प्रकट किया।

---

१. सर्वज्ञः सुगतो बुद्धोधर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः।

अमरकोश १।८

'नास्तिक' शब्द पर प्रसिद्ध कोष 'शब्दकल्पद्रुम' में लिखा है कि **नास्ति परलोक ईश्वरो वेति मतिर्यस्य। अस्तिनास्ति दिष्टं मति: ४।४।६० इति ठक्। यद्वा, नास्ति परलोको यज्ञादिफलं, ईश्वरो वेत्यदिवाक्येन कायति शब्दायते इति कै शब्दे ड:...स च षड्विध:। माध्यमिक: १, योगाचार: २, सौत्रान्तिक: ३, वैभाषिक: ४, चार्वाक: ५, दिगम्बर: ६ ।**

अर्थात् परलोक अथवा ईश्वर नहीं है ऐसी मति जिसकी है वह नास्तिक है। पाणिनि के "अस्ति नास्तिदिष्टं मति:" ४।४।६० सूत्र से ठक् प्रत्यय करके यह शब्द निष्पन्न किया जाता है, अथवा परलोक, यज्ञादि फल, ईश्वर नहीं है, इत्यादि वाक्य से जो वाग्व्यवहार करता है वह नास्तिक है और इस अवस्था में यह शब्द नास्ति पूर्वक कै धातु से 'ड' प्रत्यय करके निष्पन्न किया गया है।...वह (नास्तिक) ६ प्रकार का होता है। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, चार्वाक और दिगम्बर।

इस प्रमाण से स्पष्ट ही जैनधर्म नास्तिक धर्म ठहरता है। यज्ञादि फल को न मानने वाला और फलदाता ईश्वर को न मानने वाला नास्तिक कोटि में आता ही है। यहाँ पर स्पष्ट 'दिगम्बर' को परिगणित भी कर दिया है।

महाकोश "वाचस्पत्यभिधान" में नास्तिक शब्द पर निम्न उल्लेख मिलता है:—

'नास्ति परलोकस्तत्साधनमदृष्टं तत्साक्षीश्वरो वा इति मतिर्यस्य ठक्। परलोकाभाववादिनि, तत्साधनादृष्टा-भाववादिनि, तत्साक्षिण ईश्वरस्यासत्ववादिनि च चार्वाकादौ, चार्वाकादिश्च चार्वाक: माध्यमिक: योगाचार:, सौत्रान्तिक:, वैभाषिक: दिगम्बरश्चेति षड्विध:।" अर्थात् परलोक नहीं, उसका साधन अदृष्ट नहीं, तथा उसका साक्षी ईश्वर नहीं—ऐसी मति जिसकी है वह नास्तिक है। यहाँ पर 'ठक्' प्रत्यय हुआ है। इसका अर्थ परलोकाभावादी, तत्साधनादृष्टाभाववादी, तत्साक्षी का अभाव माननेवाला, जैसे

चार्वाक आदि है। चार्वाक आदि से छः का ग्रहण है--चार्वाक माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और दिगम्बर। यहाँ पर भी स्पष्ट है कि जैनधर्म नास्तिक धर्म की ही कोटि में आता है। इस प्रकार कोश के प्रमाण और आधार से यह सिद्ध है कि जैनधर्म नास्तिक धर्म है।

दार्शनिक आधार पर भी जैनधर्म नास्तिक धर्म ही ठहरता है। अभी तक दार्शनिकों में जो प्रसिद्धि है उसके अनुसार चार्वाक, बौद्ध, और जैन नास्तिक धर्म ही माने जाते हैं। सिद्धान्त-चन्द्रिका १ आत्मप्रकरण पृष्ठ १२।१३ पर इस प्रकार लिखा गया है--"दिगम्बरस्तु देहातिरिक्तः देह परिमाणः आत्मा। सच दीपप्रभावत् संकोच-विकाशशाली इत्याह।" अर्थात् 'दिगम्बर मानता है कि आत्मा देह से अतिरिक्त है परन्तु देहपरिमाण है और दीपक की प्रभा के समान संकोच विकास वाला है। दिगम्बर को जैसा कोश के प्रमाणों से ऊपर बताया गया है, जैन कहा जाता है। श्रीभीमाचार्य ने भी अपने 'न्यायकोश' में नास्तिक शब्द पर ऐसा ही लिखा है। वहाँ पर ऐसा उल्लेख मिलता है--(ख)--**परलोक तत्साधनादृष्टाद्यभाववादी तत्साक्षिण ईश्वरस्यासत्ववादी·····नास्तिक-षड्विधः चार्वाकः बौद्धाश्चत्वारः दिगम्बरश्चेति**" अर्थात् परलोक, उसके साधन अदृष्ट तथा उसके साक्षी परमेश्वर का अभाव मानने वाला नास्तिक है। नास्तिक छः प्रकार के हैं चार्वाक, चार प्रकार के बौद्ध और दिगम्बर। इस प्रकार दार्शनिकों के माने विचारों के आधार पर भी जैनधर्म नास्तिक ही सिद्ध होता है।

श्रीभीमाचार्य के 'न्याय-कोश' में उसी स्थल पर स्पष्ट लिखा है--"दिगम्बरो जैनभेदः" अर्थात् दिगम्बर जैन का प्रकार है।

इसके अतिरिक्त एक विचित्र बात यह है कि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने शब्दस्तोममहानिधि कोश का जो प्रमाण दिया है वह सारा का सारा वाक्य उसके विपरीत जाता है। फिर भी उस प्रमाण को उद्धृत

कर अपने पक्ष का स्वयं ही उसने खण्डन कर दिया है--यह समझना चाहिए। वाक्य इस प्रकार है--

"परलोक इतिमतिर्यस्य ठक्। परलोकास्तित्ववादिनि। पृष्ठ १८५। नास्ति परलोकस्तत्साधनमदृष्टम् तत्साक्षीश्वरो वा इति मतिरस्य ठक्। परलोकाभाववादिनि, तत्साधनादृष्टाभाववादिनि, तत्साक्षिण ईश्वरस्यासत्ववादिनि चार्वाकादौ। पृष्ठ ६३४।

इसका अर्थ निम्न प्रकार है--परलोक है ऐसी मति जिसकी है वह आस्तिक हैं अर्थात् परलोक के अस्तित्व को मानने वाला।१८५। परलोक, उसका साधन अदृष्ट, तथा उसके साक्षी ईश्वर का अभाव है--ऐसी मति वाला नास्तिक है अर्थात् परलोकाभाववादी, तत्साधनादृष्टाभाववादी और उसके साक्षी ईश्वर का अभाव मानने वाला। जैसे चार्वाकादि।

यह प्रमाण स्वयं ही सिद्ध कर देता है कि जैनधर्म भी नास्तिक की ही कोटि में है। इसमें 'चार्वाक आदि' कहने से आदि पद में दिगम्बर का भी सन्निवेश है। यह यहाँ पर स्पष्ट झलकता है। ऊपर दिये गए प्रमाणों से यह सिद्ध भी होता है।

व्याकरण के आधार पर भी जैनधर्म आस्तिक धर्मनहीं सिद्ध हो सकता हैं। जिन सूत्रों से आस्तिक और नास्तिक पदों की सिद्धिहोती है वे भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा निम्न रूप में माने गए हैं।--

१. अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः। पाणिनि ४।४।६०

२. दैष्टिकास्तिकनास्तिकः। शाकटायन २।६१

३. नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्। दैष्टिमव्याकरण ६।४।६६

इन सूत्रों से आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक शब्द सिद्ध होते हैं। हेमचन्द के सूत्र में भी पाणिनि की ही भावना प्रतिविम्बित हो रही दीखती है। शाकटायन के सूत्र का और पाणिनि के सूत्रका परस्पर सामंजस्य सुतराम् स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में यह भी निश्चित है कि इन सभी आचार्यों के भाव भी एक ही होंगे। यदि कुछ अन्तर हो सकता है तो हेमचन्द्राचार्य की दृष्टि में हो सकता है क्योंकि वे जैन

थे। परन्तु पूर्वाचार्यों ने इतनी पक्की नीव जमा दी है कि उससे बाहर वे भी नहीं जा सकते हैं। उन्होंने भी 'परलोक' पद का परित्याग नहीं किया।

यह भी सर्वथा स्पष्ट है कि सभी आचार्यों और टीका, प्रटीका करने वालों ने इस 'परलोक' पद को स्वीकार किया है। अस्ति पर-लोक इति मतिरस्य आस्तिकः नास्ति पर-लोक इति मतिरस्य नास्तिकः--अर्थात् परलोक है ऐसा जिसका विश्वास है वह आस्तिक है और परलोक नहीं है--ऐसा जिसका विश्वास है वह नास्तिक है। इस 'परलोक' पद के मानने में किसी का भी मतभेद नहीं है।

परन्तु 'परलोक' का अर्थ क्या है ?--यह भी विचारणीय है। परलोक का अर्थ केवल 'लोकान्तर' ही तो हो नहीं सकता है। इह लोक से भी अतिरिक्त लोक है--इतना मानना ही इन सूत्रों में परलोक का अभिप्राय नहीं। परलोक का अर्थ जहां इस लोक से अतिरिक्त लोकान्तर वा जन्मान्तर आदि है वहां उसका साधनभूत कर्म का अदृष्ट भी है। विना अदृष्ट के तो परलोक प्राप्त हो नहीं सकता है। इसी प्रकार अदृष्ट के साक्षी ईश्वर को स्वीकार किये विना अदृष्टरूपी साधन अपने आप परलोक दे नहीं सकते हैं। अतः 'परलोक' शब्द से परलोक, उसका साधन अदृष्ट और उसके साक्षी ईश्वर का भी ग्रहण है। अतः आचार्यों को 'परलोक' से यही अभिप्रेत है और इसके अनुसार आस्तिक वह है जो परलोक में, अदृष्ट में और उसके साक्षी ईश्वर एवं उसकी व्यवस्था में विश्वास करता हो। इन में न विश्वास करने वाला नास्तिक है। जैन-धर्म का विश्वास ऐसा नहीं है अतः वह नास्तिक की कोटि में आता है।

इस प्रकार यह कोष, व्याकरण, और दार्शनिक विचारधारा के अनुसार सिद्ध है कि जैन धर्म नास्तिक है और महर्षि दयानन्द का उसे नास्तिककोटि में रखना सर्वथा ही संगत एवं युक्त है।

क्या जैन धर्म और बौद्ध धर्म एक नहीं हैं ?

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने 'क्या जैनधर्म बौद्ध धर्म की शाखा है ?' शीर्षक से लिखा है कि महर्षिदयानन्द का यह कथन ठीक नहीं कि जैन और बौद्ध धर्म एक ही हैं। लेखक ने कोई विशेष युक्ति एवं प्रमाण इस विषय में न प्रस्तुत कर केवल व्यर्थ ही स्याही और कागज का व्यय किया। है। परन्तु इससे भ्रम न उत्पन्न हो अतः वास्तविकता को यहां पर रखा जाता है।

१. अमरकोश का प्रमाण इससे पूर्व "क्या जैनधर्म नास्तिक धर्म नहीं है" शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है जिसके अनुसार 'जिन' और 'बुद्ध' एक ही सिद्धहोते हैं। सत्यार्थप्रकाश में भी इसका उल्लेख किया गया है। श्री राजा शिवप्रसाद जैनी होते हुए भी दोनों को एक मानते थे यह भी दिखाया जा चुका है। महर्षिने स्वयं भी इस विषय को सप्रमाण सिद्ध किया है।

(२) 'शब्दकल्पद्रुम' कोश में 'जिन' शब्द पर इस प्रकार लिखा है। जिनः अर्हत्। बुद्धः। अर्थात् जिन का अर्थ अर्हन् और बुद्ध है। 'जिनेन्द्र' पद पर इसी कोष में लिखा है कि (जिनानां इन्द्रः) बुद्धः इति हलायुधः। अर्थात् जिनेन्द्र का अर्थ बुद्ध है और हलायुध कोश का भी यही मत है।

(३) पुनः जैन' पद पर इसी कोश में लिखा है कि 'जैनः जिनोपासकः बौद्धः इति हलायुधः। अर्थात् जैन वह जो जिनका उपासक है अर्थात् बौद्ध।

(४) वाचस्चत्यभिधान' कोश में भी 'जिन' और 'जैन' शब्द पर क्रमशः इस प्रकार लिखा है:—जिनः १ बुद्धे अमरः २ अर्हन्नाम बौद्धभेदे, जिनेन्द्रः बुद्धे हलायुधः। अर्थात् जिनका अर्थ अमरकोश के अनुसार बुद्ध है तथा यह अर्हन्नाम का बौद्ध का भेद है। जिनेन्द्र का अर्थ बुद्ध है, ऐसा हलायुध का कथन है।

(५) ब्र० शीतलप्रसाद जैन दिगम्बर की पुस्तक 'जैनबौद्ध

तत्वज्ञान' से भी यह धारणा सिद्ध है कि जैन और बौद्ध एक ही हैं। इनके सिद्धान्त भी मिलते हैं। इस प्रकार यहां पर भी महर्षि की बात सिद्ध है।

जिन लोगों ने इन दोनों को पृथक्-पृथक् माना है वे इन के वर्तमान रूप के आधार पर ऐसा मानने लगे हैं। सर्वदर्शन-संग्रहकार को दर्शन के विषय में दृष्टिभेद मात्र दिखाना अभिप्रेत था। एकता स्थापित करना नहीं। सत्यार्थदर्पण के लेखक ने कोई ऐसे वास्तविक प्रमाण नहीं दिये हैं कि जिन पर कुछ अधिक ऊहापोह किया जावे। प्रमाणों के अभाव में प्रतिज्ञा अपने आप असिद्ध हो जाती है।

जैनधर्म की नवीनता

सत्यार्थदर्पण के प्रणेता ने जैनधर्म के उद्गम को प्राचीन सिद्ध करने लिए एक शीर्षक से अपनी पुस्तक के पृष्ठ ८९ से १०८ तक विचार किया है। इस प्रकरण की पूरी छानवीन करने पर यही ज्ञात हुआ कि इसमें भी कुछ तत्व नहीं है। प्रमाणभासों और कल्पनावों के आधार पर अपने पक्ष की पुष्टि का उक्त लेखक ने प्रयत्न किया है जो सर्वथा ही असफल है। यहां पर कुछ विचार इसी विषय में किया जाता है।

संसार में वेद से प्राचीन कोई पुस्तक और वैदिक धर्म से प्राचीन कोई धर्म नहीं है--यह इतिहासकारों और विचारकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। जैन और बौद्ध धर्म तो एक हैं और प्रति-क्रिया रूप में उत्पन्न हुये हैं। वैदिक धर्म की शिक्षाओं को जब लोगों ने उल्टे ढंग पर हिंसा आदि के रूप में प्रयुक्त किया तब यह धर्म प्रतिक्रिया रूप में उत्पन्न हुआ। वैदिक धर्म की प्राचीनता तो संसार में प्रसिद्ध है। महर्षि दयानन्द का अभिप्राय सर्वथा युक्तिसंगत है और वैदिक धर्म की प्राचीनता के साथ जैन धर्म की कोई तुलना नहीं हो सकती है।

महावीर स्वामी का महात्मा बुद्ध का समकालीन होना और उससे जैन धर्म का समय ढाई सहस्र वर्ष का ठहराना जैनधर्म की कोई अधिक प्राचीनता नहीं सिद्ध करता है। पांच हजार वर्ष तो यहां महाभारत के ही हो जाते है। वेद का ज्ञान तो सृष्टि के प्रारंभ में मिला और वह लगभग दो अरब वर्ष पुराना है। कहां दो अरब वर्ष का समय और कहां ढाई सहस्र वर्ष। यह तो समुद्र में विन्दु के बराबर भी नहीं है।

(१) व्यास ने वेदान्त-दर्शन में इस प्रचलित बौद्ध दर्शन का खण्डन नहीं किया है। ऋषि साक्षात्कृतधर्मा होते हैं अतः आगे पीछे जो शंकायें किसी बात में उठती हैं उन का समाधान पूर्वपक्ष उठाकर करते हैं। यही व्यासने भी किया। बाद में बौद्धों ने उसे ही अपना सिद्धान्त बना लिया। यही बात अन्य दर्शनों के विषय में भी है। इन दर्शनों में भी बौद्ध धर्म का खण्डन नहीं वल्कि जिस पूर्वपक्ष को उठाकर इन्होंने खण्डन किया है उसी को बाद में बौद्ध धर्म वालों ने अपने सिद्धान्त बना लिए हैं। अतः इस तर्क के आधार पर जैन और बौद्ध घर्म की प्राचीनता नहीं सिद्ध हो सकती है।

(२) योगदर्शन-कर्त्ता पतंजलि के सूत्रों पर व्यासभाष्य पाया जाता है। परन्तु पतंजलिका चन्द्रगुप्त के बाद होना और योगसूत्र-कार और महाभाष्यकार पंतजलि का एक होना आदि ऐसे विषय हैं कि जिन पर कोई प्रमाण नहीं उपस्थित किया गया है। जब तक कोई प्रमाण न दिया जावे तब तक केवल बातों से कोई पक्ष तो सिद्ध हो नहीं सकता है। विना प्रमाण के उस पर विचार भी क्या किया जा सकता है। षड्दर्शनो को ही वैदिक धर्म नहीं कहा जा सकता है। ये तो केवल वेद के उपाङ्ग है। इनमें भी वेदों की परम प्रमाणि-कता स्वीकार की गई है। ये वेद नहीं--वेद के उपाङ्ग है। वेद तो चार मंत्र-सहितावों को कहा जाता है जो ऋग्वेदादि के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे लगभग दो अरब वर्ष की हैं और किसी मानव को कृति नहीं हैं। छः दर्शनों को ही समूचा वैदिक धर्म वा वेद समझना वड़ी भारी

भूल है। छः दर्शनों का रचना-काल ढाई हज़ार वर्ष के पेटे में नहीं जाता। ये दर्शन पांच सहस्र वर्ष, और कई तो उससे भी पूर्व के ठहरते हैं। इस विषय का विवेचन मैंने अपनी पुस्तक 'दर्शन-तत्व-विवेक' में किया है जो अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

(३) पुराण तो अर्वाचीन हैं। उनमें यदि जैनधर्म का प्रमाण उल्लेख मिलता है तो उससे जैनधर्म की प्राचीनता नहीं सिद्ध होती है। भविष्य पुराण में विक्टोरिया आदि का भी वर्णन है। इससे विक्टोरिया आदि की प्राचीनता नहीं सिद्ध हो सकती है। पुराण जब प्रामाणिक ग्रन्थ ही नहीं तो उनके प्रमाण पर कोई वस्तु किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है। आपने पुराण और उनके जो प्रमाण दिये हैं वे तो और भी कपोल-कल्पित हैं।

(४) वेद को 'सत्यार्थदर्पण' के कर्त्ता ने सबसे प्राचीन माना है और उसमें जैनधर्म का उल्लेख दिखाने का जो दुःसाहस किया है वह और भी उपहासास्पद है। यहाँ पर उसका भी निराकरण किया जाता है।

(क) 'आदित्या त्वमसि०' इत्यादि जो मंत्र स्वकल्पित ऋग्वेद के नाम पर 'सत्यार्थदर्पण' के कर्त्ता ने दिया है उसको वह सात जन्म में भी वैसा ही ऋग्वेद में नहीं दिखा सकता है। उसने उसका हवाला ३० अ० ३ दिया है। भला ऋग्वेद का ऐसा हवाला आज तक किसी-ने क्या कभी देखा है? अनेक स्थानों के शब्दों को मिलाकर एक कर दिया है। यह स्वयं ही मंत्रों के शब्दों से मंत्र बनाने का प्रयत्न किया है जो छल और अनुचित कार्य है। "वृषभ" का अर्थ वृषभ-नाथ किया है। इससे जैनधर्म का ऋषभदेव कैसे आ गया। वेद में इन्द्र, बैल, सूर्य, बादल और शब्द तथा यज्ञ आदि को वृषभ कहा जाता है।

(ख) पुनः ऋग्वेद १।९१।१९ मंत्र को ३७। अ ३।१।६।२२ सूक्त ९१ आदि उल्टे-पुल्टे हवाले से देकर उस सोम देवता वाले मंत्र में आए हुए "सुवीरोऽवीरहा" का अर्थ महावीर कर लिया है।

बलिहारी है इस बुद्धि की ! भला महावीर का यज्ञ से क्या सम्बन्ध ? वहाँ पर 'अवीरहा' पद भी साथ में है । क्या इसका अर्थ महावीर को न मारने वाला 'सुवीर' महावीर कर लिया जावे ? यहां सुवीर का 'महावीर' तीर्थङ्कर अर्थ जन्म-जन्मान्तर में भी कोई सिद्ध नहीं कर सकता है ।

(५) ऋग्वेद ६।१९।११ 'मरुत्वन्तं वृषभम्०' का हवाला देकर 'वृषभ' का अर्थ जो 'वृषभनाथ' किया है वह भी ग़लत है । यहां पर 'वृषभ' शब्द इन्द्र का विशेषण है । इसका अर्थ 'वृषभनाथ' नहीं ।

(६) ऋग्वेद ३।४७।१ में भी आया 'वृषभ' पद इन्द्र का विशेषण है । इसी प्रकार ५।२८।४ मंत्र को जो ग़लत छापकर उसमें आये वृषभ पद का वृषभनाथ अर्थ किया है वह भी ठीक नहीं । वहाँ वृषभ अग्नि का विशेषण है ।

(७) ऋग्वेद ५।५२।५ में आये 'अर्हन्तः' पद और ऋग्वेद २।३३।१० में आये 'अर्हन्' पद से भी जैनधर्म के अर्हन् बुद्ध का वा किसी आचार्य का अर्थ नहीं निकलता है । ५।५२।५ में "अर्हन्तः" पद 'मरुतः' का और २।३३।१० में 'अर्हन्' पद सम्बोधनान्त रुद्र का विशेषण है। इसी प्रकार 'अरिष्ट नेमि' से नेमिनाथ कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

आगे चलकर वेद के किसी पद को इधर-उधर करके अथवा अपना मनमाना कल्पित मंत्र बनाने का प्रयत्न ग्रन्थकर्त्ता ने किया है, जो किसी वेद से सम्बन्ध नहीं रखता । इस प्रकार का कार्य कोई विद्वान् अथवा समझदार व्यक्ति कभी भी नहीं कर सकता है । यह एक प्रकार का धोखा है । यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि उक्त लेखक ने स्वयं भी पृष्ठ ९९ पर लिखा है : "यद्यपि आजकल वेदों में उपर्युक्त अनेक मंत्र नहीं मिलते हैं, किन्तु इससे यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि वेदों में ये मंत्र सर्वथा थे ही नहीं ।"

यह वाक्य स्वयं सिद्ध करता है कि उक्त लेखक ने वेद के

नाम पर अपने व्यर्थ के अंडबंड मंत्र बनाकर रखे जो अशुद्ध हैं। जब वेदों में नहीं हैं, और मंत्र हैं, तो आप को कहाँ से मिले? जहाँ से मिले उसका हवाला तो देना चाहिए था। लुप्त मंत्र आप पर कैसे उतर आये? आपके जिस ग्रन्थ में इन्हें वेदमंत्र लिखा है उसका हवाला और किस वेद का मंत्र है उसका हवाला यदि हिम्मत थी तो देना चाहिए था। व्यर्थ की झूठी गप्प से तो कुछ भी नहीं बन सकता है।

(८) यजुर्वेद ९।२५ के 'सनेमि' पद से किसी जैन तीर्थङ्कर का अर्थ नहीं निकलता। यजुः १९।१४ में आये "महावीरस्य नग्नहुः" में भी महावीर पद से महावीर स्वामी का अर्थ नहीं निकलता है। 'महावीर' यज्ञ का एक पात्र है। यजुः२५।१९ में 'अरिष्टनेमिः' भी नेमिनाथ का अर्थ नहीं देता है। केवल कल्पना और मिथ्या बातों के घोड़े पर चढ़कर यह आप नहीं सिद्ध कर सकते हैं कि वेदमंत्रों में आये इन पदों के अर्थ आपके तीर्थङ्कर हैं। यदि आप में वा आपके सहानुयायी किसीमें विद्या है तो प्रमाण और तर्क आदि से सिद्ध कीजिए। परन्तु यह आपसे कभी भी हो नहीं सकेगा। वेदों में जन्म-जन्मान्तर में भी कोई जैन तीर्थङ्करों वा जैनाचार्यों का नाम नहीं दिखा सकता है। जैनधर्म कभी भी वेद से प्राचीन सिद्ध नहीं किया जा सकता है। वेदमंत्रों से कोई भी ऐसी सामग्री नहीं प्रस्तुत की जा सकती है जो जैनधर्म को प्राचीनता सिद्ध कर सके और वेदों में जैनधर्म वा जैन तीर्थङ्करों आदि का वर्णन सिद्ध कर सके। चारों वेदों में वृषभ आदि शब्दों से कहीं भी ऋषभदेव आदि का वर्णन नहीं निकलता।

इसी प्रकार 'सत्यार्थदर्पण' के लेखक ने जिन इतिहासज्ञों का हवाला जैनधर्म की प्राचीनता के सिद्ध करने में दिया है उनमें से कोई भी यह नहीं सिद्ध करता है कि जैनधर्म वेद का समकालिक वा वेद से प्राचीन है। अतः उनका संग्रह व्यर्थ में करके केवल पुस्तक को मोटा करने का प्रयत्न किया गया है। इनसे जैनधर्म की प्राचीनता

जिसकी प्रतिज्ञा लेखक ने की है किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती है।

अतः यह सिद्ध है कि महर्षि दयानन्द ने जो कुछ लिखा है वह सर्वथा ही युक्तिसंगत और प्रामाणिक है। कोई भी इतिहासकार जैनधर्म को वेद से प्राचीन वा वेद का समकालिक नहीं सिद्ध कर सकता है।

स्याद्वाद और उसकी समालोचना

'सत्यार्थदर्पण' के लेखक ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६४ पर "स्वामी जी ने स्याद्वाद समझा ही नहीं" शीर्षक से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि महर्षि दयानन्द द्वारा किया गया सप्तभङ्गी नय का खण्डन समुचित नहीं। परन्तु यह उसकी भूल है और अज्ञता भी। महर्षि नें इस नय को जैसा समझा है और जो कुछ इसके निराकरण में लिखा है वह सर्वथा ही सुसंगत, सुष्ठु, सयौक्तिक और प्रामाणिक है। प्रश्न तो यह है कि स्याद्वाद को महर्षि ने नहीं समझा कि स्वयं उक्त लेखक ने और उसके सहधर्मियों ने ही नहीं समझा है। इस स्थल पर इसका विचार कर निश्चय किया जावेगा।

उक्त लेखक ने इस प्रकार भूमिका अपनी बात को सिद्ध करने के लिए बांधी है:—

"जब अन्य दर्शन पदार्थों के किसी एक स्वभाव को लेकर एकान्त पक्ष पकड़ लेते हैं कि ये पदार्थ "नित्य ही हैं" अथवा "ये पदार्थ अनित्य ही हैं" इत्यादि रूपों से पदार्थों का स्वरूप बतलाते हैं तब जैन दर्शन कहता है कि किसी दृष्टि से 'पदार्थ नित्य हैं' और किसी निगाह से 'ये अनित्य भी हैं'। इस तरह कहकर जैन दर्शन अनेकान्तवाद की जड़ जमाता है। इस तरह अन्य दर्शनों में तथा जैन दर्शन में सिर्फ 'ही' और 'भी' का अन्तर है। अन्य दर्शन कहते हैं कि पदार्थ ऐसा ही है तब जैन दर्शन कहता है कि किसी तरह ऐसा

है किन्तु अन्य दूसरी अपेक्षा से वैसा भी है। मूल सिद्धान्त के इस 'ही' और 'भी' शब्द से आगे बहुत भारी अन्तर पड़ जाता है (पृष्ठ १९४) पुनः पृष्ठ १९७ पर इस प्रकार लिखा है:--

"इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से प्रत्येक पदार्थ अनेकरूप सिद्ध होता है। इस तरह निर्णय करने का नाम ही 'स्याद्वाद' है। 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' यानी 'किसी अपेक्षा से' है। अर्थात् पदार्थों के विषय में नित्यत्व, अनित्यत्व का विवेचन सर्वथा न करके किसी एक अपेक्षा से करना कि 'इस अपेक्षा से यह नित्य है, इस अपेक्षा से अनित्य है' इत्यादि स्याद्वाद है। पृ० १९७

स्याद्वाद के विषय में 'सत्यार्थदर्पण' के लेखक के मुख्य विचार ऊपर उद्धृत कर दिये गए। अब यहाँ पर विचार करना अभीष्ट है।

'स्यात्' पद संस्कृत साहित्य में क्रिया-पद भी है और यह अव्यय-पद भी है। इसका अर्थ 'हो सकता है' अथवा 'शायद' है। यह हो सकता है कि ऐसा हो अथवा यह 'शायद' ऐसा हो--इत्यादि स्याद्वाद है। सर्व-दर्शन-संग्रह में स्यात् शब्द को निपात मानकर उसका अर्थ तिङन्त-प्रतिरूपक अनेकान्तद्योतकता माना गया[1] है। शांकरभाष्य में 'स्यात्'[2] को तिङन्त-प्रतिरूपक अव्यय मानकर उसका अर्थ कथञ्चिद् माना गया है। जो कुछ भी हो, स्यात् में शायदपना और सन्देह अवश्य घुसा हुआ है। अपेक्षा की दृष्टि रखने पर भी सन्देह और शायदपने से पिण्ड नहीं छूट सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी है कि अपेक्षा से किसी वस्तु को 'हाँ' करने और किसी वस्तु को 'ना' करने में भी दोष तो है ही। संसार में सभी वस्तु अपेक्षित हैं, ऐसी एकान्तता किस प्रकार स्वीकार कर ली गई। क्या समस्त वस्तुओं की 'अपेक्षितता' एकान्तिक होते हुए इस स्याद्वाद

---

१. अत्र स्याच्छब्दः खल्वयं निपातस्तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योतकः। सर्व० आर्हतमत

२, स्यात् इत्यव्ययम् तिङन्त प्रतिरूपकम् कथञ्चिदर्थकम्। स्यादस्ति कथंञ्चिदस्ति इत्यर्थः। शांकरभाष्य २।२।३३

से सिद्ध हो सकती है। यदि यह भी अनेकान्तिक है तो फिर स्याद्वाद खड़ा किस प्रकार रहेगा। केवल अपेक्षा पर ही सब वस्तुवें आधारित नहीं की जा सकती हैं। अगर कोई वस्तु 'अ' की अपेक्षा से है तो 'अ' को तो अनपेक्ष माना जावेगा। यदि 'अ' भी अपेक्षित है तो फिर यह संभव कैसे ? अपेक्षित वस्तु जिसकी अपेक्षा से है वह स्वयं अपेक्षित नहीं हो सकता है। अपेक्षा की परम्परा मानने पर भी तो अन्तिम स्थिति अनपेक्ष की ही होगी। अपेक्षित और जिसपर वह अपेक्षित है दोनों ही अपेक्षित नहीं हो सकते हैं। फिर तो अपेक्षा के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जावेगा। मान लो कि 'क' 'ख' पर अपेक्षित है और 'ख' 'ग' पर वह और उससे आगे 'घ' पर और 'घ' भी 'ङ' पर। परन्तु अन्त में 'ङ' को तो अनपेक्षित मानना पड़ेगा। यदि उसे भी अपेक्षित मानो तो फिर अपेक्षा बन ही नहीं सकती है। अतः संसार में सभी पदार्थ अपेक्षित हैं--यह नहीं कहा जा सकता है। जब सभी पदार्थ अपेक्षित नहीं तो फिर स्याद्वाद अपने-आप समाप्त हो जाता है। जिनमें अपेक्षा बुद्धि नहीं उत्पन्न होती उनको स्याद्वाद की कसौटी पर किस प्रकार तौला जा सकता है।

ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि इस वाद के गर्भ में संदेह और शायदपना घुसा है। संसार में फिर निश्चयात्मक ज्ञान की वस्तु कोई रह ही नहीं जावेगी। यदि सभी वस्तुओं में ऐसा है कि वे 'शायद हों भी' और 'शायद नहीं भी हों' तो फिर निश्चय नाम की कोई वस्तु रह ही नहीं जावेगी। अतः निश्चय का विरोधी होने से यह स्याद्वाद त्याज्य है। थोड़ी देर के लिए जैनधर्म की अहिंसा को ले लीजिए। प्रतिज्ञा यह है कि "अहिंसा हिंसा नहीं है।" इस पर यदि स्याद्वाद लगाया जावे तो फिर किसी दृष्टि से अहिंसा हिंसा भी बन जावेगी। इसी प्रकार ज्ञान अज्ञान बन बैठेगा। स्याद्वाद के प्रयोग से जैनधर्म के सारे निश्चय अनिश्चय में परिवर्त्तित हो जावेंगे और कोई भी सिद्धान्त खड़ा नहीं हो सकेगा।

पदार्थ की सत्ता के विषय में अथवा उसकी नित्यता-अनित्यता के विषय में यह स्याद्वाद भ्रान्त धारणा पर पहुँचाने वाला है। सत्ता और नित्यता-अनित्यता का निश्चय यह वाद कर ही नहीं सकता है। 'घट अनित्य है' परन्तु स्याद्वाद के अनुसार यह कथंचिद नित्य भी होगा जो सर्वथा ही भ्रान्त धारणा है। इसी प्रकार "आत्मा नित्य है" का सिद्धान्त भी निश्चित नहीं क्योंकि वह अनित्य भी हो सकता है।

"साम्प्रतमयम् अत्र घटोऽस्ति" यह घड़ा सम्प्रति यहाँ पर विद्यमान है। स्याद्वाद के अनुसार यह भी हो सकता कि यह घड़ा इस समय यहां पर नहीं भी है--परन्तु यह मिथ्याज्ञान होगा। इस लिए एक ही वस्तु में एक ही समय में अस्ति, नास्ति, दोनों बातों को कहने के कारण यह स्याद्वाद निरर्थक और स्वयं को काटने वाला है।

अतः चाहे 'कथंचित्' अर्थ करो चाहे 'भी' अर्थ करो यह वाद ग्राह्य नहीं है। समस्त पदार्थों में 'भी' भी तो नहीं लगाया जा सकता है। 'सत्यार्थदर्पण' के लेखक जैनी हैं। क्या यहां पर स्याद्वाद की प्रक्रिया मानकर 'भी' का प्रयोग किया जा सकता है। यदि कोई कहे कि "माता ही बच्चे को गर्भ में धारण करती है पिता नहीं" तो क्या यहां पर भी इस स्याद्वाद की 'भी' का प्रयोग हो सकेगा ?

इस प्रकार स्याद्वाद के विषय में सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने जो कुछ लिखने का यत्न किया है उससे उसका पक्ष सिद्ध तो होता नहीं। हाँ! उसने भी कुछ लिखा है--यह लोगों को कहने के लिए भले ही हो गया। इस लेखक ने महर्षि दयानन्द के एतत्सम्बन्धी विचारों के विषय में जो कुछ लिखा है और महर्षि ने सप्तभङ्गी का जिस प्रकार खण्डन किया है उसपर भी यहां विचार किया जाता है। महर्षि के शब्द सत्यार्थ प्रकाश में इस प्रकार हैं:--

"यह कथन एक अन्योन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरण को छोड़कर कठिन जाल

रचना केवल अज्ञानियों के फँसाने के लिए होता है" (सत्यार्थप्रकाश, १२वां समुल्लास)

यहां पर महर्षि का कथन इतना ही है कि यह एक जालमयी व्यर्थ की रचना है। इसका उद्देश्य तो 'अन्योन्याभाव' में ही सार्थक हो जाता है; तथा पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य की व्याख्या में यह सब कुछ अन्तर्भूत हो जाता है। फिर इतना बड़ा शब्दजाल रचने की आवश्यकता ही क्या है?

वैशेषिक के अनुसार अभाव चार प्रकारके माने जाते हैं। उन्हीं-में एक अन्योन्याभाव है और इसे ही इतरेतराभाव भी कहा जाता है। घट में घटपना तो है, किन्तु पटपना नहीं है अर्थात् घट में पटत्व का अभाव है; इसी प्रकार पट में पटत्व है, किन्तु घटत्व नहीं है। इसे अन्योन्याभाव कहा जाता है। अर्थात् अन्य (घट) में अन्य (पटादि) का अभाव। इसी प्रकार पट में घटादि का अभाव भी अन्योन्याभाव है। इसका आशय यह है कि घट में घटत्व को छोड़कर अन्य समस्त पदार्थों का अभाव है। इसी प्रकार पटादि की भी गति जाननी चाहिए। सप्तभङ्गी नय इसके अन्तर्गत आ जाता है।

इसी प्रकार विभिन्न पदार्थों में किन्हीं विषयों की समानता को साधर्म्य कहा जाता है जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जड़ होने से सधर्मा हैं अर्थात् जड़त्व इन चारों का साधर्म्य है। विभिन्न पदार्थों का एक-दूसरे से भेद करने वाला विशेषत्व धर्म-वैधर्म्य है, जैसे अग्नि की उष्णता उसे जलादि से पृथक् करती है अतः वैधर्म्य है। महर्षि का आशय यहां पर कितना स्पष्ट है, यह साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। इनके अन्तर्गत ही सप्तभङ्गी का सारा उद्देश्य पूरा हो जाता है। यही महर्षि का आशय है। अब सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को स्याद्वाद का परिज्ञान है वा महर्षि को, इस बात को पाठक स्वयं समझें। महर्षि ने जो कुछ इस सम्बन्ध में लिखा है वह दो और दो चार की भांति स्पष्ट है।

योगदर्शन ३।१३ के व्यासभाष्य का वाक्य देकर सत्यार्थदर्पण के

कर्त्ता ने जो अपना पक्ष सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह सर्वथा ही अनित्य है। उसने व्यासभाष्य के उस स्थल को समझा ही नहीं। वहां पर वस्तुतः नित्यता का प्रकरण है। नित्यता दो प्रकार की वहां पर दिखाई गई है। एक परिणामी नित्यता और दूसरी कूटस्थ नित्यता। अतः व्यास का कहना है कि यहां पर दोनों ही सिद्धान्त हैं। किसी एक को मानना किसी, एक को नहीं ऐसा नहीं, बन सकता है। परन्तु सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता से कोई पूछे कि "घट अनित्य" है यह अनेकान्त किस प्रकार हो सकती है। घट की नित्यता तो किसी भी अवस्था में नहीं सिद्ध की जा सकती है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में स्याद्वाद का खुला समर्थन किया है, यह भी प्रमाणहीन है। योग की टीका में स्याद्वाद के समर्थन का क्या तात्पर्य है। वाचस्पति यदि समर्थन भी कर दें तो क्या इससे स्याद्वाद संगत माना जावेगा। भामती टीका में तो "नैकास्मिन्नसंभवात्" सूत्र पर शंकर और वाचस्पति दोनों ने ही स्याद्वाद का घोर खण्डन किया है। वहाँ खण्डन और यहां सिद्धि--इससे क्या परिणाम निकलेगा--यह आप सोच लें।

"तत्तु समन्वयात्" सूत्र के भास्कराचार्य के भाष्य का जो प्रमाण दिया गया है वह स्याद्वाद का पोषक नहीं। तथा वह सिद्धान्त है भी भ्रान्तिपूर्ण। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण जब है ही नहीं तो फिर उससे जगत् का अभेद किस प्रकार बन सकता है और जगत् के साथ उसका स्वर्ण की भांति कार्यकारणभाव किस प्रकार बन सकता है। साथ ही यह जैनधर्म के अनुकूल किस प्रकार है। यहां पर तो ब्रह्म का प्रतिपादन है जिसे जैन धर्म स्वीकार ही नहीं करता है।

शंकराचार्य के भाष्य का जो हवाला दिया गया है, उद्धरण से जीव के अणु होने का खण्डन नहीं होता है बल्कि वह जीव के मध्यम परिमाण का खण्डन है। जैनी जीव को शरीर-परिमाण का मानते हैं। इस प्रकार वह मध्यम-परिमाण ठहरता है। शंकराचार्य का कथन है कि "जीव (शरीर-परिमाण जीव) अनंत अवयवों वाला है।

उसके वे अनन्त अवयव चींटी आदि के छोटे शरीर में जाने पर संकोच को प्राप्त होंगे और हाथी के शरीर में जाकर फैलाव को प्राप्त होंगे। इस प्रकार जीव अनित्य ठहरेगा। परन्तु आश्चर्य की बात है कि इसको सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने जीव को अणु-परिमाण मानने वालों के खण्डन में समझा वा लगाया। यहां पर दो ही बात हो सकती हैं। एक तो यह कि उसने इसे समझा ही नहीं, वह कोरा अनभिज्ञ है। दूसरी यह कि उसने अपने ऊपर की गई बात को झूठे ही दूसरे पर मढ़ा। ये दोनों ही बातें अनुचित हैं। जो बात समझ में न आवे उसे लिखना ही नहीं चाहिए था। अथवा जब वह बात स्वयं पर लगती है तो दूसरे पर थोपना अनुचित है।

अणु तो निरवयव है। फिर उसमें अनन्तावयव किस प्रकार हो सकते हैं। जो अनन्त अवयवों वाला है वह निरवयव नहीं हो सकता है। अणु तो स्वयं अवयव है। फिर उसका अवयव, और वह भी अनन्त अवयव किस प्रकार संभव है। जीव कूटस्थ नित्य है। उसमें अवयव की कल्पना करना ही विद्या से विद्रोह और मूर्खता से मैत्री करना है। फिर शंकर ने यह अणु-परिमाण कूटस्थ जीव के लिए कहा है—यह किस प्रकार मान लिया। ? क्या जैनधर्मी इसका कभी भी समाधान कर सकते हैं ? कदापि नहीं।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने वेद से स्याद्वाद सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जो सर्वथा ही निराधार है। 'नासदासीन्नो सदासीतदानीम्" इस ऋग्वेदीय मंत्र से स्याद्वाद सिद्ध करना लालबुझक्कड़पने की बात है। इस मंत्र में सत् का अर्थ 'भाव' और असत् का अर्थ अभाव नहीं है। परमात्मा भी सत् और असत् रूप नहीं। वह तो सत् ही है। यहां सत् का अर्थ कार्य जगत् और असत् का अर्थ अभाव है। जब साधारण संस्कृत वाक्यों को समझना सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की बुद्धि के बाहर की बात है तो वेद को समझने का उसका प्रयास दुष्प्रयास एवं दुःसाहसमात्र ही है। नासदीय सूक्त से जन्म-जन्मान्तर में कोई स्याद्वाद वा सप्तभङ्गीनय को सिद्ध नहीं कर सकता है।

सांख्य, न्याय, वैशेषिक, वेद, मनुस्मृति ग्रादि में स्याद्वाद है-- ऐसा कहना हास्यास्पद है। यदि इन में यह स्याद्वाद था ग्रौर इन से सिद्ध होता था तो इनके कोई प्रमाण भी तो देने चाहिए थे। एक भी प्रमाण न प्रस्तुत करना ग्रौर केवल गप्पाष्टक हांकना किसी पक्ष का साधक नहीं है। सप्तभङ्गीनय को इनमें से किसी भी ग्रन्थ से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। जो इन ग्रन्थों को जानता है वह कभी ग्रापके कहने में नहीं ग्रा सकता है। संसार में लक्षण ग्रौर प्रमाण से पक्ष की सिद्धि की जाती है। गप्प किसी वस्तु वा पक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता है। सप्तभङ्गीनय पर ही सप्तभङ्गी का प्रयोग कर देने पर वह स्वयं झूठा पड़ जावेगा।

स्वामी जी की अनभिज्ञता नहीं, आपकी अनभिज्ञता है

सत्यार्थदर्पण के लेखक का कथन है (पृष्ठ २३१) कि स्वामी जी महाराज ने जैन धर्म की समालोचना करते समय कुछ ऐसी भूलें की हैं जो उनकी साहित्य-विषयक विद्वत्ता की कमी को प्रकट करती हैं। सच्चे समालोचक का कर्त्तव्य है कि वह जिस विषय को पूरा न समझ पावे, उसकी समालोचना में बलात् हाथ न डाले क्योंकि ऐसा करने से समालोचक को ग्रनेक जगह लेने के देने पड़ जाते हैं। यह भूल क्या है, इसका वर्णन करते हुए उक्त लेखक लिखता है कि तीसरे श्लोक के **"ग्रन्यार्थ प्रधानैस्तैः"** इस पद का ग्रर्थ 'ग्रन्यार्थ-प्रधान' ग्रर्थात् बहुव्रीहि समास के तुल्यकर दिया है; ऐसा ऊटपटांग ग्रर्थ स्वामी जी का करता है।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता के ग्राक्षेप का समाधान यहाँ पर किया जाता है। स्वामी जी की इस विषय में ग्रनभिज्ञता कहना उक्त लेखक की ग्रपनी ही ग्रनभिज्ञता है। स्वामी जी महाराज ने प्रत्येक वस्तु को समझकर ही उसकी समालोचना की है। उन्होंने जो

अर्थ किया है वह सर्वथा ठीक है। चूंकि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को साहित्य एवं शास्त्र का स्वयं ही कुछ परिज्ञान नहीं है अतः वह अपने इस अज्ञान को स्वामी जी महाराज की अभिनज्ञता कह-कर प्रकट कर रहा हैं। जैन धर्म ही जब त्रुटियों से पूर्ण है तो उसकी टीका क्यों न की जावे। स्वामी जी महाराज ने जो खण्डन जैन धर्म का किया है उसका उत्तर आज तक किसी से बना नहीं। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता में इतनी विद्या तो है नहीं कि उसका उत्तर दे, वह स्वामी जी पर अण्ड-बण्ड आक्षेप कर रहा है।

बात यह है कि महर्षि ने १२वें समुल्लास में जैन धर्म का खण्डन किया है। वहाँ पर "तौताततितों" के तीन श्लोक दिये हैं जो "सर्वज्ञो दृश्यते" से प्रारम्भ होकर "पूर्वमन्यैरबोधितः" पर समाप्त होते हैं। इसमें चतुर्थ श्लोक इस प्रकार है:—

न चान्यार्थ-प्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते ॥

न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ।

इसका स्वामी जी कृत अर्थ :—

"और अन्यार्थप्रधान अर्थात् बहुव्रीहि समास के तुल्य परोक्ष परमात्मा की सिद्धि का विधान भी नहीं हो सकता, पुनः ईश्वर के उपदेष्टावों से सुनें विना अनुवाद भी कैसे हो सकता हैं।"

यहाँ पर "अन्यार्थप्रधानैः" का अर्थ स्वामी जी ने बहुव्रीहि समास किया है जिस पर सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता का उपर्युक्त आक्षेप है। परन्तु महर्षि का यह अर्थ ठीक नहीं इसका कोई भी प्रमाण उसने नहीं दिया। अतः उसका कथन तो अपने-आप ही असिद्ध है। यहां पर महर्षि का आशय यह है कि अन्य विषयों के निरूपण के प्रसङ्ग में परमात्मा की सिद्धि संभव नहीं है। जिस प्रकार अधिकरण सिद्धान्त की रीति से आत्मा की सिद्धि करने के प्रसंग में इन्द्रियों के अनेकत्व और करणत्व आदि की सिद्धि की जाती है उस प्रकार किसी

अन्य पदार्थ की सिद्धि के प्रसङ्ग में भी परमात्मा की सिद्धि का अनुषङ्ग नहीं है। बहुव्रीहि समास में भी ऐसा ही होता है। उदाहरणार्थ 'शबलगु' शब्द को लिया जा सकता है। इसमें 'शबल' और 'गौ' दो पद हैं, किन्तु बहुव्रीहि समास होने से 'शबलगु' शब्द का अर्थ शबल तथा गौ इन दोनों पदों के अर्थ से भिन्न होता है, जो न शबल है और न गौ है; प्रत्युत् इन दोनों से भिन्न कोई मनुष्य है जिसकी शबल गौयें हैं। अथवा ऐसा गृह जिसमें शबल गौयें रहती हैं। इसी प्रकार यदि परमात्मा की सिद्धि करना चाहो तो नहीं हो सकती है। यहाँ पर महर्षि का अर्थ स्पष्ट है। इसमें किसी प्रकार की कोई भी त्रुटि दिखाने का साहस करना स्वयं उपहासास्पद बनना होगा। परन्तु बलिहारी है बुद्धि की सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की, कि उसे स्वयं तो समझ में यह विषय आया नहीं, वह स्वामी जी की ही समालोचना करने बैठ गया। उसका यह कथन कि बिना समझे समालोचना में हाथ डालने पर लेने के देने पड़ जाते हैं, उसी पर लागू हो रहा है।

सत्यार्थप्रकाश के इस प्रसङ्ग में स्वामी जी महाराज का कथन यह है कि जिस प्रकार जैन लोग सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते और खण्डन के पात्र हैं वैसे ही 'तौतातित' भी सर्वज्ञ अनादि ईश्वर की सत्ता को न मानने से खण्डनीय हैं। इसी आशय से यहाँ पर इन श्लोकों को दिया। यद्यपि ये श्लोक सर्वदर्शनसंग्रह में आर्हत मत के प्रकरण में जैनों के अभिमत तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता के खण्डन में दिये गए हैं। परन्तु स्वामी जी ने इसे भी खण्डनीय समझकर यहां पर दिया। तौतातितों को कोई लोग बौद्ध मानते हैं और कोई भट्ट मतानुयायी मीमांसक बताते हैं। चूंकि अनादि सर्वज्ञ ईश्वर को ये भी नहीं मानते हैं अतः ये भी वैसे ही खण्डनीय हैं जैसे सर्वज्ञ अनादि ईश्वर को न मानने वाले जैनी। अतः सत्यार्थ-

प्रकाश में इस स्थल पर इन्हें भी पूर्वपक्ष के रूप में रखा गया।

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने व्यर्थ की एक गप्प यह मारी है कि स्वामी जी ने जैनों के श्लोक **"भुङ्क्ते न केवलं न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः। प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह।"** में आए **भुङ्क्ते** शब्द का अर्थ 'संभोग' किया है जो ठीक नहीं। परन्तु यह ग़लत है। स्वामी जी ने ऐसा अर्थ नहीं किया है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने अपनी तरफ से ऐसी व्यर्थ की बातें बना ली हैं। स्वामी जी ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है:—

"दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्री का अपवर्ग नहीं कहते और श्वेताम्बर कहते हैं।"

यहाँ पर सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता को यह भी तो बताना चाहिए था कि स्त्री को मोक्ष क्यों नहीं होगा। क्या वे जैनधर्मी नहीं हैं। यदि हैं तो उनके मोक्ष का निषेध क्यों! स्त्री जाति के साथ यह दुर्व्यवहार क्यों?

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने लिखा है कि स्वामी जी ने जैनियों के १० योजन का प्रमाण जो दश सहस्र कोश लिखा है, वह ठीक नहीं। परन्तु यह कथन भी मिथ्या है। इस परिमाण के विषय में जैनियों के बहुत-से मतभेद हैं। वे किसी वस्तु को बहुत बढ़ी-चढ़ी बताने की स्पर्धा में ऐसा करते हैं। पूर्व प्रकरणों में यह दिखाया जा चुका है कि इनके तीर्थङ्करों की आयु, लोकों के विस्तार आदि में कैसी गप्पें मारी गई हैं। यहां पर "जैन शास्त्रों की "असंगत बातों" से ही दिखलाया जाता है कि योजन आदि के विषय में जैनियों के क्या विचार हैं। जैन शास्त्रों में शाश्वत वस्तुवों को मापने के लिए प्रमाणाङ्गुल के हिसाब से एक योजन को वर्तमान माप से २००० कोस का बतलाया गया है। कइयों ने ४००० कोस भी माना है।

(—जैन शास्त्रों की असंगत बातें, पृष्ठ ४)

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता दस हज़ार कोश की बात छोड़ दें। इस

दो हज़ार और चार हज़ार कोश की माप से ही जैन शास्त्रों में कहे गए लोकों के विस्तार को सिद्ध करके दिखा दें। अन्यथा व्यर्थ की बातों का क्या लाभ ?

इस प्रकार विचार करने पर देखा गया कि स्वामी जी महाराज ने जो कुछ जैन धर्म की समालोचना में लिखा है उसमें उनकी कोई अनभिज्ञता नहीं है, अनभिज्ञता सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की है। उसको स्वयं ही किसी शास्त्रीय विषय का परिज्ञान नहीं है। वह केवल बातें बनाकर मैदान मारने वालों में है। यह किसी भी प्रकार चल नहीं सकता है। सत्यार्थप्रकाश में किये गए तर्कों का सामना करना उसकी सामर्थ्य के सर्वथा ही बाहर है। जैन धर्म पर जिन तर्कों का प्रहार महर्षि ने किया है आज तक न उनका उत्तर दिया जा सका और न भविष्य में दिया ही जा सकेगा ।

जैनशास्त्र और मांस

सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ २३६-२४० तक "स्वामी जी की दयालुता" शीर्षक से मांस के विषय में कुछ असंगत मिथ्या बातें लिखी हैं। वस्तुतः सत्यार्थप्रकाश वा स्वामी जी महाराज के ग्रंथों में मांसाहार का कहीं भी वर्णन नहीं। मांस खाना वेदादि सत्य शास्त्रों के विरुद्ध है। आर्यसमाज इसी बात को मानता आया है। अनर्गल बातों का उत्तर देकर समय और शक्ति की खराबी करना है। अतः अहिंसा को मानने वाले जैनधर्म की मांस के विषय में यहाँ पर कुछ बातें दी जाती हैं। इससे सत्य का अपने-आप पता चल जावेगा।

"जैन शास्त्रों की असंगत बातें" श्री बच्छराज सिंघी की लिखी पुस्तक है। इसका प्रथम संस्करण जो १९४५ ईस्वी में प्रकाशित है

उससे कुछ उद्धरण यहाँ पर इस सम्बन्ध में दिये जाते हैं। पृष्ठ १५२ पर शीर्षक है : "जैनसूत्रों में मांस का विधान।"

"चन्द्रज्ञप्ति और सूर्यज्ञप्ति दोनों सूत्र अक्षरश: एक हैं सो तो विचारणीय बात है ही; परन्तु इनमें की एक बात बड़ी ही आश्चर्य-जनक नज़र आ रही है। दशम प्राभृत के सतरहवें प्रतिप्राभृत में भिन्न-भिन्न नक्षत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन करके गमन करे तो कार्य-सिद्धि होना बतलाया है। इस भोजन-विधान में ९ जगह भिन्न-भिन्न प्रकार के मांसों का भोजन करके जाने पर कार्य-सिद्धि का कथन है। यहाँ हम सूत्र के मूल पाठ को ही दे देते हैं :—

ता कहते भोयण आहितेति वदेज्जा ? ता एते
सिणं अट्ठावी साये नक्खत्ताणं कतियाहिं
दहिणा भोच्चा कज्जं साहेति ।।१।।
रोहिणी वसभ मंसं भोच्चा कज्जं साहेति ।।२।।
मिगसिरेणं मिगमंसं भोच्चा कज्जं साहेति ।।३।।
अद्यहिं णवणीएहिं भोच्चा कज्जं साहेति ।।४।।
पुणवसुणा घरणं भोच्चा ।।५।।
पुसे खिरेणं भोच्चा ।।६।।
असिलेसाहिं दीवगमंसेण भोच्चा ।।७।।
महाहिं कसारि भोच्चा ।।८।।
पुव्वा फग्गुणिहिं मेढ़गमंसेण भोच्चा ।।९।।
उत्तरा फग्गुणिहिं णक्खि मंसेण भोच्चा ।।१०।।
हत्थेणं वत्थाणियगं भोच्चा ।।११।।
सातिणा फलाहिं मुगसूऐणं भोच्चा ।।१२।।
सातिणा फलाहिं भोच्चा ।।१३।।
विसासाहिं आतिसिया भोच्चा ।।१४।।
अणुराहाहिं मासाकुरेणं भोच्चा ।।१५।।
जेट्ठाहिं कीलट्ठियेण भोच्चा ।।१६।।
मुलेण मुलग सएणं भोच्चा ।।१७।।

पुव्वासाढाहिं आमलग सारिरेणं भोच्चा ।।१८।।
उत्तराषाढाहिं बिल्लेहिं भोच्चा ।।१९।।
अभियेणं पुप्फेति भोच्चा ।।२०।।
सवणेणं खीरेणं भोच्चा ।।२१।।
धाणिट्ठाहिं जूसेणं भोच्चा २२।।
सयभिसया तुम्बरातो भोच्चा ।।२३।।
पुव्वा भद्दवयाहिं कारियएहिं भोच्चा ।।२४।।
उत्तरा भद्दवयाहिं वराहमंसं भोच्चा ।।२५।।
रेवतिहिं जलयरमंसं भोच्चा कज्जं साहेति ।।२६।।
आस्सिणिहिं तित्तरमंसं भोच्चा ।
कज्जं साहति अहवा वट्टकमंसं भोच्चा ।।२७ ।।
भरणीहिं तिल तन्दुलयं भोचा कज्जं साहेति ।
इति दसमस्स सत्तरमं पहुणं सम्मतं ।।

सूत्र के उपर्युक्त मूल पाठ में ९ स्थानों में भिन्न-भिन्न मांसों का भोजन करके यात्रा करने पर कार्य-सिद्धि का कथन है। रोहिणी नक्षत्र में वृषभ मांस, मृगसिरा में मृग का मांस, अशलेषा में चित्रक मृग का मांस, पूर्वाफाल्गुणी में मेढ़े का मांस, उत्तरा फाल्गुणी में नखयुक्त पशु का मांस, उत्तराभाद्रपद में सूअर का मांस, रेवती में जलचर यानी मच्छादि का मांस, और अश्विनी में तीतर का मांस अथवा बतक के मांस के भोजन का कथन है। श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने यह फरमाया है।" पृष्ठ १५७ से १५९ ।।

यहाँ पर एक ही उदाहरण देकर यह बता दिया जा रहा है कि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की समझ में आ जावे कि जैन शास्त्रों की यह स्थिति है। कहाँ व्यर्थ और मिथ्या आक्षेप और कहाँ ये स्पष्ट प्रमाण। जिस पुस्तक का यह उद्धरण है उसने "मांस शब्द के अर्थ पर विचार" शीर्षक से और भी अनेक प्रमाण दिये हैं जिनका यहाँ वर्णन करके ग्रन्थ के कलेवर को बढ़ाना उचित नहीं समझा। ऊपर

का एक ही प्रमाण पर्याप्त है। मिलान करके उक्त लेखक और अनुयायी देख ले कि किन-किन मांसों का वर्णन ऊपर के प्रमाण में किया है। क्या स्वामी जी ने कहीं पर भी अपने ग्रन्थों में ऐसा वर्णन है? क्या किसी में ऐसा साहस है कि वह इस प्रकार का वर्णन और मांसाहार का वर्णन स्वामी जी के ग्रन्थों में दिखा सके। काँच के मकान में बैठे हुए मज़बूत किले वाले पर ढेले फेंकने से अपनी ही हानि होती है। यही स्थिति सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता की है।

जैनधर्म और भूगोल तथा खगोल

सत्यार्थदर्पण के लेखक ने 'भूगोल विषय में भ्रान्ति' शीर्षक से अपनी पुस्तक के पृष्ठ २०८ से २२० तक जैनधर्म-प्रतिपादित भूगोल के स्वरूप को सिद्ध करने का व्यर्थ ही प्रयत्न किया है। उसके कोई भी प्रमाण जैनधर्म-प्रतिपादित भूगोल की असंभव बातों को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं। स्वामी जी महाराज ने जो खण्डन किया है वह सर्वथा वैज्ञानिक है। केवल बतंगड़ों से उसको काटा नहीं जा सकता है और इस प्रकार जैनधर्म की पृथिवी के स्वरूप को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। उक्त लेखक ने केवल भूगोल को ही लिया है परन्तु हमने यहाँ पर भूगोल और खगोल दोनों को शीर्षक बना लिया है जिससे जैनधर्म की अवास्तविकता और उसकी असम्भव गढ़न्तों का पूरा पता पाठकों को चल सके।

यह कहना कि स्वामी जी ने वर्तमान विज्ञान से मिलाने के लिए वेदमंत्रों के अर्थ इसी प्रकार कर दिये और जैनधर्म अपने मन्तव्यों पर स्थिर है, सर्वथा ही अनुचित है। स्वामी जी ने जो मंत्रार्थ निकलता था और युक्ति एवं तर्क से संगत था तथा शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार था, उसी का प्रदर्शन किया। वेद में पृथिवी का जो वर्णन है और जैसा वर्णन उसमें सूर्य का किया गया है तथा जगत् में जैसे ये वस्तुतः हैं वैसा ही उनका प्रतिपादन किया है।

विपरीत प्रतिपादन का ठेका तो सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने लिया हुआ है।

यहाँ पर उक्त लेखक की कुछ उक्तियों का जो आक्षेपात्मक हैं, क्रमशः उत्तर दिया जाता है :--

(१) 'आयं गौः' मंत्र में 'गौ' शब्द का पृथिवी अर्थ सर्वथा ही ठीक है। निघण्टु १।१ में पृथिवी के २१ नामों में 'गौः' पद भी पढ़ा गया है। परन्तु सत्यार्थदर्पण के लेखक के पास क्या प्रमाण है कि 'गौः' पद का अर्थ पृथिवी नहीं है? इस मंत्र में वस्तुतः पृथिवी के भ्रमण का वर्णन है।

(२) "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" मंत्र में पृथिवी को अचला वा गति न करनेवाली नहीं कहा गया है। यहाँ पर 'दृढा' पद से यही बताया गया है कि पृथिवी रेत आदि की भांति शिथिल नहीं है। उसके सभी अवयव दृढ़ अर्थात् अशिथिल और मज़बूत हैं। वह ढीली ढाली नहीं है। जब आप पृथिवी की रचना ही नहीं मानते और अनादि मानते हैं तो यहाँ पर फिर प्रजापति परमेश्वर के द्वारा उसका दृढ़ किया जाना किस प्रकार स्वीकार कर रहे हैं? यह कैसी अटपट माया है।

(३) "यन्क्रंदसी अवसा तस्तभाने०" यजु ३२।८ मंत्र से सूर्य का किसी ग्रह के चारों ओर चक्कर लगाना नहीं सिद्ध होता है। सूर्य किसी ग्रह के चारों ओर नहीं घूमता है। वह अपनी धुरी पर घूमता है। इस गति का वर्णन सूर्य में किया जाता है। कारण यह है कि कोई पदार्थ विना गति किये आकाश में स्थित नहीं रह सकता है। सूर्य का उदय और अस्त पृथिवी की गति के कारण होता है, सूर्य की गति के कारण नहीं। यहाँ पर मंत्र में उसका उदय बताया गया है।

(४) 'आकृष्णेन रजसा०" 'तथा प्रवावृजे' (यजुः ३३।४३-४४) मंत्रों से भी सूर्य का किसी ग्रह की परिक्रमा करना सिद्ध नहीं होता है। ४३वें मंत्र में सूर्य में आकर्षण है--इस का वर्णन है। ४४वें मंत्र

में वायु और प्रकाश का वर्णन है। वायु चलता है, और प्रकाश भी। अतः उन दोनों का वहाँ पर वर्णन है। उससे सूर्य के चलने की बात किस प्रकार निकाल ली? यहाँ पर स्वामी जी के इस लेख से कि सूर्य उदयास्त समय में आता जाता है; आप की कोई बात सिद्ध नहीं होती। उदय और अस्त में प्रकाश का आना जाना होता है तथा पृथिवी की गति की अपेक्षा से यह आना जाना कल्पित किया जाता है। वस्तुतः सूर्य नहीं आया जाया करता है। "हिरण्येन रथेन" का अर्थ प्रकाश रूप रथ से। ज्योतिर्वै हिरणम् अर्थात् ज्योति ही हिरण्य है। सूर्य का कोई रथ नहीं है। यह रथ तो आप की कल्पना है। रथ का अर्थ किरण है और ज्योतिः का अर्थ चमक वा प्रकाश है। अतः 'हिरण्येन रथेन' का अर्थ 'प्रकाशमय किरण समूह से' है।

भूमि को स्थिरता दृढ़ता की द्योतक है। उससे भूमि का अचल होना नहीं सिद्ध होता है। इस प्रकार का वर्णन पहले किया जा चुका है।

(५) सिद्धान्त-शिरोमणि में पृथिवी को अचला नहीं माना गया है बल्कि चलने वाला माना गया है। 'अचला स्वभावतः का अर्थ पृथिवी की गतिशून्यता नहीं बल्कि दृढ़ता है। अन्यथा उसी सिद्धान्त-शिरोमणि में पृथिवी के 'मुकुर' के समान होने आदि का खण्डन किस प्रकार किया जाता। "भव लवस्य किलार्कलवाः समाः" आदि श्लोकों में राशियों का सभी ६० अंशों पर एक-सा होना न मानकर भिन्न-भिन्न होना माना गया है। यह विना पृथिवी की गति के संभव कैसे?

आप की सूझ की बलिहारी है कि आप 'सिद्धान्त-शिरोमणि' का प्रमाण दे रहे हैं। 'सिद्धान्त-शिरोमणि' में उसी स्थल पर आप के दो-दो सूर्य और चन्द्र की कल्पना का खण्डन कियागया है। "द्वौ-द्वौ रवीन्दू भगणौ च कौचिद्०" श्लोक को देखिये वहाँ पर आप के जैन-सिद्धान्त की क्या स्थिति कर दी गई है:

(६) यहाँ पर भी वेद का भाष्य आप की समझ में नहीं आया।

'असंख्यात' विशेषण देश का है। उसी के साथ लगाना चाहिए। इस परमेश्वर की सृष्टि में असंख्यात लोक हैं। तथा चार कोश के योजनों वाले देश इस पृथिवी पर भी हैं, असंभव तो बात तब बन जाती है जब जैन धर्मानुयायियों की परिभाषा के अनुसार ४००० कोश के योजनों वाले असंख्यात देश इस पृथिवी पर मान लिये जावें।

(७) पातंजल योगदर्शन के 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' सूत्र के व्यासभाष्य में जो 'ततः प्रस्तारः' आदि का वर्णन है वह सारा का सारा प्रक्षिप्त है। यदि दुर्जन-तोषन्याय से वह अप्रक्षिप्त भी मान लिया जावे तो उसका ४००० कोश प्रति योजन का पैमाना वहाँ पर कहाँ बताया गया है, यह भी तो आप बताने की कृपा करें।

इस प्रकार जो कटाक्ष सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने किये थे, उनका यहाँ पर समाधान किया गया। अब उसके शास्त्रों की बातें यहाँ पर की जावेंगी और दिखलाया जावेगा कि कितनी भ्रान्त धारणा जैन शास्त्रों और उनके कर्त्ता मनुष्य सर्वज्ञों की है।

श्री बच्छराज सिंघी अपनी पुस्तक "जैन शास्त्रों की असंगत बातें" के पृष्ठ ४–६ पर लिखते हैं—

(१) "पहिले हम भौगोलिक विषयों को ही लेते हैं जिन के लिए हमारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद हैं। जैन शास्त्रों में शाश्वत वस्तुओं को मापने के लिए प्रमाणाङ्गुल के हिसाब से एक योजन को वर्तमान माप से २००० कोस का बतलाया गया है। कइयों ने ४००० कोस का भी माना है, मगर हम २००० कोस का ही एक योजन मान लेते हैं। एक कोस की दो माइल होती हैं। हम जिस पृथ्वी-पिण्ड पर बसे हुए हैं वह एक गेन्द की तरह गोल पिण्ड है जिसका व्यास करीब ७९२७ माइल और परिधि करीब २५८५६ माइल की है। इसका वर्गमील करें तो करीब १९७०००००० (उन्नीस करोड़ सत्तर लाख) माइल होती हैं जिसमें ५२०००००० माइल स्थलभाग और १४५०००००० माइल जलभाग है। जैन शास्त्रों में पृथ्वी को

गोल न मानकर चपटी (समतल) माना गया है। जम्बूद्वीप (जिसका विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में है) की लम्बाई एक लक्ष योजन और चौड़ाई एक लक्ष योजन बतलाई, यानी वह ४० कोटि माइल की लम्बाई और ४० कोटि माइल की चौड़ाई का एक समतल भूभाग है जिसके वर्गमील करें तो १६०००००००००००००००० (एक शंख साठ पद्म) माइल होती है। जम्बूद्वीप के इस समतल भूभाग को चारों तरफ से थाली की तरह गोल माना गया है जिसकी परिधि के लिए लिखा गया है कि वह ३१६२२७ योजन ३ गाऊ १२८ धनुष्य १३½ अङ्गुल १ यव १ लिख ६ बालाग्र ५ व्यवहारिये परमाणु हैं। गणना की सूक्ष्मता गौर करने काबिल है! यह भी लिखा है कि इस जम्बूद्वीप के यदि एक योजन के गोल खण्ड किये जायें तो १० अरब खण्ड होंगे और यदि एक-एक योजन के समचौरस खण्ड किये जायें तो ७९०५६९४१५० खण्ड होकर ३५१५ धनुष्य ६० अङ्गुल क्षेत्र बाकी रह जाता है। अब हम जैनशास्त्र-कथित और वर्तमान दोनों के वर्ग माइल पर दृष्टि डालते हैं तो बहुत बड़ा अन्तर पाते हैं। कहाँ १९ कोटि ७० लक्ष माइल वर्तमान और कहाँ १ शंख ६० पद्म माइल जैनों के। पच्चीस हजार माइल की परिधि के एक गोल पिण्ड के वर्ग माइल कितने होंगे, यह एक छोटी कक्षा का विद्यार्थी भी बता देगा। हमारी पृथ्वी पर आज हम एक सिरे से दूसरे सिरे तक आसानी से चारों तरफ विचरण कर रहे हैं। एक निश्चित स्थान से रवाना होकर एक ही दिशा में चलते हुए ठीक उसी स्थान पर पहुँच जाते हैं जहां से हम रवाना हुए थे, तो इससे इस बात के साबित (सिद्ध) होने में कोई भी संशय नहीं रह जाता है कि हमने एक गोल पिण्ड पर चक्कर लगाया है। आप कलकत्ता से पश्चिम की तरफ चलते जाइये—बम्बई, यूरोप, अमेरिका, जापान होते हुए फिर वापिस कलकत्ता एक ही दिशा में चलते हुए पहुँच जाते हैं। जैनशास्त्रों के बताये हुए पृथ्वी के चपटे (समतल) आकार पर आप एक स्थान से एक ही दिशा में चलते जाइये; नतीज़ा

यह होगा कि आप दूसरे सिरे पर जाकर अटक जायेंगे। जिस स्थान से आप रवाना हुए थे, वह पिछले सिरे पर रह जायगा। यही पृथ्वी के गेंद की तरह गोल होने का जबरदस्त और प्रत्यक्ष प्रमाण है जिसका किसी प्रकार से भी खण्डन नहीं किया जा सकता।"

श्री बच्छराज सिंधी का यह लेख कितना स्पष्ट है और इससे जैन धर्म के माने हुए भूगोल का अन्दाजा स्वयं चल जाता है। जैनधर्म पृथ्वी को चपटी मानता है, साथ ही उसकी परिधि आदि का ब्योरा यह सब कितना ऊटपटाँग है कि कोई भी विज्ञ इसे स्वीकार नहीं कर सकता है। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता जरा इस हिसाब को और पृथ्वी के चपटेपन को साबित कर दिखावें।

(२) सिंधी जी पुन. पृष्ठ ८ से ९ तक इस प्रकार लिखते हैं :--
"आइये, अब जरा गति के विषय में विवेचन करें। इससे हमें कोई बहस नहीं कि सूर्य गति करता है या पृथ्वी। इस वक्त हमें केवल गति की रफ्तार पर ही विचार करना है। जैन शास्त्रों में बताया है कि सूर्य मकरसंक्रान्ति में ५३०५$\frac{१}{६१}$ योजन की गति एक मुहूर्त में करता है यानी करीब २१२२००६६ (दो करोड़ बारह लाख बीस हजार छियासठ) माइल की। एक मुहूर्त्त ४८ मिनट का माना गया है। इस हिसाब से रफ्तार एक मिनट में करीब १७$\frac{१}{५}$ माइल की प्रमाणित होती है। हम कलकत्ते से अपनी जेब-घड़ी (Pocket Watch) सूर्योदय से मिलाकर रवाना होंगे और उसी घड़ी को पश्चिम की तरफ करीब १०४० माइल चलकर सूर्योदय पर देखेंगे तो पूरा ६० मिनट का अन्तर मिलेगा। यानी जो सूर्योदय कलकत्ता में उस घड़ी में ६ बजे हुआ था वह इतनी दूर (१०४० माइल) पश्चिम आ जाने पर उसी घड़ी में ७ बजे होगा। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष साबित हो जाता है कि एक मिनट में करीब १७ माइल की रफ्तार हुई। अब आप विचार सकते हैं कि एक मिनट में १७ माइल की गति और ४४२०४८ माइल की गति में कितना बड़ा अन्तर है!

यहां इस उद्धरण से यह भी सिद्ध हो गया कि गति के विषय में भी जैन शास्त्रों का कथन सर्वथा ही निराधार है।

(३) सिंधी जी पुनः पृष्ठ ७-८ पर लिखते हैं--

"जैनशास्त्र (भगवतीसूत्र) में लिखा है कि कर्क संक्रान्ति में सूर्य उदय होते वक्त ४७२६३$\frac{२१}{६०}$ योजन की दूरी से दृष्टिगोचर होता है। यानी करीब १८९०,५३३७७ (अठारह करोड़ नव्बे लाख तिरेपन हजार तीन सौ सतहत्तर) माइल की दूरी से। मगर हम देख यह रहे हैं कि १०० माइल की दूरी पर जो सूर्य उदय हो गया है, वह यहां करीब ६ मिनट बाद हमें दिखाई पड़ेगा। यहां पर इस बात को न भूलें कि जैन शास्त्रों में पृथ्वी को चपटी (समतल) माना है। विचारना यह है कि १८९०५३३७७ माइल की दूरी से दृष्टिगोचर होने वाला सूर्य फिर सौ-दो-सौ माइल की दूरी पर ही छिप कहां जाता है। अगर हम भूमि को गोल मानकर गोलाई की आड़ का बहना कर लेते तो भी काम बन सकता था मगर हमने तो इस युक्ति को पहले से ही कुल्हाड़ी मार दी।

"हमारे जैन शास्त्रों की चपटी मानी हुई पृथ्वी पर तो हर स्थान में १२ घण्टे का दिन और १२ घण्टे की रात्रि होनी चाहिए, मगर हम देख रहे हैं कि इस पृथ्वी पर ही कहीं तो ३ महीने तक का दिन और कहीं ३ महीने तक की रात्रि हो रही है। दक्षिण और उत्तर ध्रुवों पर तो एक तरफ सूर्य ६ महीनों तक लगातार दिखाई देता है और दूसरी तरफ ६ महीने तक सूर्य गायब रहता है।"

इस प्रकार यह उल्लेख जैन शास्त्रों की मानी पृथ्वी पर सूर्य के देखने और दिन-रात्रि के विषय को भी खण्डित करता है।

(४) पन्नवणा सूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रियपद में एक चार्ट देकर चालीस संख्या तक तो द्वीपों तथा समुद्रों के नाम देकर बताया है और इसके आगे असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्रों को इसी दुगुने क्रम से गणना करते जाने को कहकर पृथ्वी को अत्यन्त बड़ी दिखाने की कल्पना की है। इस तालिका में बताया हुआ उन्तालीसवां हार-

वरभास द्वीप १०६६५११६२७७७६०००००००० मील के क्षेत्र का लम्बाचौड़ा गोलाकार है और चालीसवाँ हारवरभास समुद्र २१६६०२३२५५५५२००००००००० मील क्षेत्र लम्बा-चौड़ा गोलाकार है। इसके अतिरिक्त असंख्य द्वीप और समुद्र अभी बाकी ही हैं। यह तो ३६ और ४० की स्थिति है। शेष ३८ का भी क्षेत्रफल है। २४८५६ मील की घेरे वाली इस पृथ्वी में इतना बड़ा क्षेत्र छिपा पड़ा है यह विज्ञान बताकर जैनधर्म ने कितना बड़ा उपकार किया है! यह विज्ञान उन्हीं के उर्वर मस्तिष्क में आसकता है जो स्वयम् सर्वज्ञ बने बैठे हैं और जैन शास्त्रोंके रचयिता है। यह कितनी बड़ी गप्प है––विज्ञजन स्वयं समझें।

५ सिंधी जी पृष्ठ २२-२३ पर पुनः लिखते हैं:—

गताङ्क में मैंने यह वादा किया था कि अगले लेख में जैन शास्त्रों की भौगोलिक बातें, जिनमें पर्वत, समुद्र, नदी नगर आदि का बढ़ा बढ़ाकर कल्पनातीत वर्णन किया है बताने का प्रयास करूँगा। उसी वादे के अनुसार सर्व प्रथम पर्वतों को ही लीजिए। मेरु पर्वत ६६००० योजन यानी ३६६०००००० (उनचालीस कोटि साठ लाख) माइल ज़मीन से ऊँचा है और १००० योजन यानी ४०००००० माइल ज़मीन के अन्दर है और इसकी चौडाई १००० योजन यानी ४०००००० माइल की है जिसकी परिधि ३१६२३$\frac{3}{11}$ योजन यानी १२७६४१००० माइल करीब की है"।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि जैन शास्त्रों में कितना विज्ञान इस बिषय में भरा है। यह विज्ञान नहीं वस्तुतः महा अज्ञान है।

६ महाविदेह क्षेत्र की सीता और सीतोदा नाम की महा नदियों की लम्बाई तो दर किनार रखिये, केवल चौड़ाई ही पांच पांच सौ योजन यानी बीस बीस लाख माइल की बताई गई है।

इन बड़ी नदियों की बात तो जाने दीजिए, हमारे भारत क्षेत्र (जिसमें हम आबाद हैं) में बहने वाली गंगा नदी जो चुल्ल-हेमवन्त पर्वत के पद्मद्रह से निकल कर लवण समुद्र में जाकर गिरी है, पद्मद्रह के पास ६३/४ योजन यानी १२५०० कोस की चौड़ी है और लवण समुद्र के पास ६२१/२ योजन यानी १२५००० कोस चौड़ी है। इस गंगा नदी की लम्बाई जब हम अढ़ाई द्वीप के नकशे पर दृष्टि डाल कर देखते है तो मालूम होता है कि पद्मद्रह से मानुष्योत्तर पर्वत तक इसने करीब २५ अरब माइल लम्बा भूभाग घेर लिया है। यह है छोटी सी गंगा नदी जिसकी चौड़ाई १२५००० कोस और लम्बाई २५ अरब माइल की है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कितनी गप्पें जैन शास्त्रों ने मारी हैं। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता इससे समझ जावेंगे कि भूगोल के विषय में जैन शास्त्रों का जो खण्डन महर्षि ने किया है, वह सर्वथा संगत एवं उचित ही है। उसमें भूल दिखाना स्वयं की भूल है।

अब थोड़ा सा वर्णन खगोल का भी किया जाता है। इससे पता चल जावेगा कि गप्पाष्टक में जैनशास्त्र कितने आगे बढ़े हुए हैं। सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता जी जिसे जैनधर्म का विज्ञान कह रहे हैं वह कितना बड़ा मिथ्या ज्ञान वा भ्रान्तज्ञान है।

श्री सिंघी ने पृष्ठ २६-२९ तक इस प्रकार लिखा है:—

'जैन शास्त्रों में इस अनन्त आकाश के दो भाग कर दिये गए हैं। लोक आकाश और अलोक आकाश। इस लोक आकाश में असंख्य सूर्य और असंख्य चन्द्र हैं जिनमें अढ़ाई द्वीप तक जहां तक कि मनुष्यों की आबादी का सम्बन्ध है, १३२ सूर्य और १३२ चन्द्र बताये हैं। सर्व प्रथम हम सूर्य का ही वर्णन करेंगे। जैन शास्त्रों में जम्बूद्वीप में हमारे यहां पर दो सूर्य प्रकाश का काम करते बताये गए हैं जिनके बाबत मेरे लेखों में लिखा ही जा चुका है। हमारे यहाँ की वर्तमान स्थिति से स्पष्टतया एक ही

सूर्य का होना साबित हो रहा है। इसलिए दो सूर्य का बतलाना असत्य है। हमारे इस सूर्य को जैन शास्त्रों में पृथ्वी से ८०० योजन यानी ३२००००० (बत्तीस लाख) माइल ऊँचा बताया है। और यह भी बताया है कि सूर्य का एक गोलाकार विमान है जिसकी लम्बाई $\frac{४८}{६१}$ योजन यानी ३१४७$\frac{३२}{६१}$ माइल और चौड़ाई भी इतनी हो और मोटाई $\frac{२८}{६१}$ योजन यानी १८३६$\frac{४}{६१}$ माइल की है। इस विमान का नाम सूर्यावतंसक विमान है जिस को १६००० देव लर्वदा उठाये हुये आकाश में भ्रमण कर रहे हैं। इन १६००० देवों का रूप इस प्रकार बताया है कि ४००० देव पूर्व दिशा में सिंह का रूप किये हुये, ४००० देव दक्षिण दिशा में हाथी का रूप किये हुये, ४००० देव पश्चिम दिशा में वृषभ का रूप किये हुये और ४००० उत्तर दिशा में अश्व का रूप किये हुये हैं। सूर्यदेव के चार अग्रमहिषी यानी पटरानियाँ हैं, और एक एक पटरानी के चार चार हजार देवियों का परिवार है। इस प्रकार यह १६००४ देवियाँ हैं। सूर्यदेव की इन पटरानियों के नाम इस प्रकार बताये हैं-सूर्यप्रभा, अर्चिप्रभा, अर्चिमालिनी और प्रभंकरा इन १६००४ देवियों के साथ नाना प्रकार के भोगोपभोग भोगते हुये सूर्य देव विचरण कर रहे हैं। सूर्यदेव रात दिन भ्रमण कर रहे हैं और भ्रमण करने में ही सुख अनुभव कर रहे हैं।

इन शास्त्रों के अनुसार सूर्यदेव का हुलिया सुनिये। उनके मुकुट में सूर्यमण्डल का चिन्ह है और उनका वर्ण तप्त स्वर्ण जैसा दिव्य है। सूर्यदेव के ४००० सामन्तिक देव यानी भृत्य वर्ग सर्वदा सेवा में तत्पर रहते है और १६००० देव उनके आत्म रक्षक यानी (Body Guards) हैं सूर्यदेव की हाथी, घोड़ा, रथ, महिष, पैदल, गंधर्व, नित्यकारक यह सात अनिकायें हैं जिनकी संख्या ५८०००० से (अधिक) बतलाई गई है। सूर्य देव की सम्पत्ति चन्द्र को छोड़ कर ज्योतिषी देवों में सबसे अधिक है, अलबत्ता सूर्यदेव से चन्द्रदेव महा-सम्पत्तिशाली हैं। जैनशास्त्रों

में सूर्य-भ्रमण के १८४ मण्डल बताये गए हैं जिनमें जम्बूद्वीप में ६५ मण्डल की कल्पना की गई है। हमारी वर्तमान भूगोल सब इस जम्बूद्वीप में ही मानी जा रही है। इन १८४ मण्डलों पर भ्रमण करते हुये सूर्य द्वारा भिन्न भिन्न समय में होने वाले अहोरात्र (दिन रात) को भिन्न भिन्न प्रकार से बड़े छोटे बतलाये हैं परन्तु बड़े से बड़े दिन को १८ मुहूर्त्त यानी १४ घन्टे २४ मिनट तथा बड़ी से बड़ी रात्रि को १८ मुहूर्त्त यानी १४ घन्टे २४ मिनट और छोटे से छोटे दिन को १२ मुहूर्त्त यानी ९ घन्टे ३६ मिनट तथा छोटी से छोटी रात की १२ मुहूर्त्त यानी ९ घन्टे ३६ मिनट का होना बतलाया है, ऐसा किसी एक सूत्र में ही नहीं बल्कि सूर्य-प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति आदि अनेक सूत्रों में बताया गया है। जम्बूद्वीप में दिन और रात को इस प्रकार बड़े से बड़ा (उत्कृष्ट) १८ मुहूर्त्त यानी १४ घन्टे २४ मिनट बड़ा और छोटे से छोटा (जघन्य) १२ मुहूर्त्त यानी ९ घन्टा ३६ मिनट का बतलाना अच्छी तरह से यह साबित कर रहा है कि इन सर्वज्ञों के ब्रह्म ज्ञान की दौड़ हमारे भारत वर्ष के बाहर की नहीं थी। अगर इन्हें भारत से बाहर के दिन रात के बड़े छोटे पन का ज्ञान होता तो (दक्षिण और उत्तर ध्रुवों की तो बात ही छोडिये, जहाँ छह छह और तीन तीन महीने बड़े रात और दिन होते हैं) इङ्गलैण्ड की राजधानी लन्दन जिस जगह जून महीने में करीब २२२ मुहूर्त्त (१८ घन्टे का) बड़ा दिन और ७½ मुहूर्त्त (६ घन्टे की) रात तथा दिसम्बर में ७½ मुहूर्त्त का यानी ६ घन्टे का दिन और २२½ मुहूर्त्त यानी १८ घन्टे की रात होती है, के समय का तो वे सही लेखा बतलाते। एक घन्टे का १¼ मुहूर्त्त होता है।

यह है जैनशास्त्रों की खगोल विद्या। जैनशास्त्रों के वचन और लेख यदि सही हैं तो लन्दन के दिन-रात और जैनशास्त्रों में बताये दिन रात के विषय का ज़रा कोई समन्वय तो करके दिखाये

क्या लन्दन इस पृथ्वी पर नहीं है ? इसके अतिरिक्त सूर्यदेव के इन अंगरक्षकों, पटरानियों आदि की बात को ही कोई सिद्ध करके दिखाये। विज्ञान से आज भूगोल और खगोल की बातें स्पष्ट मालूम होती हैं। जैन शास्त्रों की इन बातों का कहीं पर भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

पुनः पृष्ठ ३८-४० पृष्ठों पर निम्न प्रकार का लेख है:—

"जैनशास्त्रों में जम्बूद्वीप के लिए सूर्य की तरह चन्द्रमा भी दो बतलाये हैं और उन्हें सूर्य की ही तरह भ्रमण करते हुये बताया है। प्रत्येक चन्द्र हमारी पृथ्वी से ८८० योजन यानी ३५२०००० माइल ऊपर है यानी सूर्य से ३२०००० माइल ऊपर की तरफ। और इनका गोलाकार विमान है जिसकी लम्बाई ५६/६१ योजन यानी १८३६ ४/६१ माइल की है। इस विमान का नाम चन्द्रावतंसक विमान है और इसको १६००० देवता उठाये आकाश में भ्रमण कर रहे हैं। इन १६००० देवों का रूप इस प्रकार बताया है कि ४००० देव पूर्व दिशा में सिंह का रूप किये हुये, ४००० देव दक्षिण दिशा में हाथी का रूप किये हुये, ४००० देव पश्चिम दिशा में बृषभ का रूप किये हुये, और ४००० देव उत्तर दिशा में अश्व का रूप किये हुये हैं। जीवाभिगम सूत्र में इन हाथी, घोड़ा सिंह और बैल वाले रूपों का जो रोचक वर्णन आया है, वह देखते ही बनता है। चन्द्रदेव के चार अग्रमहिषियां (पटरानियाँ) हैं और प्रत्येक पटरानी के चार हजार देवियों का परिवार है। इस प्रकार चन्द्रदेव के भी १६००४ देवियाँ हुई। चन्द्रदेव की चारों पटरानियों के नाम चन्द्रप्रभा, सुदर्शना (कहीं कहीं ज्योतिषप्रभा), अर्चिमाली और प्रभंकरा है। इन १६००४ देवियों के साथ नाना प्रकार के भोगोपभोग भोगते हुये चन्द्र देव आकाश में विचरण कर रहे हैं सूर्य और चन्द्रदेव के भोगोपभोग के सम्बन्ध में जीवाभिगम सूत्र में भगवान् से श्री गौतम स्वामी ने एक प्रश्न पूछा है जो कुतूहलवर्द्धक है। श्री गौतम स्वामी पूछते हैं कि हे भगवन्

सूर्यदेव और चन्द्रदेव अपने सूर्यावतंसक और चन्द्रावतंसक विमान की सुधर्मा सभा में क्या अपनी देवियों के साथ मैथुन सम्बन्धी भोग भोगने में समर्थ हैं तो उत्तर में भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! यह देव वहां मैथुन करने में समर्थ नहीं हैं, कारण इन विमानों में वज्र-रत्न -मय गोल डब्बों में बहुत से जिनेश्वर देवों (जो मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं) की अस्थि, दाढ़ वगैरह रखे हुये रहते हैं और वे अस्थि, दाढ़ें वगैरह देवों के लिए पूजनीय अर्चनीय और सेवा करने योग्य हैं। इसलिए वहाँ पर और तरह के भोगोपभोग भोग सकते हैं परन्तु मैथुन नहीं कर सकते।

यह कैसी कपोल-कल्पना है। यह खगोल है या कुछ और। इसको सत्यार्थदर्पण के लेखक जी बतायें।

पुन: पृष्ठ ५८--५६ पर श्री सिंघीं ने लिखा है--

"उपग्रह का तो जैनशास्त्रों में कहीं नाम भी नजर नहीं आता, कारण दूरदर्शक यंत्रों के अभाव में ग्रहों के चौगिर्द घूमने वाले पिण्ड उन्हें कैसे दिखाई पड़ें और विना दिखाई पड़े नाम दें भी कैसे ?। जैनशास्त्रों में ८८ ग्रह बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं।

(१) अङ्गारक (मंगल), २ विग्रालक, ३ लोहितास, ४ शनैश्चर, ५ आधुनिक, ६ प्राधुनिक, ७ कण, ८ कणक, ६ कणकणक, १० कणवितानक, ११ कणसंतानिक १२ सोम, १३ सहित १४ अश्वासन, १५ कार्योपग, १६ केच्छुरक, १७ अजकरक, १८ दुंदभक १६ शंख, २० शंखनाभ, २१ शखवर्णभ, २२ कंश, २३ कंशनम, २४ कंशवर्णभ, २५ नील २६ नीलाभास, २७ रूप २८ रूपावभास २६ भस्म, ३० भस्मराशि, ३१ तिल, ३२ तिलपुष्पवर्ण ३३ दक, ३४ दकवर्ण, ३५ काय, ३६ वंध्य, ३७ इन्द्राग्नि, ३८ धूमकेतु, ३६ हरि, ४० पिंगलक, ४१ बुध, ४२ शुक, ४३ वृहस्पति, ४४ राहु, ४५ अगस्तिक, ४६ माणवक, ४७ कामस्पर्श, ४८ धूहक, ४६ प्रमुख, ५० विकट, ५१ विसंधिकल्प, ५२ प्रकल्प, ५३ जटाल,

५४ अरुण, ५५ अगिल, ५६ काल, ५७ महाकाल, ५८ स्वास्तिक, ५९ सौवस्तिक, ६० वर्धमानक, ६१ प्रलम्ब, ६२ नित्य लोक ६३ नित्योद्योत, ६४ स्वयंप्रभ, ६५ अवभास, ६६ श्रेयस्कर ६७ क्षेमकर, ६८ आभंकर, ६९ प्रभंकर ७० अरजा ७१ विरजा ७२ अशोक, ७३ वीतशोक, ७४ विमल, ७५ वितप्त, ७६ विवत्स ७७ विशाल, ७८ शाल, ७९ सुवृत्त, ८० अनिवृत्ति, ८१ एकजटि, ८२ द्विजटि, ८३ कर, ८४ करिक, ८५ राजा, ८६ अर्गल, ८७ पुष्पकेतु, और ८८ भावकेतु !

वर्तमान भारतीय ज्योतिष में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, और केतु, यह ग्रह माने हैं। यह देखने में आता है कि सनातन धर्म के ग्रन्थों में किसी वस्तु की संख्या यदि १० हजार बताई है तो बड़प्पन जताने के लिए जैनशास्त्रों में उसी को बढ़ाकर बढ़ा ५०--६० हजार बतलाने का प्रयास किया है। यह इस वर्णन से सुतराम् सिद्ध है कि जैनशास्त्रों की भूगोल विद्या किस प्रकार की है और वह कितनी मिथ्याज्ञान से भरी है।

श्री सिंघी पृष्ठ ६२-६३ पर पुनः एक यिशेष बात का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं--"ज्योतिषी देवों की संख्या के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं जितने सूर्य हैं उतने ही चन्द्रमा हैं, चन्द्रमा से नक्षत्र संख्यात गुण अधिक, नक्षत्रों से ग्रह संख्यात गुण अधिक और ग्रहों से तारे संख्यात गुण अधिक हैं। इस प्रकार के अनेक प्रश्न हैं। जैनशास्त्रों में कुछ ग्रहों की समभूमि से ऊँजाई के बाबत जो विशेष वर्णन है वह इस प्रकार है।

बुध समभूमि से ८८८ योजन यानी ३५५२००० माइल, शुक्र सम भूमि से ८९१ योजन यानी ३५६००० माइल बृहस्पति सम भूमि से, ८९४ योजन यानी ३५८८००० माइल, मंगल समभूमि से ८९७ योजन यानी ३५८८००० माइल, शनि समभूमि से ९७० योजन यानी ३६००००० माइल।

राहु को चन्द्रमा के विमान से चार अंगुल नीचा यानी ८८० योजन (३५२०००० मील) से चार अङ्गुल नीचा बतलाया है। यह हुआ जैनशास्त्रों में ग्रहों के विषय का कुछ वर्णन।"

वर्तमान विज्ञान से इस वर्णन का कितना मेल है--यह तो जैनधर्मी भाई ही बतावें। और अच्छा होता कि सत्यार्थदर्पण के कर्त्ता ने बताया होता।

यहाँ पर भूगोलआदि से सम्बद्ध ज्वारभाटे का भी थोड़ा सा वर्णन करना अपेक्षित मालूम पड़ता है। इससे भी जैनशास्त्रों की कलई खुल जावेगी।

श्री सिंघी जी पृष्ठ १४५-१४६ पर निम्न प्रकार लिखते हैं।--

"ज्वार-भाटे के विषय में भगवान् महावीर प्रभु से श्री गौतम स्वमी ने पूछा कि अहो भगवन्! लवण समुद्र क्यों बढ़ता है और क्यों कम होता है? भगवान् ने उत्तर दिया कि गौतम! जम्बूद्वीप के चारों तरफ लवण समुद्र ९५-९५ हजार योजन जावें तब वलयमुख, केतु मुख, युत्र, और ईश्वर नामक कुँभ के आकार के ४ पाताल कलश चारों दिशावों में हैं। प्रत्येक पाताल कलश एक लाख योजन की ऊंचाई वाला है जो जल में डूबा हुआ है। मूल में दस हजार योजन चौड़ा, मध्य में एक लाख योजन चौड़ा और ऊपर दश हजार योजन चौड़ा है। इन की ठीकरी सर्वत्र एक हजार योजन मोटाई की है। इन पाताल कलशों के तीन तीन भाग करने पर एक एक भाग ३३३ ३३$\frac{1}{3}$ का होता है। नीचे के भाग में वायु, बीच के भाग में वायु और जल एक साथ और ऊपर के भाग में निकेवल जल है। चारों दिशावों के इन चार पाताल कलशों के अलावा इनके बीच में ९-९ पंक्तियाँ छोटे पाताल कलशों की है। प्रत्येक बड़े पाताल कलश के पास १९७१ छोटे पाताल कलश ९ पंक्तियो में लगे हुये हैं। सब मिलाकर ४ बड़े और ७८८४ छोटे पाताल कलश हैं। प्रत्येक छोटे पाताल कलश का माप इस प्रकार है--एक हजार योजन लम्बा, पानी में डूबा हुआ है।

मूल में १०० योजन चौड़ा मध्यमें १००० योजन चौड़ा और मुखपर १०० योजन चौड़ा है। उन की ठीकरी १० योजन मोटाई की है। तीन भाग करने पर इन का प्रत्येक भाग ३३३⅓ योजन का होता है जिस में नीचे के भाग में वायु, बीच के भाग में वायु और जल एक साथ और ऊपर के भाग में केवल जल है। इन सब पाताल कलशों में नीचे के और बीच के भाग में ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाली वायु उत्पन्न होती है, हिलती है, चलती है, कम्पित होती है, क्षुब्ध होती है और परस्पर संघर्ष होता है तब पानी ऊपर उछलता है और बढ़ता है। जब नीचे और बीच के भाग में ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाली वायु शान्त हो जाती है, तब पानी नीचा हो जाता है। इस तरह अहोरात्र में यानी ३० मुहूर्त्त में दो वक्त वायु उत्पन्न होती है, तब ज्वार होता है और दो ही वक्त भाटा होता है। यह जैन शास्त्रों में ज्वार भाटे का कारण हैं। यह पाताल कलश शाश्वत हैं इस लिए इनके योजनों को २००० कोस के एक योजन के हिसाब से समझना चाहिए।"

यह तो जैन शास्त्रों की लाल बुझक्कड़पने की बात है। अब इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक विचार रखा जाता है जिससे इस जैन शास्त्र की कपोल-कल्पना का अपने आप खण्डन हो जावेगा। सिंघी जी के पृष्ठ १४६-१४६ पर लिखे विचारों को ही यहां पर उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। वे इस प्रकार हैं--

"ज्वार भाटे के विषय में वर्तमान अन्वेषणों से जो प्रमाणित हुआ है, वह इस प्रकार है। समुद्र के जल तल के ऊपर उठने को ज्वार और नीचे बैठने को भाटा कहते हैं। प्रत्येक २४ घण्टे ५२ मिनट में दो दो बार समुद्र का जल-तल ऊपर उठता है और दो बार नीचे बैठ जाता है। एक ही समय पर सब स्थानों में ज्वार और भाटा नहीं आता--भिन्न भिन्न स्थानों पर ज्वार और भाटे का समय भिन्न भिन्न होता है परन्तु प्रत्येक स्थान पर ज्वार और भाटे के आने का समय पूर्व निश्चित होता हैं। उसमें अन्तर नहीं पड़ता।

ज्वार की लहरें क्रमानुसार पृथ्वी के सब जलमय स्थानों पर पहुँचती हैं और इसप्रकार ज्वार-भाटे का चक्र पृथ्वी की परिक्रमा सी करता रहता है इस चक्र का कभी अन्त नहीं होता। ज्वार भाटे का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों तरफ २२८७ मील प्रति घण्टे की गति से परिक्रमा करता है। ज्वार भाटे की उत्पत्ति पृथ्वी और चन्द्रमा की पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण शक्ति से होती है। यह आकर्षण शक्ति पदार्थों के द्रव्य की मात्रा के अनुपात में बढ़ती है और उनके बीच की दूरी के वर्ग के अनुपात में कम होती है। पृथ्वी का अधिकांश भाग जलमग्न है। पृथ्वी पर जल का एक प्रकार आवरण सा चढ़ा हुआ है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण जल का आवरण पृथ्वी पर बंधा सा है, परन्तु चन्द्रमा का आकर्ष उसको अपनी तरफ खींचता है। परिणाम यह होता है कि चन्द्रमा के ठीक सामने पड़ने वाले प्रदेश में जहां इसका खिंचाव सब से अधिक होता है वहां का जल चन्द्रमा की तरफ खिंचता है और आस पास के जल तल से ऊंचा हो जाता है।

चन्द्रमा प्रति २४ घण्टे ५२ मिनट में पृथ्वी की परिक्रमा करता है अर्थात् जो स्थान आज ७ बजे चन्द्रमा के सामने पड़ेगा वह कल ७ बज कर ५२ मिनट पर फिर चन्द्रमा के सामने पड़ेगा। ज्वार आने के ठीक ६ घण्टे १३ मिनट पश्चात् भाटा आता है। ज्वार दो तरह का होता है—बृहत् ज्वार (Spring tide) और लघुज्वार (Neap tide)। चन्द्रमा की आकर्षणशक्ति के अलावा पृथ्वी पर सूर्य की गुरुत्वाकर्षणशक्ति का भी प्रभाव पड़ता है। ज्वार भाटे में प्रायः चन्द्रमा की आकर्षणशक्ति ही प्रधान रहती है परन्तु सूर्य का प्रभाव भी पड़ता है। जिन दिनों में सूर्य और चन्द्रमा दोनों पृथ्वी की एक ही दिशा में होते हैं, उन दिनों में दोनों की आकर्षण-शक्तियों का संयुक्त प्रभाव पड़ता है। फल स्वरूप ज्वार का वेग अधिक हो जाता है और समुद्र का जल अधिक ऊंचा उठता है। यही कारण है कि पूर्णिमा और अमावस्या के दिनों में ऊंचा या बृहत् ज्वार

(Spring tide) होता है। इसके विपरीत शुक्ल और कृष्ण अष्टमी को सबसे नीचा या लघु ज्वार (Neap tide) होता है। इन दिनों सूर्य और चन्द्रमा समकोण की स्थिति में होते हैं और दोनों की आकर्षण शक्तियां एक दूसरे के विरुद्ध काम करती हैं। गणना से यह अनुमान हुआ है कि चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति जल को अपनी तरफ ५६ सेण्टीमीटर खींचती है और सूर्य की आकर्षण शक्ति २५ सेण्टीमीटर, कारण सूर्य बहुत दूर है। इस प्रकार बृहत् ज्वार के दिनों में ५६+२५=८१ सेण्टीमीटर का खिचाव होता है। परन्तु नीचे लघु-ज्वार के दिनों में ५६--२५=३१ सेण्टीमीटर का खिचाव रह जाता है। ज्वार भाटे की ऊँचाई-नीचाई अधिकतर समुद्र तट की बनावट और पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य की स्थितियों के ऊपर निर्भर करती है।

संसार में सबसे ऊँचा ज्वार अमेरिका के तट पर नोवास्कोशिया में फण्डी की खाड़ी (Bay of Fundy) में आता है। यहां पर ज्वार की लहरें लगभग ७० फीट ऊँची हो जाती हैं। जल की गहराई और स्थल की दूरी का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। जहां जल बहुत अधिक गहरा होता है वहां ज्वार की लहरें बड़ी तेजी से आगे बढ़ती हैं-- जैसे एटलाण्टिक महासागर की विषुवत् रेखा के समीपवाले स्थानों में ज्वार की वाढ़ ५०० मील प्रति घण्टे के हिसाब से आगे बढ़ती है। पृथ्वी अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की तरफ घूमती है, इस लिए चन्द्रमा पूर्व से पश्चिम की तरफ चलता मालूम होता है। जहां जल की अधिकता है, वहाँ चन्द्रमा का खिचाव अधिक प्रत्यक्ष मालूम होता है। यही कारण है कि दक्षिणी गोलार्द्ध के उस जल खण्ड में जहां केवल आस्ट्रेलिया ही विशाल स्थल है, चन्द्रमा का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है और जल का वेग पूर्व से पश्चिम की तरफ बहता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जब ज्वार किसी नदी की धारा से टकराता है तो नदी के ऊपर जल की धार उलटी बढ़ती है। इसकी ऊँचाई कभी कभी बहुत अधिक हो जाती है। ज्वार के वेग से चढ़ा

हुआ जल नदी के प्रभाव के कारण ऊपर चढ़ने से रुक जाता है और एक प्रकार से जल की दीवार सी खड़ी हो जाती है। पानी की इसी ऊंची दीवार को 'बाण' (Tidal Bore) कहते है।"

ज्वार भाटे का जिनको प्रत्यक्ष अनुभव है वे अनुमान कर सकते हैं कि इस विषय की जैनशास्त्रों में की हुई बुझौवल कहां तक सत्य है। पृथ्वी और चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण का पता न होने से जैन सर्वज्ञों आदि द्वारा इस समस्या का उत्तर देने में पूरे लाल-बुझक्कड़-पने का परिचय दिया है। सत्यार्थ-दर्पण के कर्ता जी देखें कि यह उन की भूगोल-विद्या और खगोल-विद्या किस प्रकार की अविद्या है। महर्षि दयानन्द ने जैनियों के भूगोल का जो खण्डन किया वह सर्वथा उचित है। विद्वज्जन एवं पाठक इस औचित्य को स्वयं उपर्युक्त आधारों से निश्चित कर सकते हैं।

इस प्रकार यह सत्यार्थ-दर्पण और ईश्वर मीमांसा की युक्तियों का उत्तर दिया गया।

। इति ।

